साहित्यिक का अभिनन्दन

[एक यज्ञ]

हिन्दी जगत् की गतिविधि से जो परिचित हैं, उन्हें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि आज शुद्ध साहित्य सेवियों और कोरमकोर राजनीतिज्ञों के बीच में एक खाई सी बन गई है, जो निरतर चौडी होती जारही है। इसमें किसका कितना दोष है, यह प्रश्न अलग ही है और उस पर विचार करने का अवसर यहाँ नहीं है। पर देश के और हिदी ससार के सौभाग्य से कुछ ऐसे व्यक्ति हमारे बीच में विद्यमान हैं, जो इस खाई को कुछ अशों में पाट सकते हैं और निस्संदेह श्री सम्पूर्णानन्द जी उनमें अग्रगण्य हैं। उनका अभिनदन करते हुए हिंदी साहित्य सेवी यह अनुभव कर सकते हैं कि हमारे ही एक बधु का सम्मान हो रहा है और हमारे समाज के गौरव की वृद्धि भी। नागरी प्रचारिणी सभा काशी और हिन्दी भवन कालपी, इन दो प्रतिष्ठित हदी संस्थाओं द्वारा श्री सम्पूर्णानन्द जी के अभिनंदन ग्रथ की योजना होना जहा सम्पूर्णानन्द जी की लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है, वहाँ इस बात का भी सूचक है कि हिंदी जगत् में गुण ग्राहकता की भावना प्रबल मात्रा में मौजूद है। इस भावना का सदुपयोग साहित्य क्षेत्र के लिए किस प्रकार किया जाय, आज यह प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित है।

इस प्रकार के अभिनदन-उत्सव हिंदी क्षेत्र के लिए सर्वोत्तम वरदान सिद्ध हो सकते हैं, यदि उनके पीछे एक निश्चित कार्यक्रम हो। सम्भवत, सबसे प्रथम स्वर्गीय रामानंद चट्टोपाध्याय और डाक्टर कालिदास नाग द्वारा कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अभिनन्दन की योजना की गई थी और तत्पश्चात् इस यज्ञ प्रणाली को बन्धुवर शिवपूजन सहाय जी ने हिदी जगत् में अग्रसर किया। द्विवेदी अभिनन्दन ग्रथ उन्हीं की कल्पना थी। उक्त दोनों ग्रन्थों में एक ही परिपाटी का आश्रय लिया गया था, यानी प्रत्येक लेखक और कलाकार ने उन शुभ अवसरा पर अपनी अपनी सर्वोत्तम रचना भेंट स्वरूप उन श्रद्धेय महानुभावों को अर्पित की थी। तत्पश्चात् अन्य अभिनंदन ग्रथों का प्रकाशन हुआ। श्रीमान् मास्टर साहब रामलोचन शरण जी को भेंट किया गया अभिनदन ग्रथ बिहार प्रात का श्रेष्ठ सदर्भ ग्रथ (Reference Book) ही बन गया। प्रेमी अभिनदन ग्रंथ की प्रेरणा हमें उसी ग्रथ से मिली। प्रेमी-ग्रथ में बुन्देलखण्ड जनपद के लिये एक अलग विभाग ही रक्खा गया था और उसमें भावी अभिनंदन ग्रथों के लिये एक सक्षिप्त योजना भी प्रकाशित की गई थी। क्या ही अच्छा होता यदि हम इस अभिनदन ग्रथ में सम्पूर्णानन्द जी के जनपद कौशल तथा हिंदी भवन के जनपद बुन्देलखण्ड का विस्तृत परिचय दे सकते। फिर भी हम इस यज्ञ को—इन दोना जनपदों के इस सम्मेलन को—गगा यमुना के संगम की तरह पवित्र मानते हैं। कालपी के तट के निकट बहने वाली बडी बहन यमुना ने मानों अपनी छोटी बहन शीतल वाहिनी ग गा को इस ग्रन्थ के रूप में यह प्रेम पुष्प अर्पित किया है।

इस प्रेम पुष्प की भिन्न भिन्न पंखुडियों के निर्माण में जिन जिन साहित्य साधकों ने सहायता दी है उनको इस अवसर पर हार्दिक धन्यवाद देना हमारा प्रथम कर्तव्य है। उनमें से अधिकाश अपने अपने विषय

के विशेषज्ञ हैं और उन्होंने हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके हमें तथा हिन्दी भवन को चिरकाल के लिए अपना ऋणी और कृतज्ञ बना लिया है। इस प्रकार के ग्रंथों में लेखक परिचय देने की जो प्रथा चल पड़ी है, उसे हम इस ग्रन्थ के लिए सर्वथा अनावश्यक ही मानते हैं।

विश्वविख्यात पत्रकार आचार्य सेण्ट निहालसिंह का परिचय देना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है।

श्रद्धेय सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी की कृपा तो हम पर बत्तीस वर्ष से रही है और हमारे प्रत्येक यज्ञ में उनका आशीर्वाद सदैव सुलभ रहता है।

और क्या कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त का परिचय देने की जरूरत है, जो समस्त भारत के लिये गौरव हैं और हम बुन्देलखंडियों के लिए आदरणीय 'दद्दा'? और श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा से कौन हिन्दी पाठक अपरिचित है? इस प्रांत में उन्हें 'बड़े भैया' की प्रेमपूर्ण उपाधि मिली हुई है जो 'उपन्यास सम्राट' से कहीं ऊँची है। सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री मूलचन्द्र अग्रवाल से तो हिंदी जगत परिचित ही है वे अपने ही बुन्देलखंड के हैं और हिंदी भवन के तो संरक्षक हैं।

तो फिर क्या जनपदीय कार्यक्रम के प्रवर्तक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का परिचय कराया जाय? वे तो अपनी धुन और लगन के लिए सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में सुप्रसिद्ध हो चुके हैं! प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ का सम्पूर्ण कार्य उन्हीं की देखरेख में बन्धुवर यशपाल जी की सहायता से हुआ था और पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ उन्हीं के सम्पादकत्व में निकल रहा है।

इसी प्रकार आचार्य क्षितिमोहन सेन, कलाविद् श्री एन० सी० मेहता, श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, पुरातत्वविद् श्री मोतीचंद जी, श्री वासुदेव जी उपाध्याय, श्री व्योहार राजेंद्रसिंह जी और श्री जगदीशचंद्र जी जैन, शिक्षा विशेषज्ञ श्री कालिदास कपूर तथा श्री कालूलाल जी श्रीमाली, प्रगतिशील क्रांतिकारी लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त और राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा में निरंतर रत श्री प्रभाकर जी माचवे प्रभृति सज्जनों ने इस यज्ञ के लिए अपनी सुविचारपूर्ण रचनायें भेज कर हमारे ऊपर जो कृपा की है, उसे हम कैसे भूल सकते हैं? और कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिन्हें धन्यवाद देना मानों अपनी ही पीठ ठोंकना है। उदाहरणार्थ बंधुवर गौरीशंकर जी द्विवेदी, जिन्होंने इस ग्रंथ के सहायक सम्पादक के रूप में पर्याप्त परिश्रम किया है, हिंदी भवन का जिनसे बहुत पुराना सम्बंध है और जिन्हें उनके आलोचक 'बुंदेलखंडी कठमुल्ले' के नाम से पुकारते हैं। उनके जनपद प्रेम का यह सर्वोत्तम प्रमाण पत्र है। यदि अपने अपने जनपदों से ऐसा उत्कट प्रेम रखने वाले दो चार व्यक्ति भी प्रत्येक जनपद में होते! और बंधुवर बेनीपुरी जी को (जो बीस पचीस वर्ष से हम पर कृपा करते रहे हैं और जो इस समय हिंदी जगत् में सर्वोत्कृष्ट रेखाचित्र प्रस्तुत कर रहे हैं) धन्यवाद देकर कौन शामत मोल ले? उनका साहित्य उनकी राजनीति से कहीं ऊँचा उठ जाता है। और दिनकर जी? यद्यपि भारतीय काव्य-कला उनसे आज प्रकाशित है तथापि उनकी प्रारम्भिक किरणें 'विशालभारत' को ही मिली थीं।

आदरणीय बहन श्रीमती सत्यवती मल्लिक का लेख मानों गद्यकाव्य है। भारत के लिये काश्मीर की वे एक उत्तम देन हैं और उनका सांस्कृतिक कुटुम्ब राजधानी (दिल्ली) में हिंदी भाषा भाषियों के लिये खास महत्व रखता है।

साथी भगवानदास जी माहौर शहीद चंद्रशेखर आज़ाद के पुराने सहयोगियों में रहे हैं और उस दल के सर्वोत्तम निशानेबाज़ माने जाते थे। अस्त्र और लेखनी दोनों का विधिवत् प्रयोग करने वालों में उनकी

गणना हो सकती है, यद्यपि पहली चीज़ वे छोड़ चुके हैं। वे भारतीय इतिहास के, उस अध्याय के विशेषज्ञ हैं, जिसे कृतघ्न संसार आज उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है।

और सत्येंद्र जी तो ब्रज की विभूति हैं—ठेठ ग्रामीण में जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसपर उनका विशेष अधिकार है। प्राइवेट तौर पर यह बतला देना ज़रूरी है कि 'घासलेट' शब्द के असली पिता वे ही हैं।

और भाई कालिदास जी कपूर ने शायद सबसे अधिक समय इस ग्रंथ के लिये दिया है—पूरा एक महीना, पर यह जानकर हमें संतोष हुआ कि वे सम्पूर्णानन्द जी के सतीर्थ हैं—प्रयाग के ट्रेनिंग कालेज में उनसे एक साल जूनियर थे और इस कारण सम्पूर्णानन्द जी का उन पर विशेष अधिकार भी है।

एक अन्य व्यक्ति और हैं जिन पर सम्पूर्णानन्द जी को तथा हमें भी, दोनों को गौरव है—यानी कर्नल सज्जनसिंह, जो राजकुमार कालेज इंदौर में हमारे शिष्य थे और जिनसे गुरुदक्षिणा में यह एक लेख ही नहीं, हमें दो ग्रंथ भी शीघ्र ही मिलेंगे—लदाख यात्रा और रेखाचित्र। 'विनोद' जी घर के आदमी हैं। साहित्य-साधना उनके लिये एक तप है—भावी समाज के निर्माण का एक साधन। 'रावी' जी आज भले ही कहानी लेखक के रूप में विख्यात हों पर कल उन्हें हिंदी जगत् विचारक के रूप में पावेगा।

श्री सुधींद्र जी वर्मा के भी हम कृतज्ञ हैं, क्योंकि उन्होंने छेड़छाड़ करके आचार्य श्री नंदलाल बसु से आलोचना प्राप्त करली। स्थानाभाव से जिन अन्य लेखकों का शुभनामोल्लेख यहाँ नहीं किया जारहा है उससे यह अभिप्राय नहीं कि उनकी रचनाएँ किसी भी प्रकार कम महत्व रखती हैं। बल्कि अब हमारा तो यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि प्रसिद्ध लेखकों तथा कवियों की अपेक्षा अप्रसिद्ध व्यक्ति ही श्रद्धा तथा अभिनंदन के अधिक उपयुक्त पात्र हैं।

भविष्य के अभिनन्दन ग्रन्थ

जनता में सुप्रसिद्ध नेताओं तथा लेखकों के प्रति जो श्रद्धा विद्यमान है, उस श्रद्धा रूपी महान सरोवर से सम्पूर्ण साहित्य क्षेत्र को सींचा जा सकता है। आवश्यकता है भगीरथ परिश्रम करने वाले दूरदर्शी इंजीनियरों की। उदाहरण के लिये यदि सरदार पटेल के अभिनंदनार्थ ऐसा ग्रंथ तैयार किया जावे, जिसमें रियासती दुनियाँ के छोटे बड़े सभी कार्यकर्ताओं का परिचय हो, तो उससे देश के एक बड़े भाग में उत्साह की लहर फैल सकती है। और क्या हम 'शहीद स्मृति ग्रंथ' तैयार नहीं कर सकते ? आज के युग में, जबकि पद और प्रतिष्ठा के लिये आपस में इतना कलह हो रहा है, क्या इस प्रकार का ग्रंथ प्रेरणाप्रद तथा पथप्रदर्शक न होगा ? और साहित्य सेवियों को दिये हुये अभिनंदन ग्रंथों में प्राचीन साहित्य सेवकों की कीर्ति रक्षा का प्रयत्न विशेष रूप से होना चाहिये। इस प्रकार जहाँ हम अपने अग्रजों का सम्मान करेंगे, पूर्वजों का श्राद्ध भी साथ ही साथ होता जायगा। इस प्रकार ये अभिनंदन ग्रन्थ हमारे ऋण परिशोध का साधन बनाए जा सकते हैं। अभी दो महत्वपूर्ण अभिनंदन ग्रंथ भविष्य के गर्भ में हैं—हिमालय अभिनंदन ग्रन्थ और विन्ध्य अभिनंदन ग्रंथ। वे कल्पनाशील यजमानों, विद्वान होताओं तथा परिश्रमी संयोजकों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम ऐसे अभिनंदन ग्रन्थों के देखने के लिए उत्सुक हैं, जिनमें मानव का ही नहीं पशु पक्षी, नदी, सरोवर, वृक्ष और वन इत्यादि का भी अभिनंदन किया गया हो और जिनमें छुटभइयों को भी उतना ही सम्मान दिया गया हो जितना विशांपतियों को। जिनको कीर्ति पद प्रतिष्ठा इत्यादि मिल चुके हैं केवल उन्हीं का अभिनन्दन करना बिल्कुल ऐसा ही है जैसे चौबों को मिठाई खिलाना, जिसका कोई पुण्य नहीं। [कुछ अपवादों को छोड़ कर !!]

यह यज्ञ सर्वथा अधूरा ही रहता यदि इसमें पं० मंगलदेव शर्मा के पिता स्व० पं० ब्रजभूषण जी तथा बन्धुवर मूलचंद्र जी अग्रवाल के गुरु स्व० पं० शुकदेवप्रसाद जी पांडे के रेखाचित्र न होते। ये ग्रामीण अध्यापक ही शिक्षा भवन की नींव के पत्थर हैं।

हिन्दी भवन के विषय में भी दो शब्द

नागरी प्रचारिणी सभा काशी, नागरी प्रचारिणी सभा आगरा, मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर, नागरी प्रचारिणी सभा आरा और ब्रज साहित्य मंडल मथुरा को हम सावधान करते हैं कि साहित्य सेवा की इस दौड़ में उन्हें एक ज़बरदस्त प्रतिद्वन्दी मिल गया है। और वह दिन दूर नहीं है जबकि इस प्रेमपूर्ण प्रतिस्पर्धा में उसका नम्बर प्रथम नहीं तो द्वितीय तो आ ही सकता है। कालरी का हिंदी भवन जिन आदर्शवादी युवकों को उत्कट साधना का जीता जागता उदाहरण है, उनके सम्मुख अभी चालीस चालीस वर्ष कार्य करने के लिए पड़े हुए हैं और यदि वे अपनी वर्तमान धुन और लगन से काम करते रहे तो निकट भविष्य में सम्पूर्ण हिंदी-जगत् में अपनी संस्था के लिए एक विशेष आदरणीय स्थान बना लेंगे।

आवश्यकता इस बात की है कि वे एक के बाद दूसरा यज्ञ प्रारम्भ करते रहें। 'गणेश-स्मृति ग्रंथ' उनका भावी यज्ञ होना चाहिए और हमें विश्वास है कि वह इससे भी अधिक सफल होगा। स्व० कृष्णबल्देव वर्मा तथा स्व० ब्रजमोहन वर्मा के निबंधों का संग्रह तो आज से कई वर्ष पूर्व हो जाना चाहिए था।

श्री सम्पूर्णानन्द जी हिंदी भवन के संरक्षक हैं। वे शतायु हों और उनकी संरक्षकता में उनका और हमारा यह हिंदी भवन निरंतर उन्नति करता रहे, यही हमारी कामना है।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

श्री सम्पूर्णानन्द जी

विषय सूची

चित्र-सूची

हिन्दी भवन ट्रस्ट, कालपी

श्री सम्पूर्णानन्द जी के गुरुदेव जी

भाग १

प्राचीन भारत

गौ रूपी शतधार झरना—

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

वेदों में भूमि पर आश्रित जीवन की जो कल्पनाएँ हैं उनमें सम्भवत: सबसे अधिक सुन्दर, सत्य, सरस और उपयोगी यह है—

साहस्रो वा एष शतधार उत्सो यद् गौः

(शतपथ ७।५।२।३४)

'सहस्र गुना महान्, सौ धाराओं वाला यह झरना है जो गौ है।' सचमुच इस देश की भूमि में प्रकृति ने गौ के रूप में सैकड़ों धाराओं वाला बड़ा झरना ही खोल दिया है। यह झरना साहस्र है। वेद की भाषा में जो अपरिमित होता है, जिसकी इयत्ता नहीं, जो महान् से महान् है, उसे साहस्र कहते हैं। यह विशेषण स्वयं सृष्टिकर्त्ता के लिये आता है। उसी का कवि ने गौ के लिये प्रयोग किया है। गौ रूपी झरना साहस्र क्यों है? इसलिये कि वह कभी छीजता नहीं। और झरनों में जल घटता बढ़ता है, वे परिमित हैं जैसे प्राकृतिक कारणों से बन गए हैं वैसे चलते रहते हैं। पर गौ का झरना कितना बढ़ सकता है इसकी हद नहीं है। पहाड़ी झरने और जल धाराएं एकदेशीय हैं, जहां हैं वहीं उनका उपयोग है। पर गौ का झरना सारे देश में, गांव-गांव में, घर-घर में, खूंटे-खूंटे पर इच्छानुसार बाँधा जा सकता है। जिसके ऊपर चाहो इस झरने की दूधिया धार छोड़ दो, जिस घर को चाहो इस विशाल झरने से भर दो। शतपथ ब्राह्मण ने गौ की जो परिभाषा ऊपर बाँधी है उसका मूल यजुर्वेद में है, जहां कहा है—

१. यह झरना सौ धाराओं वाला है;

२. यह झरना सहस्र गुणित (साहस्र) है;

३. यह झरना जल के बीच में से झर कर उसे दूध बना रहा है;

४. यह झरना अदिति रूप है, अनन्त प्रकृति का अपना रूप है।

५. इस झरने से जनता के लिये घी दुहा जाता है।

६. हे बुद्धियुक्त प्राणी, तुम्हारे जीवन के जो ऊँचे स्रोत हैं, वहां तक पहुंचो और इस झरने की हिंसा मत होने दो।[१]

गौ के चार थनों में मानों चार समुद्र ही समा गए हैं। उसकी दुग्धधारिणी धार एक होते हुए भी सौ गुनी है। उसी से दूध, दही, साढ़ी, मट्ठा, नौनी, घी, खोया, छाछ, लस्सी, पनीर, क्या नहीं होता? गौ की

---

१ इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ यजु० १३।४९

संख्या वृद्धि ज्यामिति वर्ग की तरह दुगने, चौगने, सोलहगुने प्रमाण से बढ़ती है। अतएव वह सचमुच सहस्र-गुणित या अपरिमित है। पानी को दूध बनाने की शक्ति गौ के झरने में ही है। धरती पर मेघों ने जो घास तिनके उपजाए हैं उन्हें खा कर गौ इस दूध के झरने को उत्पन्न करती है। जनों के लिये घी की धार के फव्वारे इसी स्रोत से छूटते हैं।

भारत की स्वराज्यमयी भूमि पर आज क्या चाहिए?

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।

(अथर्व ६।४।२०)

'गौएं चाहिए और शरीर-बल से बलिष्ठ प्रजाएं चाहिए।' आज इस भूमि पर नित्य बछड़ा चुखाने वाली, दुहने में सहेज गौएं चाहिए—

अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां

(अथर्व० ६।४।२१)

गौ और हमारे जनपद जन का सम्बन्ध बहुत पुराना है। गौ के रूप, रंग, स्वभाव और शरीर-गठन का सूक्ष्म अध्ययन यहां किया गया। हमारी बोलियाँ उनका वर्णन करने वाले शब्दों से भरी हुई हैं। अनेक शब्द संस्कृत से निकले हैं, कुछ ठेठ बोलियों में जन्मे हैं। अथर्व वेद का नित्य वत्सा शब्द ऊपर आया है। नित्य-वत्सा वह गाय है जो सदा बछड़े वाली रहे, जो एक ब्यांत से लेकर दूसरे ब्यांत तक बराबर दूध देती रहे, जिसके नीचे बछड़ा हमेशा चौंखता रहे। पाणिनि ने ऐसी गाय को महागृष्टि कहा है (६।२।३)। पहली बार ब्याई हुई पहलवन गाय गृष्टि हुई। वह यदि दूसरी ब्यांत तक बराबर दूध देती चली जाय तो उसे महागृष्टि कहा जायगा। ऐसी गाय के लिये सूरदास ने ब्रजभाषा के भंडार में से नैचकी शब्द का प्रयोग किया है। नित्यवत्सा की ही संज्ञा नैत्यिकी है, अर्थात् जो नित्य दूध की हो। नैत्यिकी—नैचिकी—नैचिकी—नैचकी यह विकास क्रम है। हेमचन्द्र के अनुसार नैचिकी गाय सब गायों में बढ़िया मानी गई है। (नैचिकी तूत्तमा गोषु, अभिधान चिन्तामणि ४।३३६)। नैचकी गाय बरस बियावर होती है। बरस-बरस पर वियाने वाली गौ के लिये पाणिनि का सरस सूत्र है, समां समां विजायते ५।२।१२, जिसके अनुसार ऐसी गाय पुराने समय में समांसमीना कहलाती थी। पतंजलि ने लिखा है कि जो साल-साल की वियानी हो वह अच्छी गाय है, पर जो बरस-बियावर होते हुये हर बार बछिया दे वह और भी बढ़िया हुई—

गौरियं या समां समां विजायते। गोतरेयं या समां समां विजायते स्त्रीवत्सा च।

(भाष्य ५।३।५५)

अधिकतर गाएं दुवास अर्थात् दो बरस में वियाने वाली होती हैं। कोई कोई तिवास भी होती हैं। गाय दसवें महीने वियाती है। लोक में उसे नौ महीने नौ दिन का समय कहा जाता है। जवान बछिया ओसर कहलाती है जो संस्कृत उपसर्या से निकला है (उपसर्या काल्या प्रजने ३।१।१०४)। उसे ही कलोर (संस्कृत काल्या) कहते हैं। ग्याभिन होने के लिये बूना, साहना, धनाना, फलना, बरदना आदि कई धातुएं बोलियों में चलती हैं। जो ओसर फलने के लिये रेंकती या रम्भाती नहीं और गुम्म ग्याभिन होती है उसे असल धेनु समझते हैं। जो बरधाने से न ग्याभिन हो, न ब्यावे, यह बहल या बहला कहलाती है। फलने के बाद जो रुके

या ठहरे नहीं उसे ठांठ कहते हैं। संस्कृत में उसके लिये अवतोका और वेहत् शब्द हैं। बच्चा गिराने के लिये पछाहीं हिन्दी में तूना, अवधी में अडाना, बिहारी में निछाना और अन्य बोलियों में छनना, चूना, बहना आदि धातुएं हैं। जिसके ब्याने का समय निकट हो उसके लिये वैदिक शब्द था प्रवय्या, और जो सांझ सवेरे में ही ब्याने वाली हो उसके लिये पाणिनि काल में एक नया शब्द चल गया था अद्यश्वीना (आजकल में ब्यांतर ५।२।१३)। लोक में इसी को यों कहते हैं कि बियावर गाय या भैंस एक दो दिन पहले से पुट्ठे तोड़ने लगती है अर्थात् उसके पुट्ठे की हड्डियां कुछ उठ जाती हैं। पहली बार ब्याने वाली पहलवन या पहिलौठी कहलाती है। ब्याने के छः महीने तक जब दूध देती रहे तब धेनु कही जाती है। कात्यायन ने उसके लिये अस्तिक्षीरा शब्द का उल्लेख किया है। (भाष्य २।२।२४।२१)। जिसका बच्चा बड़ा हो जाय वह बाखड़ी या पूरब में बखैनी कहलाती है जो संस्कृत बष्कयणी से बना है। दूध देने वाली गाय को अवधी में लगनी और दूध से भागी हुई को छुटानी कहते हैं। जिसका बच्चा जाता रहे (मृत वत्सा) वह वैदिक काल में निवान्या कही जाती थी। श्रौत सूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। मेरठ की बोली में वह तोड़ या बिनकट कही जाती है। एक मित्र से ज्ञात हुआ कि पूरब में अभी तक निवानी शब्द चलता है। देई (स० देवी) वह बछिया होती है जो देवी-देवता के नाम से छोड़ दी जाती है। बियाने पर उसके दूध में रई नहीं पड़ती, यानी दूध बिलोया नहीं जाता। उसका दूध पीते और दही या खीर खाते हैं। स्त्रियां नित्त नेम की जो रोटी निकालती हैं उसे देई गो खा सकती है। ब्राह्मण की तरह देई की मान्यता की जाती है, उसे बेचते नहीं। जब दूध पी चुकते हैं तो या तो अगले ब्यांत के लिए छुट्टा रख लेते हैं या पुन्न कर देते हैं।

सीधे स्वभाव की गाय बहुत पसन्द की जाती है। गौ आज तक हमारी बोलियों में सीधेपन का उपमान है। 'गौ है' यह बड़ा सार्थक वाक्य है। दुहने में जो भली मानस हो वह सहेज कहलाती है। वेद में उसे सुदुघा कहा है। पृथ्वी की प्रशंसा में एक जगह कहा गया है कि वह हमारे लिये धन समृद्धि की हजार धाराएँ ऐसे देती रहे जैसे अचल भाव से बिना फड़फड़ाने वाली गाय (ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती, अथर्व १२।१)। गायों में कपला गाय सबसे सीधी और निरीह मानी गई है। कपला वह गाय है जिसके सींग कानों के बराबर नीचे को मुड़े रहते हैं और डुगडुग हिलते हैं। हँसली की तरह सींग होने के कारण यह गाय हँसली भी कहलाती है। सीधी का उलटा कड़वी, मरखनी, मरखा है। ऐसे तेज़ स्वभाव की गाय के लिये मेरठ की बोली में एक बहुत चुस्त विशेषण सुनने को मिला ईतरी। बड़ी ईतरी गाय है। यह पुराने वैदिक शब्द 'इत्वरी' से बना है। इत्वर का शब्दार्थ है गमनशीला। अथर्व वेद में पृथ्वी को 'अग्रेत्वरी', सबसे आगे रहने वाली, नेत्री कहा गया है (१२।१।५७)। ई धातु का अर्थ है जाना, उसी से त्वर जोड़ने से इत्वर, इत्वरी बनते हैं। गमनशील तो अच्छा अर्थ था, उसी में कालांतर में कुछ हेठा भाव मिलने से चंचल अर्थ हो गया। सूरदास ने उराहना देने वाली गोपियों के मुंह से कहलवाया है—'देखि महरि को कह उठीं सुत कीन्हीं ईतर'। मेरठ की बोली में ईतरे बालक मुहावरा खूब चलता है। इतराना इसी से बनी हुई धातु है। झांकने वाली चंचल गाय के लिये ईतरी सार्थक शब्द है। भोजपुरी में इसके लिए करकट शब्द है, जो संस्कृत करटा (दुरुदोह्या तु करटा, हेमचन्द्र ४।३३५) से बना है। सब तरह बेरेब सीधी गाय सुधरी कहलाती है।

गाय गर्मी नहीं मानती, पर भैंस घाम नहीं सह पाती। जो गाय भैंस की तरह धूप से घबड़ा कर पानी में खड़ी रहना चाहे वह घामर कहलाती है। जो दूध अधिक दे वह दुधार (दोग्ध्री) और जो घी अधिक दे वह घियाल है। जो दुधार और घियाल दोनों हो उसे कसरीली, और इसके विपरीत घी दूध की हेठी को कट्टा कहते हैं।

चुगाई जिसकी देह का मुटापा बढ़ावे वह मुटडंगी कहलाती है। जो छक कर खाने पर ही दूध दे वह करवाल, जो भलोमानस भूखी भी दूध दे दे वह सहेज, और जो एक ही आदमी से दुहने की आदी पड़ जाय वह इकहत्थी कही जाती है। जो मोटी ताज़ी, खा पीकर फरवे या तैयार हो वह सावटी, जो हारी हुई हो वह ढोढा, जो बुड्ढी थकी हुई हो वह ढांढरा या भड़ंगा, और जो दिखाने लायक हो वह दिखनौट्ट कहलाती है। इकबासिया गाय बड़ी धियाल मानी जाती है। रीढ़ के बांस के पिछले भाग में पुट्ठों के मध्य में केवल बीच की हड्डी दिखाई पड़े और पुट्ठों की दोनो हड्डिया मास में दबी हुई हों, ऐसी गाय इकबासिया कहलाती है। जो पतला गोबर करे वह *बिसैल कहलाती है। यास्क के निरुक्त में पानी के १०१ नामों में विष भी है।* जान पड़ता है कि बहुत पुराने समय में बिसैल शब्द लोक की भाषा में चालू रहा होगा। पीछे चल कर विष शब्द का पानी अर्थ व्यवहार में नहीं रहा। चारों थन इकट्ठे जुड़े हुए हों तो कुलिहयाए थन कहलाते हैं। पपैया थन वे होते हैं जिनमें एक थन के अगले हिस्से में दो भाग हो जांय, जड़ एक हो, दूध के सोत दो हों, और एक के दबाने से दोनों में से धार निकले। जिसके कुदरती दो ही थन हों वह बेलनी कहलाती है। सिर्फ तीन थन वाली को तेथनी कहते हैं। सींगों के कारण भी गायों के नाम पड़ते हैं पर वे शब्द बैलों के लिये विशेष रूप से काम में आते हैं। जो सीधे ऊपर को उठे हुए हों वे सलाये सींग कहलाते हैं। एक सींग ऊपर एक नीचे को हो तो सरगपताली नाम पड़ता है। सींगों की गठियासी बंध जाय तो उसे कैंडी और जिसके सींग पीछे को जाकर आगे को मुड़ें उसे मुहरी कहते हैं।

गाय भैंस के शब्द प्रायः एक से हैं। पर कुछ शब्द तो विशेष कर भैंस की प्रकृति या रूप रंग से ही बने थे। गाय की ओसर या कलोर की जगह भैंस की झुटिया कहलाती है। कटरा हो तो झोटा कहलायेगा। सींग मुड़ी हुई भैंस को कुन्नी कहते हैं। हेमचन्द्र के अनुसार सींग का एक पर्याय कूणिका भी था (४।२२६)। संभवतः दरातीनुमा सींगों वाली भैंस के लिये यह शब्द चला। सींग मुड़कर यदि बल जांय तो उसके लिए मुर्रा और खुण्डी शब्द हैं। लोक में नरदक की खुण्डी भैंस प्रसिद्ध है। नरदक की भैंस, जंगल की घोड़ी, नागौर का बैल ये नामी हैं। जंगल से मतलब बीकानेर–राजस्थान का जंगल हो सकता है जहां के राजा जंगलधर पातशाह कहलाते थे। एक पंजाबी लोकगीत में खुण्डी भैंसों का सुन्दर वर्णन मिलता है—'रांझा की भैंसें हूर और परी के समान हैं। उनके सींग मुड़ मुड़ कर कुण्डे हो गये हैं, मानों सुनार ने बंगड़ी या कड़े बनाये हों। भैंसों का दूध क्या है, शरबत सा मीठा है। उनका घी तो देखो, मिस्री की डली है। जिस समय बाहर जंगल में चरने जाती हैं, अत्यन्त सुन्दर लगती हैं, और जब घास खाकर घर लौटती हैं, ऐसा जान पड़ता है, मानों बरात में दूल्हे को देखने के लिए लड़कियां उमड़ रही हों।'[२]

---

२ मज्झीया मज्झीयां, राञ्झिया, सारा जग्ग आहँदा ये।
तेरीया मज्झीया नां, चाकावे, हूरा ते परीया।
सिंग तां मज्झीयां दे वल वल कुण्डे हो गये वे।
ज्यों ता वंगा, चाकावे, सुनियारे ने घडीयां।
दुद्ध ता मज्झीया दा, चाकावे, मिस्री दीया डलीयां।
घियो तां मज्झीयां दा, चाकावे, मिश्री दीया डलीयां।
बाहर जादीया जंगल वेला सुहादीयां।
घा खाके मज्झीया घरांन मुडीयां,
ज्यों जञवलादे नूं ढुकीयां कुडीया॥
(यह लोकगीत मुझे श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी की कृपा से प्राप्त हुआ था)

जिसके माथे पर सफेद टीका हो वह भैंस टीकली और जो गूगली रंग की हो वह लोई होती है। भैंस की पूंछ के बालों का झुग्गा उसके शेष रंग से अवश्य भिन्न होता है। जिस भैंस का यह झुग्गा भी काला हो वह सौंकाली या कलपूंछी कही जाती है। जो सदा अपनी पूंछ एक ओर को डाले रहे वह नंगी या गंडउघार होती है। लोई, सौंकाली, गंडउघार तीनों असहनी अर्थात् अशुभ समझी जाती हैं। पहलवन भैंस झुटिया और तीसरे व्यांत की लेन कहलाती है। व्याई हुई व्यातड़ और बिकने वाली विक्कू कही जाती है। ये दो शब्द गाय के लिए भी समान हैं। दोनों आँखें सफेद हों तो कञ्जी और एक आँख सफेद हो तो ताखी कहलाती है। जिस भैंस की टांट से आगे गड्ढा पड़े वह खंदेल और जिसकी टांट (कूबड़) से पीछे गड्ढा पड़े वह कुदेल होती है। कुदेल को भी अशुभ मानते हैं। टूटे सींग की डूंडी और कटी पूंछ की लांडी कही जाती है। ये शब्द गाय, बैल के लिये भी हैं। माह की ब्याई भैंस महावर कहलाती है। भादों की ब्याई गाय और महावर भैंस दोनों अशुभ मानी गई हैं। बहुत दिन की ब्याई भैंस के लिये हेमचन्द्र ने देशी नाम माला में परिहारिणी (चिर-प्रसूतामहिषी) शब्द दिया है, परन्तु लोक में बाखड़ी या बखैनी ही चालू है। देशी नाम माला में और भी कुछ अपभ्रंश शब्द आए हैं जो उस समय देशी भाषा में चलते थे पर अब लुप्त हो गये हैं। उसके अनुसार दुद्धोलणी वह गाय या भैंस हुई जो एक बार दुहने के बाद फिर दुही जा सके। जो बहुत दूध की गाय हो वह पड्डत्थी, या जो बछड़े के लिये थन में दूध चुरा कर रख ले वह पड्डत्थी कहलाती थी।

गोशाला के लिये लोक में सार शब्द है जो शाला का ही रूप है। इसे गोठ (सं० गोष्ठ) खरक, बगार (वही स्थान जहाँ गाएं बाँधी जाती हैं, शब्द सागर पृ० २३५५), गोवाट भी कहते हैं। देशी नाम माला में तहल्लिआ ५।८ शब्द गोठ के लिये हैं, पर लोक भाषा में मुझे वह नहीं मिला। राजस्थान में उसके लिये नोहरा शब्द भी है। नोइ का अर्थ है बाँधने की रस्सी, और हरा सं० गृह से है अर्थात् वह स्थान जहाँ पशु बाँधे जाते हों।

बैल भारतीय किसान के जन्म के साथी और सखा रहे हैं। किसान के जीवन की गाड़ी खींचने वाला बैल किसान के लिये ऐसा ही है जैसा देह के लिये प्राण। जसहर चरिउ के कर्ता पुष्पदन्त कवि ने बैल की प्रशंसा में ठीक ही कहा है :

विणु धवलेण शयडु किं हल्लइ। विणु जीवेण देह किं चल्लइ॥

धौले के बिना कहीं छकड़ा हिलता है? जीव के बिना कहीं देह चलती है?

असाढ़ में पानी बरसने के बाद खेत की पहली फाड़ पांसा कहलाती है। असाढ़ी की जुताई के लिये ही पासा की उपाड़ शब्द है। पांसा की जुताई बड़ी कड़ी मानी गई है। तमाम जंगल एक साथ जुताई में आ जाता है और काम की मारामार रहती है। उस गाढ़े समय में दो ही प्राणी हिम्मत नहीं हारते, या तो दधीचि की हड्डी से बने किसान या उनके दृढ़ बैल। उस समय बैल की कमाई से कृतज्ञ किसान का हृदय कह उठता है—

भैया, गाय के जाऐ कू बड़ी खुदाई है।

बड़े बूढ़े कह गये हैं 'गेहूं कु बीस बाह, ईख कू तीस।', यदि बैल न होते तो कौन छाती फाड़ कर खेतों को असाढ़ी के लिये बीस-बीस तीस-तीस बाहन देता। कराल हल जब खड़े हुए चलते हैं तब बैलों पर भारी जोर पड़ता है, पर फिर भी खेतों में खूंड़ खींच कर हलाई भरते हुए उनके पौरुष नहीं थकते। ऐसे ही माह पूस के जाड़ों में चरसिये और कीलिये किसान बैलों के बल बूते पर कुओं को खेतों में उलीच कर रख देते हैं।

किसान का विश्वास है कि यदि गाय की पहली कीस (वियाने के बाद का दूध) बछड़ा पीले तो कैसा ही कड़ा काम हो पसीना नहीं ला सकता। घर के बछड़ों को किसान बहुत ही प्यार करता है। उसका विचार है कि मामा भांजे की जोड़ बड़े भाग्य से मिलती है। एक ही गाय से उत्पन्न बछड़ा बछिया हों तो बछड़ा मामा हुआ और बछिया का बछड़ा भाजा हुआ। मामा–भांजे का जोड़ा हल में जोत कर किसान फूला नहीं समाता, मानो यह गोई उसके गोपालन की साक्षी भरती है। बाछा (सं० वत्सक), बछड़ा (वत्स, अपभ्रंश प्रत्यय डा), बाछरू–बछरू (सं० वत्सरूप), बछेड़ा (सं० वत्स तरक), बछेड़ू (सं० वत्सतर+रूप) आदि शब्द बोलियों में गाय के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं। बच्चा जब तक घास नहीं खाता, केवल दूध पीता है, तब तक पाणिनि के अनुसार उसकी शकृत्करि संज्ञा थी। मेरठ की बोली में उसे लवारा, भोजपुरी में लेरू कहते हैं। उसके लिये प्राचीन वैदिक शब्द था अतृणाद (बृ० उप० १।५।२)। दूध पीने तक वह वत्स या बाछा रहता था। दूध छोड़ने के बाद बछड़ा (वत्सतर) कहलाता था। दो ढाई बरस तक के बछड़े के लिये वैदिक काल में दित्यवाह् शब्द था। पाणिनि ने भी इस शब्द का उल्लेख किया है (७।३।१)। परन्तु दित्य क्या था यह स्पष्ट नहीं होता। सम्भवतः बछड़ों के गलेमें बाँधा जाने वाला डँगुर दित्य शब्द से (दा बन्धने धातु+क्त=दित, जो बाँधने योग्य हो वह दित्य) अभिप्रेत था।

बछड़ा और बैलों के दाँतों से उनकी उमर की पहचान की जाती है। जन्म के समय गर्भ में से आठ दूध के दाँत होते हैं। जब तक सच्चे टिकाऊ दाँत नहीं निकलते तब तक उसे उदन्त या अदन्त कहते हैं। सात दाँत का उदन्त माना गया है:—

सात दाँत उदन्त को रंग जो काला होय। इनको कबहुँ न लीजिये दाम चहै जो होय॥

दूधके दाँत गिरनेके बाद ढाई वर्षकी उम्रके लगभग बछड़ा दाँतता है। पहले दो दाँत निकलते हैं और तब उसे दुदन्त (द्विदन्) कहते हैं। जो कुछ पहले ही दुदन्त हो जाते हैं उन्हें भरकदन्ता कहते हैं। भरकदन्ते का उल्टा ऊना होता है। ऊने पर जुआ नहीं रखते। उदन्त गाय का ब्याना बरदाना भी अशुभ है:—

उदन्त बरदै उदन्त ब्याय। आप जाय या खसमै खाय॥

दाँतो का हिसाब इस प्रकार है:—

आयु	दाँतो की सख्या	नाम
२ से २½ वर्ष	२	दुदन्त (सं० द्विदन्त)
३ वर्ष	४	चौदन्त (सं० चतुर्दन्)
३½ वर्ष	६	छद्दर (सं० षोडन्)
४ वर्ष	८	सं० अष्टदन्

आठ दाँत भरने पर बैल पूरा समझा जाता है। चतुर बिहारी स्त्री ने पति को समझाया, हे कान्त! बैल लेना हो तो दुदन्त बैल बिसाहना (बैल बेसाहै चललह कन्त। बैल बेसहिह दू दू दन्त॥)

संस्कृत के षोडन् (छः दाँत वाला) के वज़न पर हिन्दी में छद्दड़ सद्दड़, नौदड़ शब्द चालू हैं। ये तीनों असैने समझे जाते हैं। मेरठ की ओर कहा जाता है:—

छद्दड़ सद्दड़ सूं कहै चलो सुसर घर जांय।
घर के अपनी हैंक में पहले पड़ौसी खांय॥

मुसर, वह बैल जिसकी पूंछ का रंग शरीर के रंग से भिन्न हो। हैक=हलक। इसी का अवधी रूप इस प्रकार है:—

छद्दर कहै मैं आऊं जाऊं। सद्दर कहै गुसैयें खाऊं।
नौदर कहै मैं नौ दिस धाऊं। हित कुटुम्ब उपरोहित खाऊं॥

बछड़े के जवान होने, बढ़ने और पूरा बैल बनने तक की अवस्थाओं के सूचक कुछ चुस्त शब्द पाणिनि से प्राप्त होते हैं। जो बछड़ा जवानी के उठान पर हो वह जातोक्ष, जो यौवन में भर जाय वह महोक्ष और जो पूरा बिजार (सांड) बन जाय वह वृद्धोक्ष कहलाता था। इसी तरह जिनको नाथ कर बैल बनाना होता था उनकी भी तीन सीढ़ियां थीं—वत्स, दम्य, बली वर्द। जवानी आने पर बछड़ों को जब नाथा जाता है, तब से उन्हें नाथहरि कहते थे। बछड़े के जीवन में नाथ डालना महत्वपूर्ण संस्कार था। दम्य हिलावर कहलाता है। बिना हिला हुआ अघट कहा जाता है। नया नया बैल अलल (सं० आर्द्रार्द) या अलल बछेड़ा कहलाता है। जिसका कद और उठान दबा हुआ रह जाय वह नटिया और जो पूरा कहावर हो वह धुरंधर कहलाता था। नटिया बैल को देख कर खेत में खड़ी दूब भी किसान से हँसी करती है—

नटिया बरद छोटिया हारी। दूब कहै मोर काह उखारी।
बाछा बैल बहुरिया जोय। ना घर रहे न खेती होय॥

अतएव किसान के लिये यह सीख है:—

नाटा खोंटा बेचि कै चारि धुरन्धर लेहु। आपन काम निकारि के औरहु मंगनी देहु॥

बैल के लिये रगड़न्त का काम होना चाहिए। खूंटे से बँधे बँधे बछड़ा मट्ठर पड़ जाता है, जैसे पड़े पड़े जवान आदमी की तोंद निकल आती है।

बांधा बछड़ा जाय मठाय। बैठा ज्वान जाय तुंदियाय॥

अच्छे बैलों की पहचान गाँवों में बड़ी कला या चतुराई समझी जाती है। छोटा मुँह ऐंठा कान, यही बैल की है पहचान। अथवा जिसका ललाट उभरा हुआ सींग मुड़े हुए छोटे, मुँह गोल, रोंए नरम और कान चञ्चल हों ऐसा बैल चलने में ततैया और अनमोल होता है[३]। जिसकी रान मोटी, पिंडली पतली और पूंछ लम्बी भूमि में खिचड़ती हो उस बैल के मालिक को देख कर दूसरे सिहाते हैं[४]। जिसकी देह भारी हो, पैर छोटे हों वह सुअर गोड़ा कहलाता, उसके मुँह मांगे दाम होते हैं[५]। जिसके खुरों का रंग बैजनी हो वह बैंगन खुरा बहुत मजबूत होता है[६]। कंधे का नीला, देह का गठीला, आँखों का चमकीला बैल पूरा मर्द समझा जाता है,

---

३. सींग मुड़े माथा उठा मुंह का होवे गोल। रोम नरम चंचल करन तेज बैल अनमोल॥

४. पतली पेंडुली मोटी रान। पूंछ होइ भुंइ में तरियान॥ जाके होवे ऐसी गोई। वाको तकैं और सब कोई॥

५. मीहीं रोवां पतरी पूंछी सुअर गोड़ा जो पाए। मांगन वाला जितनइ मांगे उतनेइ दाम दे आए॥

६. नीला कंधा बैंगन खुरा। कबहु न निकलै कैसा बुरा॥

तिस पर यदि उसका लगोट कसा हुआ हो तो कहना ही क्या[७]। बैल का लगोट (पूंछ का नीचे का हिस्सा) काले रंग का अच्छा माना गया है। काला कछौटा हो, सुन्दर धवल रंग हो तो फिर ऐसे बैल को छोड़ कर किसान को और क्या चाहिए? उसी के साथ यदि कानों पर लम्बे बाल हों तो सोने में सुगन्ध हो समझिए[८]। काले कछौटे से ही क्या हुआ जब तक बैल की आँखें भी काली न हों[९]। उसकी कजरारी आँखों में रगड़ा सा गिरा हुआ जान पड़ता है। जिसकी रीढ़ दबी हुई हो वह बैल बड़ा जोरावर होता है। ऐसी रीढ़ को बरार (नीची) कहते हैं[१०]। इससे उल्टा बांसड़ा है जिसकी पीठ का बांस उभरा हुआ होता है। जल्दी थक जाने के कारण वह हरवाहे को रुआ डालता है[११]। बैल का ढीला मुतान देह के ढिल्लड़पन का सूचक है। खूब कसा हुआ हिरन मुतान बैल अच्छा माना गया है। ऐसा बैल मिले तो अनबूझे ले लेना चाहिए[१२]। पतली पूंछ का बैल पटुवा कहलाता है। पटुवा बैल देखते ही थैली खोल देना चाहिए[१३]। बड़सींगा बैल मत खरीदो चाहे यों ही रुपये खोलकर कुएं में फेंक दो[१४]। पर ठिंगने सींग वाला मिले तो अवश्य ले लेना चाहिए[१५]। जिस बैल के सींग आगे की ओर झुके हों उसे मेरठ की ओर भूंगा एवं अवधी में घोंची कहते हैं। ऐसा बैल नदी पार दिखाई पड़े तो इसी पार थैली खोल कर रुपये गिनने के लिये तैयार रहो[१६]। मिल जाने पर उसके बेचने का सवाल ही नहीं उठता[१७]। जिसके सींग गिरने वाले या गिरैला हों वे गिर कर ही रहते हैं, रुकते नहीं। सींग की शोभा तो मुकटा बैल के मस्तक पर दिखाई पड़ती है। उसके सींग कमान की तरह अन्दर मुड़ कर फिर थोड़ा ऊपर उठ कर आपस में मिल जाते हैं और ऐसे लगते हैं जैसे तोरण हो। ऐसे बैल को किसान विष्णु का रूप मानते हैं। जिसका एक सींग ऊपर एक नीचे की ओर हो वह सरग पताली कहा जाता है। उसी को कंसासुरी भी कहते हैं जो अच्छा नहीं समझा जाता[१८]। टेढ़ी भौंओं वाला (भौंआढेर) बैल भी मालिक पर दाँत

---

७. फेंट बंधीला देह गठीला आँखों का चमकीला। भाखै नानकचन्द मरद है बर्ध कंध का नीला॥

८. करिया काछी धौरा बान। इन्हें छांड़ि जनि बेसहयो आन॥
 कार कछौटी सुनरे बान। इन्हें छांड़ि जनि बेसहयो आन॥
 कार कछौटा झबरे कान। इन्हें छांड़ि जनि लीजो आन॥

बिहारी भाषा में भी कसे हुए और काले काछ वाले बैल की प्रशंसा है
 काछ कसौटी सां और बाना ई छांड़ि किनिहि मत आन॥

९. बैल लीजै कजरा। दाम दीजै अंगरा॥

१०. स्वेत रंग और पीठ बरारी। तादि देखि जनि भूल्यो अनाड़ी॥

११. बांसड़ औ मुंह धौरा। उन्हें देखि चरवाहा रौरा॥

१२. हिरन मुतान औ पतली पूंछ। बैल बेसाहो कन्त बेपूंछ॥

१३. जहं देखै पटवा के डोर। तुरतहि दिहै थैलिया छोर॥

१४. बड़सींगा जनि लीजौ मोल। कुएं में डारो रुपिया खोल॥

१५. छोटे सींग औ छोटी पूंछ। ऐसे का बेसहो बेपूंछ॥

१६. घोंची देखै वहि पार। थैली खोले यहि पार॥

१७. जिसके सींग न्यूं। उसे बेचै क्यूं॥ न्यूं=इस तरह के, तर्जनी और मध्यमा उंगलियों को बीच से मोड़ कर भूंगा के सींगों की अनुकृति।

१८. सरगपताली भौंआ ढेर। अप्पन खाय परोसिया ढेर॥ (बिहार)

रखने से अशुभ है। सींग कानों के बराबर नीचे को दबे हों तो ऐसा बैल कनचप्पी या मीना कहलाता है[१९]। बिहारी भाषा में इसे ही मैना कहते हैं। सड़क के उस पार मैना बैल देखना तो इसी पार से लेने देने की बात चला देना[२०] क्योंकि वह जरूर अच्छा निकलेगा। मेढ़ की तरह उमेठवाँ सींग वाला बैल मेंड़वा या मेंढ़वा, बिना सींग का मुंडा या मुंड़ा, छोटे सींग का मुठिया या मुठरा, बालों से ढके कान वाला झबरा या झूतरा, कटी पूंछ वाला बांडा या लाड़ा, एक सींग वाला एक सिंघा कहलाता है।

रंग के हिसाब से भी बैलों के गुण दोष पहचाने जाते हैं। बिल्कुल धवल या सफेद रंग का बैल अनमोल है। उसके लिये मांगने वाला जितना मांगे चार टका और ऊपर गिन देना चाहिए[२१]। जाट गूजरों की ठेठ किसानू बोली में बैल के लिए धौला बहुत ही प्रशंसासूचक शब्द है। लाल रंग के बैल के लिये अवधि किसान चट से अपनी थैली खोल देना चाहता है, पर उसका बिहारी भाई खूब उठ बैठ कर उसे अच्छी तरह देख लेने के पक्ष में है[२२]।

बैलों के जो रंग किसानों को नहीं रुचते उनमें महुअर (महुआ जैसा पीला) मुख्य है। 'मुंह का मोटा, माथे का पीला, ऐसे बैल के लिये, प्रिये, तुम्हारी क्या सलाह है।' 'चल जाय तो आधा दाम, नहीं तो पैसा पानी में गया[२३]। ऐसा बैल धरती क्या जोत सकता है, एक दो हराई (हल की खुड़) भले ही खींच दे; तुरन्त मेंड पर बैठ कर पागुर करना चाहेगा। जिसकी बरौनी (पलक के बाल) सफेद हों, हलवाहे को उसके साथ भी झींकना पड़ेगा। भूरे रंग का बैल भी अच्छा नहीं समझा जाता[२४]। बिहारी किसान की स्त्री उसे काले बैल की ओर से सावधानी करती है, पर उसकी अवधी बहिन करिया बैल को सत्यानाशी की निशानी समझती है[२५]। चितकबरा बैल भी घटिया है, जिसके लिये मोल भाव करने या दांत देखने की जरूरत नहीं[२६]। खैरा

---

१९. मियनी बैल बड़ो बलवान ॥ तनिक में करिहैं ठाढ़े कान ॥

२०. जब देखिह मैना। तब एहि पार सं करिह बैना ॥

२१. जहां देखिहो रूपा धंवर। टका चार बस दीहअ अवर ॥ अवधी ॥
जब देखिह रूप धौर। टाका चार दीह उपरौड ॥ ॥ बिहारी ॥

२२. जहां वां देखिह लोह बैलिया। तह वा दीहा खोलि थैलिया ॥
जब देखिह बैरिया गोल। उठ बैठ के करिह मोल ॥ ग्रियर्सन, बिहार पेजेंट लाइफ, पृ० २६०
बैरिया–लाल बेर के रंग का।

२३. मुंह का मोट माथ का महुअर। इनह का कछु करब बहुअर।
चलै तो आधा दाम तरे। नहीं दामे पानी में परे ॥ (अपने पूज्य गुरु श्री पं०जगन्नाथजी से प्राप्त पाठ)
मुंह का मोट माथ का महुआ। इन्हें देखि जनि मल्यो रहुआ ॥
धरती नहीं हराई जोते। बैठ मेंड पर पागुर करै ॥ पं रामनरेश त्रिपाठी का पाठ, हमारा ग्राम साहित्य पृ० ३६२
उजर बरौनी मुंह का महुआ। ताहि देख हरवाहा रोआ ॥ पं० श्रीकृष्ण विशारद का पाठ घाघ और भड्डरी की कहावतें, १-४६

२४. बैल बेसाहन जाओ कन्ता। भूरे का मत देखौ दन्ता ॥

२५. करियउ का कुछ कहब जोय। तबहु दहिय जानै खोय ॥

२६. बरद बेसाहन जाओ कन्ता। कबरे के जनि देखो दन्ता।

बैल अवध और विहार में कत्थई रंग का होता है। मेरठ की ओर गहरे पीले कत्थई रंग को गोरा कहते और आस्मानी रंग के बैल को खैरा कहते हैं। खैरा सब दोषों की खान है। जहा उसकी खुरी पड़े वहीं सब चापर हो जाता है। अगर गोठ में खैरा कुछ देर के लिये भी आकर बंध जाय तो बुहारी लेकर उसकी लार साफ कर डालना चाहिए। सम्भव है खैरे के प्रति यहां कुछ अन्याय किया गया हो[२७]। कभी-कभी तो वह अच्छा चलवैया देखने में आता है। मेरठ की तरफ मुसरिया वह बैल होता है जिसकी पूंछ में सफेद और काले रंग के गंडेदार बाल हों। ऊपर सफेद नीचे काले हों तो मुसरिया। लेकिन अगर ऊपर काले, नीचे सफेद बाल हों तो वही चौंरा कहलाता है। मुसर बैल को पछांई में और पूरब में सब जगह असैना समझते हैं। छद्दड़-सद्दड़ से सलाह करता है, चलो भाई मुसर के घर चलें और उसकी मदद से मालिक को जप कर फिर पीछे पड़ोसियों को समझें। जो कोई मुसरहा बैल खरीदेगा वह राजा भी हो तो पल भर में छत्रभंग हो जायगा। वह ऐसा विकट चापरकरन है कि स्त्री बच्चे घर बार सब छुड़ा कर भीख मंगवा देता है[२८]। जो बैल माथे पर दगीला हो वह सौंल कहलाता है। वह भी बड़ा करामाती है, मुसरहे की भांति ही मालिकको ललकारता है[२९]। अशुभ बैलों में उनासवा की भी गिनती है। जिसकी एक या दो पासू अर्थात् पसली छोटी हो वह उनासवा (ऊनपाशुक) कहलाता है। अवधी में इसे नासू कहा गया है। वह राज्य विलट कर राव से रंक कर डालता है[३०]। पुछकटा बैल बांडा कहलाता है। जिसके लम्बे चौड़े शरीर में हड्डी ही हड्डी दिखाई देती है और जिसके गांव भर तक फैले हुए सींग, जान पड़ता है, छान का छप्पर भी उठा कर फेंक देंगे, उस बैल के लिये किसान ने अपने प्रेम का व्यर्थ प्रयोग नहीं किया[३१]।

पर सच पूछिये तो किसान जिससे रो देता है वह गादर बैल है। जिसके पल्ले गादर पड़ जाय वह भाग्य का पोच है[३२]। उसे राज छोड़ कर जोग साधना पड़ता है। जब गादर की कृपा से खेती बाड़ी कुछ पूरी न पड़ेगी तब जोग तो साधना ही हुआ। गादर की माया अपरम्पार है। किसान कितना ही चुस्त हो गादर पल्ले पड़ जाय तो धुरियाधाम किये बिना नहीं छोड़ता, किसान का सारा काम पट्ट हो जाता है। गादर को आलस्य का अवतार ही समझिए—

---

२७ बरद बिसाहन जाओ कंता। खैरा का जनि देखो दंता।
जहां परै खैरे की खुरी। तो कर डारै चापर पुरी॥
जहां परै खैरे की लार। बढ़नी ले के बुहारो सार॥

२८ बैल मुसरहा जो कोई लेय। राज भंग पल में कर देय।
त्रिया बाल सब कुछ छुट जाय। भीख मांग के घर घर खाय॥

२९ सौंल कहै मोर देख कला। वे मेहरा का करौं घरा॥

३० नास करै राज का नास।

३१ डग डग डोलन फरका पेलन कहां चले तुम बांडा।
पहले खाइब रान पड़ोसी गोसैंए कब छाड़ा॥

३२ वह किसान है पातर। जो बरदा राखै गादर॥
ताखा भैंसा गादर बैल। नारि कुलच्छनि बालक छैल॥
इनसे बाचैं चातुर लोग। राज छाड़ि के साधैं जोग॥

इक दिन रहा अदिन कर फेर। तारा पर हम चरी अनेर ॥
केहू बटोही हर हर कीहा। अस कै गिरे चेत नहीं रहा ॥
चरवाहे पुपुई लायन जाय। घर से गुसैंया खटिया लै आय ॥
सात पांच जन लिहेन उठाय। लैगे गुलौरी में दिहेन वहाय ॥
आगि लागि हम भितरहिं जरे। जुआ देखि के नाहिंन निकरे ॥

'एक दिन ताल के किनारे हम वे रोक टोक चर रहे थे। बदकिस्मती से किसी बटोही ने हर-हर शब्द बोल दिया। हमने क्या समझा कि हल आ गया। ऐसे गिरे कि होश न रहा। चरवाहों ने पोई पोई करके बहुत हल्ला मचाया, तब घर से मालिक खटिया ले आए, हमें लाद कर घर ले गए और गुड़गोई में लिटा दिया। संयोग से वहा आग लग गई, हम वहीं जल मरे पर टस से मस न हुए।' गादर बैल की काम के प्रति जो मनोवृत्ति होती है उसका चित्र उसी के शब्दों में सुनने लायक है—

छाती फाटै खुर भराँय। खरी बिनौरा के मोरे खाय।
डंडा चार बबुर के सहवै। राजा होय गोरुन में रहवै ॥

हल हेंगा खींचने से छाती फट जाती है, खुर चिर जाते हैं। कौन खली बिनौले के लालच में पड़ कर झंझट मोल ले, भले ही बबूल के चार डंडों की मार पड़े। अपने राम को तो गोरुओं के बीच मस्त घूमने दो।' जो गादर होते हैं ऐसा उपद्रव करते हैं कि कुछ पूछो नहीं। कितना ही मारो आगे पैर नहीं उठाते। जब मारने लगो तो और चार पैर फैला देते हैं कि जितना मारना हो मार लो। गादर को गरिआर भी कहते हैं। पछांह में उसके लिए गलिया शब्द है जो संस्कृत गलि से बना है। गादर के मुकाबले में मेहनती बैल को देख कर किसान को कुछ हिम्मत बंधती है। जिसके छोटे कान हों और पूंछ में बालों की झप्पा झूलन हो ऐसा बैल मेहनती होता है[३३]। किसान के लिए तड़कने–भड़कने वाले, चौंकने चमकने वाले बैल अच्छे नहीं। उनकी वजह से किसी भी दिन कुए में, गाड़ी में जान जोखिम हो सकता है[३४]। मरखना या मरकहा बैल रखने से रोज न रोज कोई उलाहना लिए खड़ा रहेगा[३५]। जो लात चलावे वह लतहा होता है।

खूब कोख तान कर खाने वाला बैल चारू कहलाता है। किसानी का अनुभव है, चारू सो भारू, जो खूब चरता है वह देही में भी तगड़ा रहता है। चारू का उल्टा मनचर अर्थात् कम खाने वाला होता है। जो खाते समय राल बहुत गिराता है वह रालू कहलाता है। जो बैल पेट के भीतर से रस निकाल कर मुंह से गिराते रहते हैं वे रस उगाल होते हैं।

बैल को रखने की भी युक्ति है कि जिससे वह दीर्घजीवी बन सकता है। सार या गोठ को बरसात आने से पहले ही छवा लिया जाय, भुस रखने का भुसैला भी छवा कर सूखा कर लिया जाय, चौरस धरती में खेत बनाया जाय, किसान का बेटा स्वय चरावे, भादों के मेंह में भी बैल बाधने का स्थान सूखा रक्खा

---

३३ पूंछ झप्पा औ छोटे कान। ऐसे बरद मेहनती जान ॥
३४ बैल चमकना जोत में औ चमकीली नार। ये बैरी हैं जान के लाज रखै करतार ॥
बैल तरकना टूटी नाव। ये काहू दिन लैहैं दांव ॥
३५ बैल मरखना चमकुल जोय। वा घर ओरहन नित उठि होय ॥

जाय, तो बैल बीस बरस तक काम देगा[३६]। यदि खरक में धूप, धल, और धुवें का प्रबन्ध हो, तो बैल पचीस बरस तक तगड़ा रहेगा। इतना प्रबन्ध करने से मच्छड़, मक्खी, डास बैल को तंग नहीं करेंगे और गोरू सार में पूरी नींद और आराम पायेंगे[३७]। बैल का एक कौल और है—यदि मुझे छोटे-मोटे तंग खेतों में न जोतोगे, यदि मुझे दाहिनी ओर न नाथोगे और यदि गायों को मुझसे न मिलाओगे, तो मैं बीस बरस तक बरदई साधने का दम भरता हूं[३८]। बैल ने ये तीन वचन किसान की भाषा में सूत्र रूप से कहे हैं। पूरे अर्थ तक पैठने के लिए इनकी व्याख्या आवश्यक है। पहला वचन बैल ने मांगा कि मुझे छोटे खेतों में मत जोतो। खेत की जुताई के लिए जब हल चला कर खूंड बनाते हैं तो उसे हलाई भरना या कहीं माग भरना भी कहते हैं। हलाई खेत के बीच से शुरू हो कर बाहर की तरफ फैलती है। मेंड़ या डौले के बराबर तीन-चार खूंडो की धरती छूटी रह जाती है उसे धोरा कहते हैं जिसे आखीर में जोता जाता है। हलाई लम्बोतरी पड़ती है और खेत के कोने पर बैल को हर बार मुड़ना पड़ता है। खूंड के घुमाव या मोड़ को मोड़ा कहते हैं। चारो कोनों पर खेत का जो भाग छूट जाता है उसे भी जोतना जरूरी है। बीच की जुताई के अन्त में किसान प्रत्येक कोन से बीच की ओर हल चला कर प्रत्येक मोड़ पर छूटी हुई धरती या मोंडे को हलाई से भरता है। इसे मोंडे काटना कहते हैं। *अगर खेत का एक हो बड़ा चक हो तो बैल को सोधी हलाई करनी पड़ेगी और अन्त में सिर्फ* एक बार मोंडे काटना पड़ेंगे। लेकिन अगर बीस बीघे की जोत बैल ने की और बीसे बीघे भर का खेत हुआ तो हर बार मोंडे काटने से बैल मर मिटेगा। इसीलिए उलिया कुलिया खेत (अंग्रेजी स्माल होल्डिंग) का जोतना बैल ने अपने लिये जानमारू काम समझा। बार-बार मुड़ना बैल के मस्तिष्क और शरीर के लिए अच्छा नहीं। इसीलिये दाय चलाने या अनाज की मणनी करने में भी बैल घबड़ाता है। कोल्हू के बैल की तरह खेती के बैल को जब घूमना पड़ता है, उसके कूल्हे थक जाते हैं[३९]। बैल का दूसरा कौल है—मुझे दाहिने मत जोतो। बाएं हाथ का बैल उपराली और दाएं का तरवाली कहलाता है। हल्का बैल उपराल में और तगड़ा तरवाल में नाथा जाता है। तरवाली को हल-जुएं में ज्यादा ज़ोर लगाना पड़ता है। मोड़ पर पहुंच कर बांया बैल तो खड़ा हो कर मुड़ जाता है, पर दाएं को अधिक चल कर जुआ खींचना पड़ता है। इसीलिये हमेशा दांया नाधना बैल की जान खींच लेता है। अगर उलिया कुलिया खेत हुए तब तो बार-बार के मोड़ पर दाहिना बैल मर मिटेगा। दाएं का एक अर्थ दांय चलना या मणनी भी होता है। यह काम भी बैल के लिए बड़े कसाले का समझा जाता है। संस्कृत में जिसे सीता कहते हैं बोली में वह खूड कहलाती है। जब हल खूड की तरफ जाता है तो उपराली बैल को आहां आहां करके हांका जाता है। इसे आंनाना कहते हैं। जब पहली खूड से हल हट कर चलता है और खूड मोटी पड़ने लगती है, तब तरवाली यानी दाहिने बैल को तिक-तिक का इशारा देकर हाँकते हैं। इसे तिकारना कहते हैं। किसान बैल की भाषा और बैल किसान की भाषा

---

३६ समथर जोतै पूल चरावै। लगते जेठ मुसैला छावै॥
भादों मास उठै जो गरदा। बीस बरस तक जोतो बरदा॥

३७ धूप धूर धूवां जो जइंवा। बरद पचीस बरस रह तइंवां॥

३८ ना मोहि नाधो उलिया कुलिया, ना मोहि नाधो दाएं।
बीस बरस तक करौं बरदई, जो ना मिलिहैं गाएं॥

३९ मरद निकौनी बरदै दायं। दुभरी चलनी में दुख पायं॥
मर्द खेत की निराई में, बैल मणनी में, और गर्भिणी रास्ता चलने में दुःख पाती है।

समझते हैं। कबीर ने कहा है—'आद्यां समझे तिक तिक समझे पुचकारे से होय खड़ा। कहे कबीर सुनो भाई संतो मूरख से तो बैल भला ॥'

बैल ने दीर्घायु के लिए किसान से जो तीसरा कौल भरा वह है मनुष्य पशु सबके लिये एक सा जीवन का नियम अर्थात् ब्रह्मचर्य। अथर्व वेद के ऋषि ने जगत् में व्यापक इस मूल्यवान् तत्व को पहचानते हुए कहा था—'पृथ्वी में, आकाश में, जंगलों में, गावों में विचरने वाले जो पशु और पत्ती हैं, वे ब्रह्मचारी हैं, अर्थात् जीवन के विकास के लिये प्रकृति ने जो नियम स्थिर किये हैं उनका पालन करते हैं।' बैल और बिजार के लिये भी शक्ति का स्रोत ब्रह्मचर्य ही है। बैल की शक्ति का सच्चा मर्म जानने वाले ऋषि ने कहा है—

अनड्वान् ब्रह्मचर्येण।

(अथर्व ११।५।१८)

ब्रह्मचर्य से ही बैल अनड्वान् बना है। अनट् छकड़ा, उसको चलाने वाला अनड्वान्। तिवल्दी गाड़ी में बींडिया बन कर छाती फुलाता हुआ, काले नेत्रों में प्रसन्नता लिये हुए जब बैल आगे आगे चलता है, तब उसकी शक्ति और शोभा देखने योग्य होती है। इसी शाक्वरी (सामर्थ्य) शक्ति के कारण वैदिक भाषा में बैल की एक संज्ञा शाक्वर थी।

गाय बैलों के लिये किसान का प्यार उनकी सजावट के रूप में प्रकट होता है। वह उनके सींगों को लाल पीले मुंडासे से, चेहरे को रंगीन नाथ और गलथनी से, गले को कौड़ियों की माला और जगाधरी की बनी हुई बारीक आवाज़ वाली चिड़िया-चौंकनी टल्लियों से सजाता है, कन्धों पर झूल डालता है, एवं देह और गले की सासना (गल कम्बल) पर भांति भांति के चित्र लिखता है। जंगल में मठारते हुए, लोटती टांट वाले सांडों की दड़ूक में मानों सारे जानपद जन की ध्वनि सुनाई पड़ती है। किसी समय कुरुक्षेत्र हरियाना, मथुरा, मत्स्य देश के जंगल गायों और बैलों से भरे हुए थे। विराट देश के द्वैतवन में कुरुराज दुर्योधन की गायें छुट्टा चरती थीं। वहीं से राज्य के लिए गो सम्पत्ति प्राप्त की जाती थी। एक बार उसने अपने घोष की जन संख्या जानने के लिए बड़ा मेला किया जिसे महाभारत में स्मारण कहा है। पाणिनि ने गायों की गिनती करने वाले विशेषज्ञ गोसंख्य नामक अधिकारियों का उल्लेख किया है। स्मारण में बछड़े, बछिया, तुरत की ब्याई बाल-गौएं, ग्याभिन ओसर (उपसृता), तीन बरस के जवान बछड़े (त्रिहायन), सबको अलग अलग जान कर उन पर अंक और निशान (लक्ष्म) लगाये गए जिससे अगले वर्ष फिर उनका मिलान किया जासके। (वन पर्व २४०।४-६)

गौ के प्रति देश के प्राचीन भावों को फिर हमें प्राप्त करना है। गौ के शतधार झरने को राष्ट्र के नवोदय में सहस्र धार बनाना होगा। कहते हैं वेदों में बहुत ऊँचा ज्ञान है। हो सकता है। पर उस साहित्य में से जीवन के लिए आवश्यक यदि कुछ चुनना हो तो एक सूक्त लेकर हम संतोष करेंगे जिसमें भारतीय घरों की अधिष्ठात्री शाला देवी का रूप खड़ा किया गया है।

हे गृह देवी, जिस नींव पर तुम टिकी हो, वह घी से सींची गई है। उसी में क्षेम भरा है। तुम्हारे उस रूप में वीरों का निवास है जिनके शरीर कभी रिसते नहीं। हे शाला तुम गोमती हो, गोधन पर तुम टिकी हो। घी दूध की सबल धार तुम्हारे मंगल द्वार में प्रवेश करती है। तुम वह कोठार हो जिसकी छत ऊँची है और जिसमें फटका पछोरा अन्न भरा है। हे देवी शाला, जिस दिन यहां छोटा कुमार आए, उसी दिन उसका भाई

कूदता हुआ बछड़ा भी आए, और उसके साथ आए संझा को पन्हाती हुई दुधार धेनु। हवा पानी धूप गर्मी अपना अपना चक्कर चलाती हुई इस घर के जीवन को ठीक रखती हैं। हवाओं में जो गीलापन है वह घी बन कर इसमें बरसता है और हमारी खेतिहर भूमि सब तरह के धान्य से लहलहा उठती है।

हे घर की कल्याणमयी देवी, देवों ने सुमति करके तुम्हें पूर्व में बनाया था। तुमने घास फूंस का वस्त्र पहना, वही तुम्हें भाया, और उसी में वीर पुत्र और धन तुमने दिए। तुम्हारे ठाठ का कमरबल्ला (प्राचीन वंश) सत्य के नियम से टिका है। अपने भीतर तुमने जिन्हें पाला पोसा, वे छीजे नहीं, बल्कि पुत्र पौत्रों के साथ सौ वर्ष तक जिए।

हाँ, इस घर में हमारा तरुण कुमार गाय के बछड़े के साथ आएगा और फेनिल दूध से भरे गगरे दही के कलसों के साथ आएंगे। हे देवि, घी का पूर्ण कुम्भ यहा भर दो जिसमें अमृत की धार मिली हो। फिर घी का माट पीने वालों के शरीर पर अमृत का पुचारा फेर दो। यक्ष्मा का नाश करने वाले अमृत को हमारे इन घरों में उंड़ेल दो (अथर्व ३।१२)

इस गान के सुर में घी दूध की लय है। जिन फूंस के छप्परों में ढाई सौ पीढ़ी सौ-सौ वर्षों तक जीवित रहीं, वे क्षीर गंगा के तट पर बने थे, उनमें मनुष्य के तरुण कुमारों के साथ गायों के कलोर बछड़े भी जीवन के नव मंगल में साझीदार थे। उन में फेनिल दूध के मांट और चक्का दही के हंडे गृहस्थ की बहंगी में एक साथ लदते थे। पुर और जनपदों में पनपने वाले भारतीय जीवन के ये सच्चे चित्र थे जब उनमें गो का शतधार झरना झरता था। आज गो रूपी दूधिया झरने की घर-घर में बाट देखी जा रही है॥

"वितस्ता-जन्म"

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

महाभारत-संग्राम में, नाना देशों से आकर, महाशूर, महात्मा-जनों एवं राजाधिराजाओं ने भाग लिया केवल कश्मीर देश के राजा ही न आये, न उनकी कहीं कीर्ति अथवा वृत्तांत ही सुना गया, यद्यपि कश्मीर मंडल, समस्त जगत में प्रधान एवं स्वर्ग की साक्षात सीढ़ी माना गया है। इस भव्य प्रदेश के अधीश्वर तब कौन थे और उस समय वे कहाँ वास कर रहे थे? व्यास के परम शिष्य वैशम्पायन से परीक्षित वंश के राजा श्री जनमेजय ने प्रश्न किया।

"निस्संदेह कथन आपका सत्य है महाराज! भारत-भूमि पर कौरव-पाण्डवों के महायुद्ध के समय उभय पक्ष में कश्मीर देश का कहीं उल्लेख नहीं आता। वास्तव में रहस्य यह है कि युद्ध से कुछ काल पूर्व जब महा-विशद कीर्तिमान राजा श्री गोनन्द कश्मीर देश का पालन कर रहे थे, उन्हें अपने बन्धु जरासन्ध की ओर से मातृभूमि त्याग कर मथुरा जाना पड़ा। वहां यादवों के साथ युद्ध में पराक्रमी एवं अतिबलशाली होने पर भी कश्मीराधिपति वीरगति को प्राप्त हुए।"

सत्कीर्ति प्राप्त, विभूतिशाली, कश्मीर भूपालक महाराज गोनन्द के नाम के साथ "मृत" शब्द का उच्चारण तक भी उनकी अत्यन्त शोक-विह्वल प्रजा सुनने को प्रस्तुत न थी। सर्वत्र शोक छा गया। देश अव्यवस्थित होने लगा।

कश्मीर के विषय में ऐसी करुणाजनक स्थिति सुन कर भगवान वासुदेव स्वयं वहां गये और भावी पुत्र के राज्य गौरव एवं देश की व्यवस्था, सुरक्षा के निमित्त स्वर्गीय महाराज की गर्भवती रानी श्री यशुमति को अभिषिक्त किया। समयानुसार प्रसव होने पर शिशु का नाम बाल-गोविन्द रखा गया। इस बाल-गोविन्द के अल्पायु होने के कारण कश्मीर देश महा-संग्राम में भाग लेने से वंचित रहा।

"देश के गौरव और कल्याण के लिए, वासुदेव जैसे महापुरुष ने स्वयं एक स्त्री का अभिषेक कैसे किया," अत्यन्त आश्चर्य से जनमेजय ने पुनः प्रश्न किया।

वैशम्पायन बोले:—देव, यह भी एक परम रहस्य-मयी वृहत वार्ता है। सुनिए।

राजन्! ध्यान, साधन, स्वाध्याय, यज्ञ, शील में निरत, तपस्वी, वेद-वेदांगों में पारंगत ब्राह्मण शस्त्रास्त्रों में पारखी, महाभागी क्षत्रिय, गो अश्व, धन धान्य से पूर्ण वैश्य और द्विजातियों की सेवा के लिए शूद्रों से शोभित, आज जो यह साक्षात् देव-भूमि दिखाई पड़ रही है, जहां आज आप सर्प, सिंह आदि के भय से वर्जित उद्यानों एवं रमणीय उपवनों में सुकुमार कामिनियों को क्रीड़ा करते देखते हैं। मधुर फलों फूलों, धान के खेतों या उष्ण स्नानगृहों में चंचल शिशुओं को उमंग आनन्द से नाचते कूदते देखते हैं। अनुपम हरियाली लिए जनकीर्ण स्थानों में जहां हृष्ट-पुष्ट बन्धु बान्धव आज मृगया के लिए जाते हैं।

हिमाच्छादित शिखरों से प्रवाहित
"मन्दाकिनि अथवा सिन्धु"

"नील-कुण्ड"
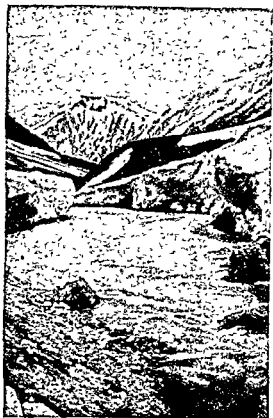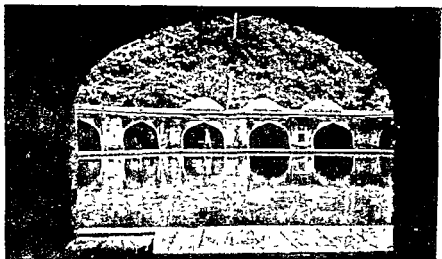
[श्री दत्त के सौजन्य से]

देवालयों में प्रतिक्षण जहां ब्रह्म-घोष एवं धनुर्घोष द्वारा नित्य ही उत्सव होते रहते हैं। ऊँची शिलाएँ दुग्धफेन सी अनेक नदियाँ—कमल-दलों से पूरित जलाशय और केसर की क्यारियाँ जिस भूमि को आज सौंदर्य पूर्ण एवं सुवासित कर रही हैं। पुनीत मनोहर आश्रमों के मध्य में से वितस्ता नदी जहा सीमान्त सी प्रसारित हो रही है। हे राजन्! किसी समय इन सब के स्थान पर केवल एक पूर्ण विमल सर था।

"यदि सभी मन्वन्तरों में यह सुन्दर भूभाग एक विस्तृत विमल-सर ही था, तो किस प्रकार वैवस्वत-मनु का जन्म उस मण्डल में हुआ! व्यास ही के तुल्य उनके हे तेजस्वी शिष्य आपको सब कुछ विदित है—मेरा कौतूहल शात नहीं हुआ। अत: वर्णन करो।"

"वत्स! ठीक यही प्रश्न एक बार तीर्थयात्रा का प्रसंग छिड़ने पर महाराज गोनन्द ने बृहदश्व ऋषि से किया था। अर्थात् चहुंओर जल ही जल होने से किस प्रकार कश्मीर देश की स्थापना हुई। बृहदश्व ने इस प्रकार रहस्योद्घाटन किया:—

"राजन्! जल प्रलय अर्थात् समस्त सृष्टि के विनष्ट हो जाने पर भी हिमवाहन, हेमकूट, निषध, नील श्वेत, शृंगवान, मेरु, माल्यवान, गंधमादन, महेंद्र-मलय जैसे शक्तिमान एवं वन-पूरित विन्ध्याचल जैसे महा-पर्वतों का नाश नहीं होता।

उस विनष्ट लोक में स्वयं प्रभु महादेव प्राण धारण करने की इच्छा से स्थित रहते हैं और सती देवी नूतन रूप धारण करती हैं। जिनसे उत्पन्न मनु ही सर्व प्राणिजगत का आधार होते हैं। सो इस सातवें वैवस्वत मनु के समय मत्स्य रूप धारण कर नौका रूप धारिणी सती को ले उस सरोवर में नौबन्धन शिखर के साथ भगवान रहे।

नौका रूप धारण कर पार्वती के पार्थिव रूप में वह छै योजन अर्थात ४८ मील लम्बा चौड़ा, देवक्रीड़ा के लिये मनोहर आकाश के समान गम्भीर शीतल, स्वच्छ अति मनोरम जलाशय, सती सर नाम से प्रख्यात हुआ।

मही-स्थिति पूर्ववत् अद्भुत हुई। तब दक्ष प्रजापति ने कश्यप ऋषि को तेरह कन्यायें विभिन्न वंश वृद्धि के निमित्त दीं। उन स्त्रियों से निम्न जातियों की उत्पत्ति हुई, अर्थात् अदिति के पुत्र देव, दिति से दैत्य, वाजिन: के गन्धर्व और भद्रा के सुरभा। यक्ष से राक्षस और खलों का जन्म स्मृता से हुआ। ऐरावत से बल और दश-गायना से पुलक, इसी प्रकार मुनि जन उक्षा से तथा दिव्य अप्सरा से गण, कालका से काल और कल्प उत्पन्न हुए। दानवा से दन, क्रोधया से कन्यका दश, हे नृप! कद्रू से अनेक नाग एवं विनता से गरुड़ और अरुण पक्षी-प्रवर उत्पन्न हुए।

इनमें से कद्रू और विनता, प्रत्यक्ष या परोक्ष से, क्रोध क्लांत लोचनों से परस्पर दोषारोपण में तत्पर रहती थीं। एक बार समुद्र मन्थन द्वारा प्राप्त अमृत-घट ले जाते हुए सुन्दर अश्व को उन दोनों ने दूर से देखा अभिभूत हो, एकटक दृष्टि लगा कहने लगीं।

"देखो, देखो देवराज इंद्र के घोड़े को! अहा! कैसा रूप है! कैसा तेज और महा अद्भुत वेग है।"

"कल्याणी! इसका वर्ण कैसा सुन्दर और श्वेत है" सरल हृदया विनता ने कद्रू से कहा। किन्तु शठता से कद्रू जानते हुए भी कहने लगी नहीं जी! विनते! यह तो कृष्ण वर्ण है। इसी पर दोनों की बाजी लग गई।
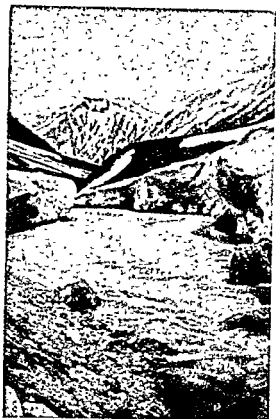
हिमाच्छादित शिखरों से प्रवाहित
"मन्दाकिनि अथवा सिन्धु"
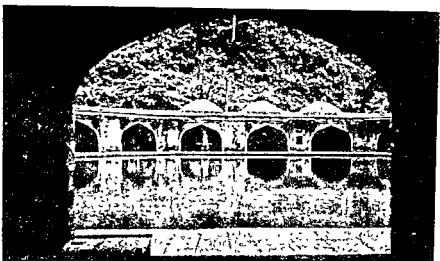
"नील-कुण्ड"

[श्री दत्त के सौजन्य से]

वास्तव में उच्च श्रव:स नामक यह अश्व श्वेत ही था। पर दासी भाव से बचने के लिए, कद्रू ने अपने शत–शत नाग पुत्रों को सूक्ष्म एवं कृष्ण वर्ण हो उच्च श्रव:स के रोम रोम से लिपट जाने की आज्ञा दी।

छल से बाजी हार जाने के कारण सुन्दरी विनता दासी होकर रहने लगी। यहां तक कि उसके पुत्र गरुड़ भी दिन भर नागों को पंखों पर बिठाये लोक लोकांतरों में भ्रमण करवाते। किन्तु साथ ही यशवान गरुड़, माँ की मुक्ति का भी उपाय सोचा करते। अन्ततः उन्हें पता चल गया कि यदि वे बल पूर्वक अमृत घट उठा लायें तो इस दारुण दुःख से छुटकारा पा सकते हैं। अमृत हरण के लिये जो भयंकर युद्ध हुआ वह मनोरंजक कथा पृथक है।

इन्द्र से अत्यन्त बलपूर्वक अमृत–हरण पर विजेता गरुड़ को समीप बुला भगवान विष्णु ने कहा, 'वत्स वर माँगो!'

"कद्रू पुत्रों के भक्षण से मुझे कुछ न हो—यही कामना है"

'तथास्तु!' साथ ही भगवान ने उन्हें अपना वाहन भी चुना। अब क्या था—अमरत्व प्राप्त कर नाग भक्षण द्वारा गरुड़ माँ के बन्धनों को मुक्त करने लगे।

* * *

महात्मा गरुड़ के नाग भक्षण पर नागराज वासुकि देवों के देव जनार्दन की शरण में गये और इस प्रकार स्तुति करने लगे।

"हे शार्ङ्गद—पाणि! नील कमल वर्ण! आप रत्न जटित किरीट धारण किये एवं सहस्र रत्न युक्त फणावली वाले शेष पर शयन किये हैं। आपके पाद–पद्मों में सिन्धु–कन्या शोभायमान है! हे अनघ! परम सनातन, हे सर्वलोक हित–रत! खगपति गरुड़ भीम तुल्य प्रचण्ड वेग और अतुल पराक्रम से मेरे कुल का विनाश करने पर तुला है। त्राहि माम! प्रभो अपने पवन–बल से रक्षा कीजिए। न्याय कीजिए।"

वासुकि को अत्यन्त भय विह्वल देख भगवान बोले, नागेन्द्र! उत्तर दिशा में सती-सर नामक पुण्य-स्थल है उस सर में जो भुजंग निवास करेंगे, उनका हनन तुम्हारे शत्रु न कर सकेंगे। आओ नागराज! भय रहित हो विचरो! नागकुल के नाश करने की सामर्थ मेरे वाहन में भी नहीं।"

नागराज वासुकि को वर दे पुनः हरि ने आदेश दिया—"सती देश में गरुड़–भय से रहित जो नाग निवास करेंगे, उनमें से महा बल शाली नील–का अभिषेक हो।"

* * *

कहते हैं सती–सर के तीर, एक बार देवराज इन्द्र पत्नी शची सहित जल–विहार के लिए आए। हे राजन! उन्हें क्रीड़ा मग्न देख संग्रह नाम अति दुर्जय दैत्येन्द्र के मन में विकार उत्पन्न हुआ। जिससे वह विमल जलाशय विष से दूषित हुआ और दैत्य दानवों के मध्य घन–घोर युद्ध होने लगा। संग्रह मारा गया किन्तु उसका जो अंश–मात्र भी वहाँ रहा, संवत्सर व्यतीत होने पर जलोद्भव नाम दैत्य शिशु ने पिता ही के सदृश अतुल बल प्राप्त कर लिया और जल में अपनी अद्भुत माया एवं पराक्रम से मानव-भक्षण करने लगा। सती-सर

के आस-पास के पर्वतों पर स्थित गान्धार, जुहुड, शक, खस, तङ्गण, माण्डव, मद्र आदि नाना जातियों का हनन कर वह पापी, उन शून्य देशों में निर्भय हो विचरने लगा।

* * *

इसी काल में भगवान कश्यप, सकल-पृथिवी की तीर्थ यात्रा को निकले। पुष्कर, प्रयाग, कुरुक्षेत्र,चामर कण्टक, वराह-पर्वत महानद, कालांजन, सर्गोकख, केदार, बदरिकाश्रम, सुगन्धा, शतकुम्भा, कालिकाश्रम-शाकाम्भरी, शालग्राम-नीलतिक, पृथूदक, सुवर्णाख्य, रुद्र कोटि, अगस्ताश्रम, तण्डलिका, जम्बुभाग-पुण्य वाराणसी, आदि तीर्थ स्थानों एवं जान्हवी गगन-मेखला के तुल्य यमुना, द्रुत-गामिनी शतद्रु सरयु देवी सरस्वती, गोदावरी वैतरणी-गोमती सुवर्णमाँ-वेदस्मृति सुवर्णाभा-ताम्रवर्गोत्पलावती, शिप्रा, मुनर्मदा शोण, पयोष्णी आदि नदियों पर पुनः इक्षुमती, दुर्गा, कावेरी, गौरी-तमसा आदि तत्पश्चात् गङ्गासागर-सिन्धु सागर आदि संगमों पर गए—और कुशावर्त बिल्वक, नील-पर्वत से होते हुए मारीची पुत्र कश्यप पुनः कनखल तीर्थ पर आत्म शुद्धि के लिये गये।

पिता की महा यात्रा का समाचार सुन नागाधिपति श्री नील, कनखल पर पिता से मिलने गये। यथा-विधि पूजा कर, पितृ चरणों के समीप बैठ कहने लगे "हे द्विजोत्तम ! आपने पूर्व, पश्चिम, दक्षिण के सभी तीर्थों की यात्रा समाप्त कर ली। अब उत्तर दिशा की ओर मद्र देश के सब तीर्थों एवं पर्वत श्रेष्ठ हिमाचल की यात्रा कीजिए।

वहाँ विपाशा, शिवा, देवह्रदा, इरावती, रेवती, देवकी सी पापनाशिनी नदियाँ, विश्वमित्र से महा नद एवं अनेक कूप तड़ाग और अवर्णनीय शोभा वाले निर्झर व प्रपात हैं। चन्द्रिका के समान सुशीतल जल वाली पृथिवी के सभी सर समुद्रों से बढ़ कर पुण्यमयी चन्द्र भागा जिसने वहाँ माघ शुक्ला त्रयोदशी को जन्म लिया है और जहाँ भौमद्वितीया को सती-देह पर निर्मित-सर्व कल्मष हरण-क्रम सर जलाशय स्थापित है।

"मद्र देश पर अनुकम्पा के लिये ही तो हे ब्रह्मण ! आपका अवतरण हुआ है। कृपया सोम तीर्थ आदि से होते हुए चलिए, पधारिए।"

पुत्र के कथन तथा प्रेम से प्रेरित हो, भगवान कश्यप नील सहित यमुना, सरस्वती आदि नदियों को पार कर कुरुक्षेत्र एवं चक्र तीर्थ के विभिन्न जलाशयों का स्पर्श करते हुए विपाशा नदी पर पहुँचे। और वहाँ के सकल जन हीन प्रदेश को देख करुणा-विगलित हो कहने लगे।

"हे नील ! दुर्भिक्ष से सदा वर्जित, धन धान्य से पूरित, यह अत्यन्त रमणीय मद्र देश किस प्रकार जन-शून्य हो गया।"

नील बोले "भगवन् ! आपको स्मरण है न संग्रह-पुत्र जलोद्भव की बात। किसी वरदान की सामर्थ्य से इस अव्यक्त योनि नर-मांस भक्षी दुष्ट ने न केवल मद्र देश को प्रत्युत, अभिसार, गान्धार जलन्धर, शक, खस, मांडव, आदि अन्तर्बाहर की गिरि-जाति प्रदेशों को नितान्त शून्य कर डाला है। जनता के कल्याणार्थ हे प्रभो उस दुष्ट का स्वयं ही निग्रह कीजिए—मेरा तो उस पर कुछ वश नहीं।"

नर-संहार की यह क्रूर कथा सुन कश्यप विस्मित हो नील से बोले। हे पुत्र ! वास्तव में आश्चर्य है। ऐसा तो भान तक न था। अब तो प्रजाके सुख सम्पन्न हेतु कर्तव्य सम्मुख जान, यात्रा स्थगित करनी ही उचित है।

तुरन्त ही पिता पुत्र ने सती-सर के विमल जल में स्नान किया। और समाधिस्थ हो ब्रह्मलोक का ध्यान कर उस ओर चल पड़े। जहाँ ब्रह्मा–कमल दल पर आसीन एवं वासुदेव अनन्त सुख से शयन कर रहे हैं।

जाते ही दोनों ने उच्च स्वर में ब्रह्म–घोष द्वारा वन्दना की। अतिथियों का आगमन जान–देव–पितर–पितामहों आदि ने आदर प्रीति से, एक वृहत सभा की। जिसमें, तीर्थ-यात्रा का प्रसंग छिड़ने पर जलोद्भव की कुचेष्टा का तीव्र विरोध हुआ और "नौबन्धन शिखर पर चल कर शीघ्र ही दैत्य का निग्रह किया जाय" ऐसा प्रस्ताव भगवान वासुदेव तक पहुँचाया गया।

सुनते ही हरि–हर्षित हो स्वयं गरुड़ वाहन ले शंकर वृषभ पर और ब्रह्मा हंस-यान पर आरूढ़ हो पुत्र प्रेम वश आए हुए कश्यप के साथ मेघ मार्ग से चले। नील के साथ इन सब महा शक्तियों को जाते देख, समस्त देवपुरी में कोलाहल होने लगा। और निकट से गुजरने पर पुर–जन अति उल्लास से कहने लगे।

"आइए! आइए! स्वागत! स्वागत! देव गण! हमभी आपका अनुगमन करेंगे। और वे सब अर्थात् यम, अग्नि, वरुण, वायु, कुवेर, नैऋत, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वदेव, मरुद गण, आश्विन, भृगु और आँगिरस इनके अतिरिक्त ऋषिजन गन्धर्व अप्सराएँ, देव–पत्नियाँ–माताएँ, विद्याधर जन, यहाँ तक कि यक्ष और सागर सरिता तक चल पड़े।

दृश्य अलौकिक था। गंगा जी मकर की सवारी पर थीं, यमुना जी कछुए पर, शतन्दु वृषभ पर, और महिषी पर थीं सरस्वती। विपाशा का अश्व वाहन था, हाथी पर थीं इरावती, सिंह पर चन्द्रभागा और सिन्धु व्याघ्र पर आरूढ़ थीं। राजन्! नदी देवकी गौ पर, सरयू मृग पर और मन्दाकिनी तथा पयोष्णी मनुष्यों पर आ रही थीं।

इसी भाँति नर्मदा–मयूर पर, साँरग पर गोमती, गोदावरी मेष पर, हंस पर कम्पना, और गण्डकी ने बगुले ही को चुना। कावेरी ऊँट पर क्रमशः सीता बलाका पर, एवं लोहित नदी चामर पर, ह्लादिनी नदी कुक्कुट पर पावना तुरंग पर शोण सर्प पर और मेघ पर कृष्णा की सवारी थी। शशक पर भूवैणा, इनके अतिरिक्त अनेक नदी नद इस देवासुर संग्राम को देखने आए।

नृपते! अतुल पराक्रमी, देवताओं और महाशक्तियों का यह अद्भुत समूह मधुर गुन्जार एवं दुन्दुभि करता हुआ आकर, नौबन्धन शिखर पर टिका। पुनः विचार निरत हो कर्तव्य की चिंता करने लगा। देवताओं की इस महती यात्रा का वर्णन सुन वह दुर्मति दैत्य–जलोद्भव अथाह जल में ऐसा छिप गया कि कुछ पता ही न लगा।

इधर श्री मधुसूदन को अद्भुत व्यूह रचना करते देख समस्त नौबंधन-शिखर मुदित हो उठा।

मध्य शिखर पर रुद्र, दक्षिण पर हरि और उत्तर दिशा में स्वयं ब्रह्मा अनुशासन एवं व्यवस्था के लिए आसीन हुए। खोजने के अनेक प्रयत्न हुए पर जलोद्भव तो मानों पाताल में पहुँच गया हो।

निश्चय हुआ कि इस दिव्य सरोवर को सुखा देना उचित है। सो उस मनोहारी शैल-शिखर पर आसीन जनार्दन, अनन्त से कहने लगे—हे धर्मात्मा! दानवों के नाश के हेतु तुम आज अपनी लाँगुल से हिमालय को विदीर्ण करो, जिससे यह सरोवर शीघ्र ही जल रहित हो।

तब पूर्ण–चन्द्र-तुल्य कांति युक्त, वह नीलाम्बर स्वर्ण मुकुट धरे यह अनन्त गिरि के समान ऐसे वृहत् आकार वाला हुआ कि सभी देवता उसकी अभ्यर्थना करने लगे। उसने धीरे से पूँछ हिला कर शैलराज

हिमाचल को इस भव्य टंकार से विदीर्ण किया, ऐसा घनघोर गर्जन हुआ जिससे समस्त संचित जल वेग से बहने लगा। हिमाचल से धरा की ओर जाते समय वह दानव अपनी कुटिल तरंगों से भयंकर नाद करता हुआ जीव जन्तुओं को त्रस्त करने लगा। कभी वह सरोवर के एक ओर जाता, और हे राजन्! कभी दूसरी सीमा पर। पुन: माया से चहुं ओर महान् अन्धकार फैला कर स्वयं अदृश्य हो गया।

तब शिव दोनों हाथों में चन्द्र सूर्य लिये उठे और निविड़ अन्धकार को ध्वस्त कर जग में आलोक किया। भगवान् विष्णु जो अब तक शिखर पर ही आसीन थे, स्वयं उतरे। घमासान युद्ध हुआ। समस्त देवतागण प्रसन्नता से दूरी पर यह दृश्य देख रहे थे। वश में न आने पर अन्तत: हरि ने चक्र प्रयोग कर उस शक्तिशाली दैत्य का शिरोच्छेदन किया।

* * *

हे राजन्! इसी कारण इन गिरिशृंगों का नाम जिन पर ब्रह्मा, विष्णु और शम्भु स्थित थे, भूतल पर सदा के लिए अमिट हो गया। यह देखो, दक्षिण का हरि-शिखर, पश्चिम का ब्रह्म-मुकुट और बीच का नौबंधन अर्थात् शंकर शिखर कहलाता है और विष्णु के यहां पग रखने से, क्रम-सर को ही विष्णु-पाद कहते हैं। राजेन्द्र! इसी स्थल पर जलोद्भव के साथ युद्ध के समय चक्र प्राप्ति पर हर–हरि में परस्पर मधुर विनोद हुआ राजन्! विष्णु, शिव दोनों की पूजा जो आप इस देश में देखते हैं, उसी काल में युद्धोपरांत दोनों को ही प्रतिष्ठापन–समारोह धूमधाम से यहां हुआ था, जिसे देखने तीनों लोकों से मुख्य मुख्य ऋषि, देव, नाग, गंधर्व, अप्सरायें आदि आये थे।

तब इन सबों के मध्य खड़े होकर कश्यप ऋषि ने कर–जोड़ भगवान विष्णु से विनती की।

"हे शंख–चक्र–गदा धारी, भूत भविष्य के स्वामी! आप ही के प्रसाद से यह देश दैत्यों से नि:शेष हुआ है। अब एक और वर चाहता हूं कि इस पुण्य–भूमि में देव, मनुष्य एक साथ निवास कर इसे रमणीय बनावें।"

सारे नाग एक साथ बोल उठे। "हूँ! हूँ! इससे अधिक यातना और क्या होगी! पिता यह आपने क्या कह डाला, जहाँ उच्च कुल नाग निवास करते हैं वहाँ क्या मनुष्य भी रहेंगे। प्रभो! मानव जन अल्पायु संकुचित दृष्टि वाले तथा सदा दु:खों से घिरे रहते हैं न, हम उनके साथ कदापि न रहेंगे।"

नागों के उपर्युक्त वचन सुन भगवान कश्यप, अत्यन्त दुखी एवं क्रुद्ध हुए और बोले, "मेरे वाक्य का अनादर करने से तुम लोगों को पिशाचों के साथ रहना पड़ेगा।"

कश्यप के इस शाप को सुन नागराज नील हाथ जोड़ नम्रता से कहने लगे। पिता जी! क्रोध–वश यूंही इन अज्ञानियों ने जो कहा, उस पर ध्यान न दीजिए इन्हें क्षमा करें। आगे ही गरुड़ का भय क्या कम है! यह पिशाच अल्प वीर्य और दारुण दु:ख देने वाले हैं। इनकी अपेक्षा हम मनुष्यों के संग ही रहना चाहेंगे।

नील के अनुनय भरे वचनों से कश्यप के हृदय में पुत्र प्रेम पुन: उमड़ आया। मृदु वाणी में बोले—"वत्स, अपने कर्मों का फल तो अब इन्हें भुगतना ही पड़ेगा। यदि शाप लौटाया तो असत्यवादी कहलाऊँगा। हाँ, एक बात हो सकती है, यह कि चार युगों के अनन्तर प्रति चैत्र मास में जब कि कुबेर निकुम्भ नामक पिशाच सेनापति को पचकोटि पिशाचों सहित अश्वारूढ़ करवा बालुकार्णव द्वीप में राक्षसों के साथ युद्ध करने भेज देते हैं तब इन अगले ग्रीष्म मासों में नाग और मनुष्य एक साथ रह सकेंगे। यद्यपि सर्वत्र नागस्थानों में, मानव उन्हें पुष्प धूप अवलेपन, नैवेद्य आदि विविधि सुगन्धियों से पूजा किया करेंगे और वे नाग भी उन्हें

सदाचार, धन-धान्य, पशु-पुत्रों आदि से समन्वित करेंगे। इस प्रकार हिमालय में छ: मास व्यतीत करने वाले जन सदा सुखी रहेंगे।"

"इस भोगवती–पुरी में नील योगी बन कर देश की रक्षा और पालना करते हैं। हे कश्यप! नील को विधिवत अभिषिक्त करो।" इतना कह कर भगवान् विष्णु और अन्य ऋषि-गन्धर्व आदि जैसे आये थे वैसे ही प्रस्थान कर गए। तब हे राजेन्द्र! इस देश मे शूरवीर विद्वान आदि चारो वर्ण छ: मास मनुष्यों के साथ और छ: मास पिशाचों के साथ धन-धान्य संग्रह कर रहने लगे।

"किन्तु प्रजापति कश्यप का उद्देश्य क्या था? किस जल से उसने इस देश को पवित्र किया और क्यों-कर कश्मीर नाम पड़ा? यह सब तो इस प्राचीन कथा से स्पष्ट हुआ ही नहीं? महाराज गोनन्द ने कौतूहल से भर पुन: प्रश्न किया।"

"राजन्! भगवती उमा ही, जिनसे यह सब जड़ जंगम सृष्टि उत्पन्न हुई है, निश्चयपूर्वक कश्मीरा देवी हैं। पुन: विशोका रूप धारण कर वही उस वृद्ध तीर्थ मे निवास करती हैं।" विस्तार से सुनिए।

"कश्मीर देश की स्थापना कर ऋषि ने हर्षित चित्त भगवान् शंकर तथा गौरी की कल्याण कामना से पुन: केशव की आराधना से लक्ष्मी को अवतरित होने के लिए अनुरोध किया। देवों की माँ अदिति की उपा-सना से त्रिकोटी उतरीं, शची ने हर्षपथा का रूप ग्रहण किया, दिति चन्द्रवती बनीं, यमुनादेवी ने अपना अंश वितस्ता को समर्पण किया। अत: कश्यप के आग्रह से देव-पत्नियां, सरितायें और सागर, संगम, तीर्थ एवं पुण्य वर्धन के हेतु नाग जलस्रोतों का रूप धारण कर कश्मीर भूमि में समीप समीप आगये। हे नरेंद्र! वैवस्वत युग में हर–भार्या ने जिसकी कोई अवहेलना नहीं करता इस प्रकार कश्मीरा रूप में अपने को अभिव्यक्त किया।"

महाराज गोनन्द को तो भी संतोष नहीं हुआ, पुन: बोले—"किन्तु ब्रह्मन्! शची, गंगा, सती, अदिति, यमुना आदि देवियाँ सरितायें कैसे बन गईं? महत् आश्चर्य है!" वृहदश्व कहने लगे।

परम कीर्तिवान प्रजापति को तपस्या में रत देख ये देवियाँ उनके दर्शन के लिए आईं और अत्यन्त प्रसन्न हो कर कहने लगीं—"महात्मन् हमारे योग्य सेवा हो सो कहो।" उनके कथन पर अति उत्साह से प्रेरित हो कश्यप कहने लगे—"कश्मीर नाम से यह जो सुभग देश मैंने निर्माण किया है। उसकी शुचिता और सौंदर्य की पूर्ति के लिये भगवती आप लोग अम्बु–दान दें।"

आग्रह सुन अदिति, दिति, शची, गंगा नत–शिर एवं अंजलि-बद्ध हो प्रणाम करती हुई बोलीं "आपके दर्शनों से हम पवित्र और अति आनन्दित हुईं अत: वचन शिरोधार्य करेंगी।"

तब अत्यन्त मुदित मन कश्यप ने शंकर की आराधना की।

संतुष्ट हो वृषभध्वज कहने लगे—"प्रिय तापस! कामना कहो।"

"देव आपसे तनिक भी तो रहस्य छिपा नहीं, इस भद्र देश के जीवन एवं श्री की वृद्धि के लिए, सती की कामना करता हूं। सरिता रूप में भू पर उतर वे जग का कल्याण करेंगी।"

ऐसा सुन हर मुस्कराए और परम आदर से भार्या से कहने लगे—"प्रिये! ऋषि की अभिलाषा को पूर्ण करो।"

तब वह महाभागा गौरी! तपस्वी के सम्मुख सिर झुका, अभिवादन करती हुई नम्रता से बोलीं—"यह देश तो चिरकाल से ही मेरी देहस्वरूप है अब आप और क्या चाहते हैं?"

कल्याणी ! पिशाचों के साथ सम्पर्क होने से अन्य जनों की मति भी मलिन हो जाती है। मति मलिन होने से सर्व देश दुराचारी, मलिन भावना युक्त और अपूज्य हो जाता है, सो हे वरानने ! ब्रह्मा, विष्णु, शिव से रक्षित इस महत्–देश की निर्मलता एवं पापों के शमन हेतु मुझ पर कृपा करो।

तथ्य को जान, वत्सलता की मूर्ति वह चारु चन्द्रनिभानना उमा, पति से कहने लगी।

"शंकर ! तुम उसी स्थान पर जहा पुरातन–काल में हिमाचल को विदीर्ण करने के लिये हल-यंत्र रखा गया था, त्रिशूल से प्रहार करो। उस प्रहार द्वारा रसातल से आकर, शिलामार्ग से होती हुई मैं सिन्धु महानद मे मिल जाऊँगी।"

युक्ति सुन शंकर ने त्रिशूल से वितस्ति–मात्र अर्थात् चार हाथ का गर्त किया। फलस्वरूप जो सुन्दर उज्ज्वल धारा फूट आई उसका नाम स्वयं शंकर ने वितस्ता रखा। राजन्! यही स्रोत नीलकुण्ड और नागराज नील का स्थान है।

"मुनि इच्छा से सती देवि कश्मीर में नदी–रूप से प्रकट हुई हैं" यह वार्ता लोक–लोकांतरों में फैल गई वितस्ता के सौम्य रूप में प्रवाहित होने से हे राजन् ! भले बुरे सभी प्रकार के लोग पवित्र होने की आकांक्षा से आये। किन्तु महा–पातक लोगों के स्नान से स्रोतस्विनी पुन: रसातल को चली गईं, तब कश्यप दौड़ कर पञ्च हस्तनाग के भवन से जाकर उसे लिवा लाये। आधे मील आगे जाने पर एक कृतघ्न को आते देख देवी पुन: तिरोधान हो गईं। किंतु कश्यप के अनेक विनती करने पर एक कोस के अन्तर से दर्शन दिये। आगे एक पर स्त्री–गामी दिखाई पड़ा, उसे तो दूर ही से देख वे ऐसी अदृश्य हुईं कि ऋषि अधीर हो गये, प्रार्थना की, किन्तु एक मील और आगे उन्होंने ब्रह्म–घातक को देखा, पुन: ऐसी अन्तर्ध्यान हुईं तो कश्यप अत्यन्त विनम्र स्वर में विनती करने लगे।

"हे राजकन्ये ! वरदे वरण्ये ! तुझे नमस्कार है ! तेरे पुनीत जल के तीर पर सुर–कामिनियाँ क्रीड़ा करती हैं, तेरा सुशीत विमल जल शोक-हरण है, कैसा ही कोई भयभीत अथवा दग्ध–हृदय क्यों न हो, तेरे स्पर्श से प्रसन्नचित्त हो जाता है। हे महेशानी ! पापी–जनों के उद्धार हेतु तुझसे पुन: प्रकट होने की कामना करता हूं। महापगे ! हे द्रुत–गामिनि ! तुझे प्रणाम हो ! आओ ! पधारो !"

मानिनी वितस्ता अपने भक्त से कहने लगी। "ऋषे ! मुझमें ऐसे दुर्जनों का साक्षात करने की शक्ति नहीं, इन पातकों को पवित्र करने के लिये तो तुम लक्ष्मी को ही प्रेरित करो, जिनमें समस्त त्रिलोक को पवित्र करने की क्षमता है। इन अदिति, दिति–गंगा–महानदी आदि में भी वह सामर्थ्य कहा?"

सुनते ही कश्यप तुरन्त श्वेत–द्वीप में विष्णु के पास पहुँचे और सभा में बैठे गोविंद को प्रणाम कर पार्वती के वचनों द्वारा अपना अभिप्राय कहा।

श्री गरुड़–वाहन यह जान, परम प्रीति एवं अत्यन्त विस्मय से कहने लगे—"मुनि तुम्हारी तपस्या के कारण मुझे तुमसे स्नेह है अस्तु ! तव–इच्छा पूर्ण हो।"

पुन: रमा के पास जाकर उन्होंने कहा—"देवि ! जाओ जन–कल्याण हित प्रसारित होओ।"

केशव–वाक्य सुनते ही लक्ष्मी शोक में डूब गईं बोलीं—"विभो ! वह सती पूर्व ही अवतरित हो चुकी है अब पीछे जाने से क्या? नाम तो उसी का अमर होगा।"

तब श्री को सशोका जान कश्यप कह उठे—"देवि तुम में परम शक्ति है। क्षीरोद–कन्ये, मंगला-स्पदे! विरजे! पवित्रे! वास्तव में तुम्हीं कश्मीरा-देवि हो। तुम्हारी ही प्रतिमा की संस्थापना यहां हुई थी तुम्हें नमस्कार हो। पद्मे! हे कमलांकिते! नारायणी जगन्निवासे! आओ! भूतल पर उतरो। वितस्ता के जल के साथ तुम्हारा मिलन पीयूष और मधु का संयोग होगा।"

स्तुति सुन सशोका, देवी लक्ष्मी, विशोका हुई और कर्तव्य परायण हो मुनि वाक्य पालन करने कश्मीर भूमि की ओर चल पड़ीं। उन्हें प्रस्थान करते देख ऋषि अति हर्षित हुए और उत्साह से पुन: कहने लगे:—

"पुर–वासियों के कल्याण निमित्त शीघ्र ही जाओ। पुण्ये! तुम्हारी प्रतीक्षा में वहां सती खड़ी हैं।"

तब वह शोक रहित अत्यन्त स्वच्छ–सूक्ष्म–एवं गम्भीर गति, जलधारा–पर्वत समूहों में से ऐसी सुन्दरता से प्रवाहित होने लगीं जिसे देख कश्यप गद् गद् हो गए।

देव! विशोका–नदी के नाम का यही रहस्य है।

इधर लक्ष्मी का आगमन सुन धौम्याश्रम के निकट सती ने अपना स्वरूप विस्तृत कर लिया। गुहा से निकली, विगत मत्सरा विशोका जब कुछ ही अन्तर पर उससे मिलने को थी तो अकस्मात वितस्ता कह उठीं।

"विशोका बहन! पूर्व में आई हूं अत: नाम तो पृथिवी–तल पर मेरा ही रहेगा।"

तब खिन्न मन हो विशोका कश्यप से, कहने लगी "सती ने मेरा नाम छीन लिया, इसका मुझे दु:ख नहीं! वास्तव में सती और लक्ष्मी हम दोनों एक ही शक्ति की दो रूप हैं! किन्तु ऋषि तुमने जो अनृत–वाक्य मुझ से कहा, क्लेश तो उसी पर है। तुम्हारे केवल एक झूठ बोलने से भावी–जन निश्चय ही असत्य–वादी होंगे। मलिन होने से, लोक–लोकान्तरों में वे अपूजनीय सिद्ध होंगे।"

* * *

तब वे सती और लक्ष्मी, एक स्वरूप हो गम्भीरा नाम से मन्द मन्द गति में बहने लगीं। क्रमश: दिति अदिति त्रिकोटी–शची–शक्रपथा–चन्द्रवती आदि को लेकर शारदापुर के समीप वृहत छायायुक्त चिनार वृक्ष तले सिन्धु के साथ आ भेंट की। राजन! यही पुण्य प्रयाग है।

वितस्ता के जल के साथ सिन्धु का संगम इस प्रकार हुआ जैसे लावण्ययुक्त रूप, शील युक्त श्रुत और शौर्य युक्त विनय, धन के संग औदार्य्य एवं विजय के साथ पौरुष हो। और हे राजन। जैसे आयु वित्त के साथ, एवं कनक और रत्न तथा लाभ के संग, सम्मान का मेल है।

मधुमती, कनकवाहिनी आदि के मधुर जल से मिश्रित, पवित्रता की मूर्ति–तपन–सुता गंगा ने धीरे से आकर अपने को वितस्ता में अर्पण कर दिया। मन्दाकिनी की शीतल धारा को इस प्रकार अपने में चुपचाप विलीन होते देख वितस्ता का हृदय उमड़ आया अत्यन्त स्नेह से बोलीं। "देवि चिन्ता न करो! जैसे तुम्हारा नाम यहाँ मिट गया है वैसे ही एक दिन मेरा नाम भी महा सिन्धु में जाकर विलीन हो जाएगा। हम लोगों का यही सनातन धर्म है।"

सती को सरस्वती के साथ ऐसे घनिष्ट वार्तालाप में निमग्न, पुन: महा-पद्म सर को बार–बार आलिंगन करते देख कश्यप बोले, "सुभगे! अब तुम हिमाचल का मोह त्याग–शिला-मार्ग से होती हुई शीघ्र ही भूतल पर चली जाओ, अन्यथा यह देश पुन: जलमय हो जाएगा।"

पांगला और आवत्ता नामक ग्रामों में पहुँच कर उसे कुछ कौतूहल सूझा और वह अद्वि-विक्रया तथा मुखचेश से वहाँ के बालकों को डराने लगा। उसे फिर अपमानित होना पड़ा। चोराय सन्निवेश में किसी मंडप में भोजन तैयार होते देख गोशाल उसे उचक उचक कर देखने लगा। उसे फिर मार खानी पड़ी।

इस प्रकार थोड़े ही दिनों मे गोशाल ने अनुभव कर लिया कि वह स्वतंत्र नहीं है और वह ज़रा भी कुछ कहता सुनता है तो उसका निरादर होता है। तथा महावीर शात रहते हैं और वे उसकी ज़रा भी सहायता नहीं करते। एक दिन तग आकर उसने महावीर से कह दिया कि वह उनके साथ नहीं रहना चाहता। बस, गोशाल महावीर का साथ छोड़ कर चल दिया।

संयोगवश कुछ दूर जाने पर गोशाल को चोरों ने घेर लिया और उसे नग्न श्रमण समझ कर उसकी खूब मरम्मत की। गोशाल को बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा इससे अच्छा तो महावीर के ही साथ रहना था। उसने उन्हें खोजना शुरू कर दिया और छः महीने बाद उनसे मुंगेर (भद्दिय) मे आ मिला।

कुंडाग सन्निवेश पहुंच कर दोनों वासुदेव के मंदिर में ठहरे। गोशाल प्रतिमा के मुंह में पुरुषचिह्न देकर क्रीड़ा करने लगा। मद्दणा में भी गोशाल ने यही कृत्य किया। दोनों जगह गोशाल को मार खानी पड़ी। उन्नाट (संभवतः पुरुलिया और गोमोह के पास का कोई प्रदेश) पहुंचने पर गोशाल ने बड़े-बड़े दाँतों वाले वर-वधू को देख कर उनके साथ हँसी-ठट्ठा किया, तथा गोमोह (गो भूमि) में वहाँ के ग्वालों को म्लेच्छ कह कर बुलाने लगा। उसे फिर अपमानित होना पड़ा।

एक बार दोनों सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम जारहे थे। मार्ग में एक तिल के पौधे को देखकर गोशाल ने महावीर से प्रश्न किया कि क्या यह पौधा नष्ट हो जायगा? महावीर ने उत्तर दिया कि पौधा नष्ट नहीं होगा। परन्तु गोशाल ने इस बात की परीक्षा करने के लिए पौधे को तोड़ कर फेंक दिया।

तत्पश्चात् कूर्म ग्राम से सिद्धार्थपुर लौटते समय गोशाल ने तिल के पौधे की ओर लक्ष्य किया। वर्षा होने के कारण वह पौधा फिर से हरा हो गया था। गोशाल को निश्चय हो गया कि मनुष्य का बल-पराक्रम तथा बुद्धि और कर्म सब निष्फल होते हैं तथा सब सत्व, प्राणी, भूत, जीव नियति के वश हो कर प्रवृत्ति करते हैं और नाना जन्मों में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। गोशाल ने निर्णय कर लिया कि जीवन का रास्ता नपा-तुला है, पाप और पुण्य उसमें कोई अन्तर नहीं डाल सकते, क्योंकि समस्त जीव अवश, दुर्बल और निर्वीर्य हैं तथा सब भवितव्यता के आधीन हैं।

२४ वर्ष की कठिन साधना के पश्चात् गोशाल को ज्ञान की लब्धि हो गई। उसने महावीर का संग छोड़ दिया और वह अपना संघ स्थापित कर अपने शिष्यों सहित श्रावस्ती में विहार करता हुआ नियतिवाद का प्ररूपण करने लगा।

एक बार की बात है, गोशाल श्रावस्ती की परम आजीविक-उपासिका हालाहला नाम की कुंभारी की कुम्भकारशाला में ठहरा हुआ था। उस समय उसके पास छः दिशाचर (महावीर अथवा पार्श्वनाथ के शिष्य) आये। गोशाल ने उनके समक्ष अपने आपको जिन घोषित किया। संयोग से महावीर भी उन दिनों श्रावस्ती में ठहरे हुए थे। उन्होंने गोशाल के जिन होने का विरोध किया और उसे जिनापलापी बताया। यह सुन कर गोशाल को बहुत क्रोध आया। उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर धमकी दी कि वह उसके गुरू को अपने तेजबल से नष्ट कर देगा। आनन्द दौड़ा हुआ महावीर के पास आया और उन्हें सब हाल कह सुनाया।

महावीर ने कहा कि अवश्य ही गोशाल बहुत तेजस्वी है और उसमें इतनी शक्ति विद्यमान है कि वह अंग, बंग, मगध, मलय, मालव, अच्छ (बुलन्दशहर के आसपास का प्रदेश), वच्छ (वत्स), कोच्छ (संभवत: पूर्णिया जिले में कौशिकी नदी के पूर्व में स्थित कौशिकी कच्छ), पाढ (संभवत: मैनपुरी जिले का पाढम स्थान), लाढ (राढ), वज्ज (वज्जी), मोलि (मल्ल), कासी, कोसल, अवाह (?) और संभुत्तर (सुह्मोत्तर=सुह्म का उत्तर भाग) इन १६ जनपदों को भस्म कर सकता है। परन्तु वह उसका (महावीर का) कुछ नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि उसका तप-तेज गोशाल के तेज से कई गुना बढ़ कर है। महावीर ने आनन्द को भेज कर गौतम (महावीर के प्रधान शिष्य) आदि श्रमण निर्ग्रंथों को इस बात की खबर करा दी और उन्हें गोशाल के साथ वाद-विवाद न करने के लिए सावधान कर दिया।

महावीर का कोई उत्तर न पाने पर गोशाल स्वयं कोष्ठक चैत्य की ओर चला जहाँ महावीर ठहरे हुए थे। वह उन्हें संबोधित कर कहने लगा—"हे काश्यप, तू मुझे अपना शिष्य कहता है परन्तु तेरा शिष्य मंखलि-पुत्र गोशाल तो बहुत पहले मर चुका, मैं कोण्डिन्यायन गोत्रीय उदायी हूं।" महावीर ने उत्तर में कहा—"गोशाल यह तेरा मिथ्या अपलाप है, तू अपने आपको छिपा रहा है।" सुनते ही गोशाल आग बबूला हो गया और महावीर को आक्रोशयुक्त वचन कहने लगा। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नाम के महावीर के दो अनगार शिष्यों ने बीच-बचाव करना चाहा परन्तु गोशाल ने उन्हें ज़िन्दा नहीं छोड़ा।

तत्पश्चात् गोशाल ने महावीर के ऊपर प्रहार किया और उनसे कहने लगा—"तू मेरे तेज से अविभूत हो कर पित्त ज्वर से पीड़ित हो छः मास के भीतर मृत्यु को प्राप्त होगा।" महावीर ने चुनौती स्वीकार करते हुए कहा—"तेरी तेजोलेश्या का मुझ पर कोई प्रभाव न होगा, मैं अभी १६ वर्ष और जीवित रहूंगा। परन्तु तेरा अवश्य सात दिन के अन्दर प्राणान्त हो जायगा।"

समान तेज वाले दो तीर्थंकरों की कलह का समाचार श्रावस्ती में फैलते देर न लगी। कोई महावीर को सम्यग्वादी कहता, कोई मंखलि पुत्र गोशाल को। नगरी के सब नर-नारी इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि देखें दोनों में कौन जीतता है और किसकी भविष्यवाणी सची उतरती है।

महावीर ने पूरी शक्ति लगाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रहार को रोक कर आत्मरक्षा की। गोशाल अधिक समय तक न टिक सका। वह आहत हुआ और उसका अन्तिम समय आ पहुंचा। उसने अपने स्थविरों को बुला कर उन्हें आदेश दिया—"हे स्थविरो, मेरे मरने के पश्चात् तुम लोग सुगंधित जल से मुझे स्नान कराकर, गोशीर्ष चन्दन का मेरे शरीर पर अनुलेपन कर, बहुमूल्य वस्त्रालङ्कारों से मुझे विभूषित कर, शिविका में लिटा कर मुझे श्रावस्ती में घुमाना और घोषणा करना कि २४ तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर गोशाल ने समस्त दुःखों का नाश कर सिद्धि प्राप्त की है।"

कुछ समय पश्चात् श्रावस्ती से विहार कर महावीर मेंढिय ग्राम पहुंचे। उनके शरीर में तीव्र वेदना होने लगी और दाहज्वर के कारण उन्हें खून के दस्त लग गये। लोग कहने लगे कि गोशाल के तपतेज का महावीर के शरीर पर असर हो रहा है, और अब वे शीघ्र ही कालधर्म को प्राप्त होंगे। यह सुन कर महावीर का शिष्य सिंह अत्यन्त रुदन करने लगा। वह महावीर के पास पहुंचा। महावीर ने उसे समझाया कि अभी वे १६ वर्ष तक जीवित रहेंगे, इसलिए उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। इसके बाद महावीर ने

आजीविकों की ८४ लाख महाकल्प की मान्यता के संबंध में टीका लिखते हुए ११ वीं सदी के विद्वान् अभयदेव सूरि तत्संबंधी अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए लिखते हैं—...इत्यादि गोशालक सिद्धान्तार्थ: स्थाप्यो, वृद्धैरपि अनाख्यातत्वात्। आह च चूर्णिकार:—संदिद्धत्ताओ तस्स सिद्धांतस्स न लक्खिज्जइ (भगवती १५)। बौद्ध टीकाकार बुद्ध घोष ने मक्खलि शब्द की बड़ी विचित्र और असंभावित सी व्युत्पत्ति दी है। उनके कथनानुसार गोशाल किसी सेठ के घर नौकरी करता था। एक बार वह तेल का बरतन लिये आ रहा था। सेठ ने उसे पहले ही सावधान कर दिया था कि गिरना मत (मा खलि)। परन्तु मार्ग में बहुत कीचड़ थी इसलिये पैर रपट जाने से वह फिसल कर गिर पड़ा। गोशाल के गिरने से तेल का बरतन फूट गया। गोशाल डर कर भाग गया। परन्तु सेठ ने भागते हुए का कपड़ा पकड़ लिया। गोशाल अपने कपड़े की परवा न कर कपड़ा वहीं छोड़ कर नंगा भाग गया। संभवत: इसी समय से गोशाल नग्न रहने लगा। जैन टीकाकार मणिभद्र आजीविकों को बौद्धों का पर्यायवाची मानते हैं। इन सब उल्लेखों से यही मालूम होता है कि ज्यों ज्यों आजीविक धर्म का ह्रास होता गया, इस धर्म के सिद्धांत दुरूह होते गये, और फलत: जैन और बौद्ध टीकाकारों को अर्थ के समझाने में खींचातानी से काम लेना पड़ा। आगे चल कर तो उत्तरवर्ती जैन शास्त्रों में मस्करी (मंखलि गोशाल) को अज्ञानी मिथ्या दृष्टि स्वीकार कर इस सम्प्रदाय की चर्चा को ही समाप्त कर दिया गया।

उपर्युक्त कथन से गोशाल और महावीर की सिद्धातों की समानता स्पष्ट समझ में आ जाती है। इन समानताओं के बल पर ही प्रोफेसर जैकोबी यह अनुमान करने के लिये बाध्य हुए जान पड़ते हैं कि महावीर ने गोशाल की अचेलकता को अपने धर्म में अंगीकार किया है, क्योंकि महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ अचेलकता (सवस्त्रता) का उपदेश करते थे, तथा इस प्रकार आपस में समझौता करके महावीर अपने और गोशाल के धर्म का समन्वय करना चाहते थे। दुर्भाग्य से आजीविक साहित्य× के अभाव में इस संबंध में विशेष जानने के साधन इस समय हमारे पास नहीं हैं। परन्तु इतना तो निश्चित है कि महावीर और गोशाल ने कई वर्षों तक साथ साथ भ्रमण किया, विशेष कर जब कि दोनों साधक अवस्था में थे। इस दीर्घ काल में अवश्य ही दोनों में विचारों का आदान प्रदान हुआ होगा जिसमें अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा होना अवश्यंभावी है। एक दूसरे के आचार-व्यवहार और व्यक्तित्व से भी दोनों प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। संभवत: महावीर और गोशाल नग्नत्व और देह दमन आदि के संबंध में एकमत रहे हों, परन्तु गोशाल ने जब नियति वाद का आश्रय लिया तो महावीर उससे पृथक् हो गये हों।

× मल्लिषेण की स्याद्वाद मंजरी में उद्धृत एक श्लोक से इस सम्प्रदाय के विपुल साहित्य का पता लगता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि आजीविक लोग मुक्ति से पुनरागमन स्वीकार करते थे।

प्राचीन भारतीय व्यापारिक-श्रेणी

श्री वासुदेव उपाध्याय एम. ए.

प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से सर्व साधारण को सभ्यता की सर्वतोमुखी उन्नति का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक दिशा में भारतीय संस्कृति चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी, और देश के बाहर भी उसका प्रभाव विस्तृत हो गया था। विद्वानों का मत है कि व्यापार के निमित्त ही भारतवासी पुराने समय में बृहत्तर भारत में गये थे और धर्म तथा कला आदि को फैलाया था। पूर्वी भारत से चीन तक तथा पश्चिम से एशिया माइनर, अफ्रीका तथा योरप के किनारे तक भारतीय जहाज़ माल लेकर जाया करते थे। भारत के प्राचीन व्यापार का वर्णन न कर व्यापारिक समुदाय के संगठन तथा कार्य संचालन के विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा। भारत में प्रजातन्त्र शासन पद्धति के अनुसार ही व्यापारिक संघ का संगठन किया गया था। वर्तमान युग की तरह प्राचीन व्यापार पूंजीपतियों के हाथ में न था परन्तु राष्ट्रीय धन का समान रूप से बँटवारा करने के लिए एक संस्था संगठित की गई थी जिसे श्रेणी कहते थे। उसी के द्वारा व्यापार का कार्य संचालित किया जाता था और पूरे धन को जनता में उचित ढंग से वितरित किया जाता था। अर्थशास्त्र के पण्डितों से यह छिपा नहीं है कि भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से कितना उन्नत देश समझा जाता था और स्थान स्थान पर व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये गए थे। राजा उस स्थान के व्यापारिक संघ (श्रेणी) पर देश की आर्थिक नीति का भार छोड़ देता था जो प्रजातन्त्र के ढंग पर योजनाओं को सफल बनाने का प्रयत्न करता और समस्याओं को अच्छे प्रकार से सुलझाया करता था। केन्द्रीय सरकार को व्यापार की चिन्ता न करनी पड़ती थी। संघ के सभासद व्यवसायी जनता के प्रतिनिधि होते थे जो नीति निर्धारित करते रहे। श्रेणी का संगठन कार्य आदर्श रूप से होता रहा जिस कारण सभी लोगों का उन पर विश्वास हो जाता। यही कारण था कि शासक भी उस संघ के कार्य में हस्तक्षेप न करता बल्कि उनसे स्वयं शासन कार्य में सहायता लिया करता था।

श्रेणी का आरम्भ

भारतवर्ष के सामाजिक जीवन में अर्थ की प्रधानता मानी गयी है और इसलिये ऋषियों ने धर्म के बाद ही अर्थ का स्थान निश्चित किया है। इसी कारण धार्मिक साहित्य में अर्थ की चर्चा सदा मिलती है। भारत के ऐतिहासिक युग से लेकर मध्यकालीन साहित्य में श्रेणी तथा अर्थ का उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन उत्कीर्ण लेखों में व्यापारिक श्रेणी का वर्णन स्थान स्थान पर मिलता है। साहित्य की चर्चा को लेख पुष्ट करते हैं। उस समय के ग्रंथों में उल्लिखित श्रेणी नाम से ही आर्थिक संस्था का ज्ञान हो जाता है। उसका विधान ईसा पूर्व सदियों से साहित्य में भरा पड़ा है। गौतम धर्म सूत्र में श्रेणी को एक नियम बनाने वाली संस्था कहा गया है जो संघ व्यापार के लिये विधान तैयार करता रहा होगा। धर्म शास्त्रों के अतिरिक्त व्याकरण ग्रंथ अष्टाध्यायी में श्रेणी शब्द का प्रयोग मिलता है जिसे पाणिनि ने सुव्यवस्थित व्यापारिक संस्था माना था। कौटिल्य ने भी इसे राष्ट्र के अर्थ संग्रह का साधन माना है।

एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी ।

उसे एक प्रकार के व्यवसायिक लोगों के समूह से सम्बोधित किया है। प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन का वर्णन करते हुए स्मृतिकारों ने श्रेणी के महत्व को समझा था तथा आर्थिक दृष्टि से उनके कार्य को प्रधान समझ कर गम्भीरता पूर्वक विचार किया था। मनु से लेकर वृहस्पति तक सभी ने श्रेणी के कानून का आदर किया था स्मृतियों में ऐसा वर्णन आताहै कि राजा भी व्यापारिक नियमों का आदर ही न करे बल्कि ऐसी व्यवस्था करे कि सरकारी नियमों से श्रेणी के कानून को किसी प्रकार से व्याघात न हो—

जाति जान पदान धर्मान् श्रेणी धर्मांश्च धर्मवत्
समीक्ष्य कुलधर्मोश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् (मनु ८।४१)
पाषण्ड नैगम श्रेणी पूगव्रात गणादिषु
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा । (नारद स्मृति १०।२)

महाभारत में भी इस प्रकार का वर्णन आता है कि जनता तथा राजा के कार्यों पर श्रेणी का सामाजिक दबाव रहता था उसी तरह जातक ग्रंथों में श्रेणी के विभिन्न कार्यों का वर्णन किया गया है । उसी संस्था के द्वारा हस्तकला तथा अन्य व्यवसायिक कार्यों का समुचित निरीक्षण किया जाता था और प्रत्येक विभागमें इसके सदस्य काम करते थे । उस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि श्रेणी का व्यापार भारत में ही सीमित न था वरन् अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर सामुद्रिक मार्ग से व्यापार किया जाता था। इतिहास के अनुशीलन से पता लगता है कि ईसा पूर्व सदियों से श्रेणी नामक संस्था कार्य करती रही। आंध्र, शक, गुप्त तथा मध्य कालीन लेखों में इस बात का अत्यधिक उल्लेख मिलता है कि विभिन्न व्यवसायिक नाम से श्रेणी कार्य करती रही, जैसे–तैलिक श्रेणी, तंतुवाय श्रेणी, धान्य श्रेणी, गन्धिक श्रेणी आदि आदि । तात्पर्य यह है कि विभिन्न नामों से संस्थायें (श्रेणियां) देश का व्यापारिक कार्य हाथों में ले चुकी थी। उनका कार्यालय था और मिट्टी की मुहरें बनी थीं जो खुदाई में मिली हैं। पांचवीं सदी में सार्थवाह तथा कुलिक से भी उल्लेख मिलता है जिसके कार्यों का वर्णन गुप्त लेखों में मिलता है गुप्त युग के मंदसोर वाले लेख से और दामोदरपुर ताम्रपत्रों से इस कथन को प्रमाणित किया जा सकता है। दशपुर में पटकार श्रेणी के निवास करने व्यापारिक कार्य तथा श्रेणी बैंक का विवरण पाया गया है। इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि उन संस्थाओं के स्थान परिवर्तन करने पर भी जनता का विश्वास उसी प्रकार बना रहता था। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के इंदौर ताम्रपत्र में श्रेणी के सम्बन्ध में अनेक बातें उल्लिखित मिलती हैं। इस तरह मौर्यकाल से मध्ययुग तक यानी ईसा पूर्व ३०० से १२०० तक भारत के आर्थिक उत्थान में श्रेणियों का प्रधान हाथ रहा । दक्षिण भारत के तामिल कवियों ने भी ऐसा ही गान किया है।

श्रेणी का विधान

यह कहा गया है कि श्रेणी एक प्रजातन्त्र ढंग की संस्था थी जिसकी कार्यकारिणी में तीन या पांच सदस्य होते थे। उनका चुनाव साधारण सदस्यों द्वारा होता था। इसमें किसी विशेष जाति के लोगों के लिए स्थान सुरक्षित न रहता था। सरकारी नौकर भी उसकी सदस्यता के लिए खड़े हो सकते थे । नारद स्मृति में इसी प्रकार के विचार को व्यक्त किया गया है। पांचवीं सदी के गुप्त सम्राट् कुमार गुप्त प्रथम के मंदसोर लेख में वर्णन आता है कि दशपुर की श्रेणी संस्था में योद्धा, ज्योतिषी तथा अन्य विद्वान भी सदस्य थे।
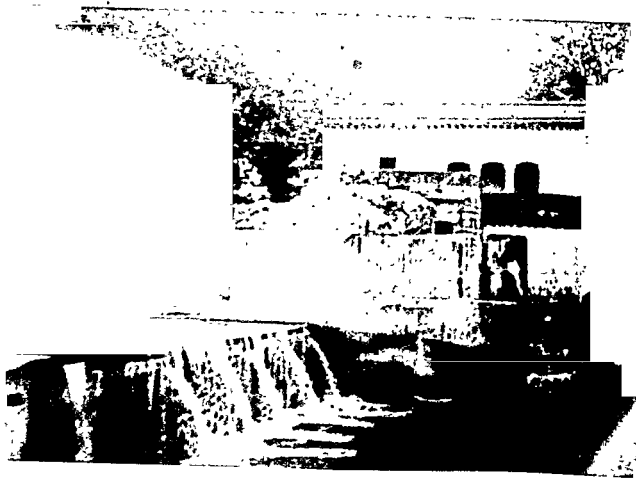
कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) का जलप्रपात

विनय निभृतास्सभ्य गधर्म प्रसंग, परायणाः
प्रियभ परुषं पथ्यं चान्ये क्षमा वहु भाषितु ।
केचित्स्व कर्मण्यधिकाः तथान्यैः
विज्ञायते ज्योतिममात्मवद्भिः ।
(मंदसोर का लेख)

श्रेणी के प्रधान को सेट्ठी कहते थे (जिसका विकृत रूप सेठ बन गया।) जो राजा की ओर से जनता का प्रतिनिधि समझा जाता था और विषयपति (जिलाधीश को) शासन में सहायता किया करता था। इसकी सम्मति लेकर राजा शुल्क (चुंगी) का दर निश्चित करता था। वही श्रेणी के बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता था। इस प्रकार का वर्णन स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्रपत्र में आता है जहां जीवन्त तैलिक श्रेणी की बैठक का प्रधान बनकर कार्य संचालित करता रहा। सुसंगठित संस्था होने के कारण श्रेणी नियम बनाया करती थी जो समय के नाम से स्मृति ग्रंथों में मिलता है। सभी सदस्यों को समय के अनुसार कार्य करना पड़ता था और श्रेणी के नियमों का राजा भी आदर करता था।

संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा ।
(नारद १०।२)

जो सदस्य इन समय का उल्लंघन करता था वह नैगम सभा से निकाल दिया जाता था। इस कपट के कारण यदि कुछ हानि होती थी तो उस सदस्य को ग्यारह गुना दण्ड दिया जाता था।

"समूह कार्य प्रहितो यदलभेत तदर्पयेत्
एकादश गुणं द्राप्यो येद्यसौ नार्पयेत्स्वयम्" (याज्ञ० २।१९०)

प्राचीन स्थानों की खुदाई में मिट्टी की ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर श्रेणी का नाम अंकित है। "कुलिक निगमस्य" ऐसे उल्लेख मिले हैं। भीटा तथा वैशाली से ऐसी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर श्रेणी का नाम मिलता है। इन सब बातों से नियम बनाने तथा समूह के रूप में कार्य करने से श्रेणी विधान का प्रश्न हल हो जाता है और संदेह का स्थान नहीं रह जाता। श्रेणी का समय (नियम) सर्वदा कानून माना जाता था। बृहस्पति ने इस बात की चर्चा की है कि सभी सदस्य उस नियम से शासित होते थे। जो कोई कार्य होता था वह संस्था के नाम पर किया जाता था। राजा द्वारा धन उधार देने पर वह समूह कोष समझा जाता था और उस धन से लाभ हानि सब की जिम्मेदारी का कारण माना जाता था। किसी सदस्य द्वारा समझकर समूह कोष की हानि करने पर श्रेणी उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लेती थी और उस पर मुकदमा चलाया जाता था। नये व्यक्ति को अन्य सदस्यों के समान धन देने पर श्रेणी का नियमतः सदस्य घोषित किया जाता था। इतना ही नहीं सामूहिक कार्य का विचार इतना गहरा था कि श्रेणी के सदस्य उनके द्वारा किये गये पुण्य तथा पाप के भागी समझे जाते थे। स्मृतियों में वर्णन मिलता है कि सर्व सम्मति से श्रेणी के कार्य किये जाते थे। उनके नियम पालन के भाव को देख कर राजा सेट्ठी से सलाह भी लिया करता था और उस संस्था के सदस्य सलाहकार समिति के सदस्य भी बनाये जाते थे। इन सब विवरण के सम्मुख श्रेणी के विधान बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

श्रेणी का न्याय कार्य

राजनैतिक ग्रन्थों में चार प्रकार के न्यायालय का वर्णन मिलता है जिसमें श्रेणी को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था।

नृपेणाधिकृता पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च
पूर्वं पूर्वं गुरुज्ञेयं व्यवहार विधौ नृणाम् (याज्ञ० २।३०)

इस वर्ग के समस्त अपराधों का विचार इसी संस्था के ऊपर था। इस व्यापारिक संस्था के सदस्यों का जूरी के सामने अपना वक्तव्य देना पड़ता था। न्यायालय में विचार करने के पश्चात् दोषी को यह अधिकार था कि वह निगम से ऊँचे न्यायालय में मुकदमे की अपील करे। पर साधारणतः श्रेणी के न्याय को सभी मानते थे। कभी कभी संस्था के सदस्य को ऊँचे न्यायालय में जाना पड़ता था। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी संस्था के सीमा से बाहर जाति के मुकदमों में भी श्रेणी भाग लिया करती थी। यद्यपि सरकार से उसे कोई अधिकार-पत्र प्राप्त नहीं था तो भी वह अधिकार पूर्वक सब कार्य करती रही। साधारण सदस्य के अतिरिक्त मुख्य सेट्ठी को भी दण्ड देने की बात उल्लिखित की गई है। कात्यायन ने ऐसे विचार प्रकट किये हैं जिसकी पुष्टि याज्ञवल्क के टीकाकार मित्र मिश्र ने किया है। इस वर्णन से पता लगता है कि प्राचीन ऋषियों ने राजनीति में शक्ति का विकेन्द्रीयकरण अच्छे ढंग से किया था। केन्द्रीय नीति सारी बुराइयों की जड़ है अतएव देश को अधःपतन से बचाने के लिए प्राचीन नीतिकारों ने शासन को स्थान स्थान पर विभक्त कर दिया था।

जहाँ तक व्यापार का सम्बन्ध है, सरकार सुरक्षा तथा शांति स्थापना के अतिरिक्त आर्थिक उन्नति में भी लगी रहती थी। बौद्ध जातकों में श्रेणी को ही व्यापार की मुख्य संस्था कहा गया है जो स्थल तथा जलमार्ग से व्यापार करती थी। श्रेणी को विभिन्न कार्यों के अनुसार नाम भी दिया गया था। मनु तथा बृहस्पति ने वर्णन किया है कि राज्य में सभी प्रकार की दस्तकारी तथा व्यवहारिक कार्य के लिए सुविधा थी, इसलिए बढ़ई, कलाकार, व्यापारी तथा महाजन (रुपया उधार देने वाला) आदि संगठित रूप से कार्य करते रहे। सबने अपने लिए नियम बना लिया था। अन्य श्रेणियों को काम करने की स्वतन्त्रता थी। राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए सभी प्रयत्नशील थे। अतएव संस्थायें व्यापार तथा व्यवसाय में लग गई थीं। स्थानीय व्यापार के अतिरिक्त विदेश से भी सम्बन्ध था। इसी कारण विदेश में भारतीय उपनिवेश बने और संस्कृति का प्रसार हुआ। जावा द्वीप में इस प्रकार की किंवदन्ती मिलती है कि भारत से आकर व्यापारियों ने वहाँ उपनिवेश बसाये और सामुद्रिक व्यापार करते रहे। वहां के लेखों में भी ऐसी बातें पाई जाती हैं जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। स्मृति ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिसमें व्यापार के लाभ को समविभक्त करने का विवरण मिलत है। व्यापार की रक्षा करने के लिए संघ (श्रेणी) की ओर से सैनिक नियुक्त किए जाते थे। इस प्रकार श्रेणी की उन्नति में देश का अभ्युदय निहित था।

श्रेणी का बैंक कार्य

प्रजातन्त्र ढंग पर कार्य करने से श्रेणी पर जनता का विश्वास रहता था। इस कारण अपने धन को श्रेणी के पास जमा कर देते जो उन्हें सूद दिया करती थी। प्राचीन लेखों में ६ से १२ फीसदी तक सूद दर का उल्लेख मिलता है। परन्तु अधिकतर दान के धन अथवा वस्तु को श्रेणी के पास जमा कर दिया जाता और कथित ढंग से उसकी आय (सूद) को व्यय किया जाता था। कम सूद का दर बैंक के स्थिरता का द्योतक था। प्रजा से लेकर राजा तक श्रेणी बैंक में ही रुपया जमा करते थे। भारत की प्रशस्तियों से इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जमा किये गये धन दो प्रकार के होते थे। (१) सामाजिक—जिसमें व्यक्ति को सूद मिलता और (२) दान धन या अग्रहार भूमि। दूसरे प्रकार के धार्मिक धन के सूद को इकरारनामे के अनुसार खर्च किया जाता था, जैसे देवमंदिर में पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य का व्यय। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के लेखों में

वर्णन आता है कि दाननिधि से देवता के लिए दीप का प्रबन्ध किया जाता था। मध्यकालीन लेखों में इस प्रकार के वर्णन भरे पड़े हैं और अनगिनत प्रशस्तियों में देव पूजा का उल्लेख मिलता है। इससे पूर्व आंध्र-कालीन श्रेणी भी बैंक का काम करती रही। शक राजा उषवदत्त के नासिक लेख में पटकार समिति के पास दो हजार कार्षापण (सिक्के) जमा करने का वर्णन मिलता है। उस धन से मठ के साधुओं को भोजन तथा औषधि दी जाती थी। इस तरह के धन को श्रेणी व्यापार में भी लगा देती थी और उस व्यक्ति को वार्षिक सूद दिया करती। लेखों के अध्ययन से प्रकट होता है कि साधारण व्यक्ति से लेकर संस्था तक श्रेणी-बैंक में धन जमा करते थे। कभी कभी पशुओं के देने की बात लिखी है। इतना ही नहीं, श्रेणी सार्वजनिक कार्य भी करती थी जैसे मन्दिर बनवाना, तालाब खुदवाना या मार्ग तैयार करना। पाँचवीं सदी के मंदसोर के लेख में श्रेणी द्वारा सूर्यमंदिर के जीर्णोद्धार का वर्णन मिलता है। संक्षेप में श्रेणी के बैंक कार्य की जानकारी अधिकतर लेखों में मिलती है।

सिक्के तैयार करने वाली संस्था

विद्वानों में इस विषय पर मतभेद रहा है कि पुराने सिक्कों को किसने प्रचलित किया था। इसको सभी मानते हैं कि सिक्के तैयार करने में राजा का कोई हाथ न था। इसको मुद्रित करने का भार सार्वजनिक संस्था पर छोड़ दिया गया था जो देश की आर्थिक नीति स्थिर करती रही। तक्षशिला में निगम की एक मुद्रा मिली है जिसको श्रेणी का सिक्का कहा जाता है। उस पर ब्राह्मीलिपि में लेख खुदा है जिससे यह सिद्ध होता है कि वह ईसवी पूर्व में चलाया गया था। रोहतक में सिक्का तैयार करने का साँचा भी मिला है। इस कारण सन्देह का कोई कारण नहीं रह जाता कि प्राचीन समय में व्यापार की सुविधा के लिए सिक्के तैयार किये गए थे। सिक्कों के इतिहास से पता चलता है कि सिक्कों का प्रचार व्यापार की उन्नति का द्योतक था। श्रेणी द्वारा ही प्राचीन कार्षापण तैयार किये जाते थे। उन पर विभिन्न चिन्ह यह सिद्ध करते हैं कि उनकी शुद्धता की परीक्षा कर श्रेणी द्वारा चिन्ह अंकित किए जाते थे। प्रत्येक श्रेणी एक चिन्ह खुदवा देती थी जिस कारण उन कार्षापण पर अनेक चिन्ह मिलते हैं।

श्रेणी द्वारा व्यवहारिक शिक्षा

यह संस्था व्यापार के अतिरिक्त अपने व्यवसाय की भी शिक्षा दिया करती थी। *प्रत्येक श्रेणी के सदस्य अपने बालकों को किसी कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए पाठशाला में भेजा करते थे। यह बालक संरक्षकों की आज्ञानुसार उस विद्यालय में जाता और विद्यार्थी के रूप में नियमित समय तक शिक्षा ग्रहण करता था।

स्वशिल्पमिच्छन्ना चहतुं बांधवा नामनुज्ञया
आचार्यस्य वसे दन्ते कालं सुनिश्चितम् (नारद ५।१६)
कृतशिल्पोऽपि निवसे त्कृतकालं गुरोगृहे (याज्ञ० २।१८४)

वहां विद्यार्थी गुरुगृह में निवास करता था और आचार्य शिष्य को पुत्रवत् व्यवहार करता था। विशिष्ट कला का ज्ञान बालक को निश्चित समय तक दिया जाता था। प्राचीन गुरुकुल का ढंग होने पर भी विद्यार्थी से दूसरा काम नहीं लिया जा सकता था।

आचार्यः शिक्षायेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्
न चान्यत्कार येत्कर्म पुत्रवत् चैनमाचरेत् (नारद ५।१७)

निर्धारित समय तक उस कला को सीख कर बालक अपने घर वापस चला जाता था—

गृहीत शिल्पः समये कृत्वा आचार्य प्रदक्षिणाम् । (नारद)

इस प्रकार स्मृतियों तथा लेखों के आधार पर व्यवहारिक शिक्षा की जानकारी की जाती है। दस्तकारी का काम सिखलाने के लिए नवसिखुये सीमित संख्या में भरती किए जाते थे। वह शिक्षा कार्य शर्तनामे के अनुसार संचालित किया जाता था। जब कभी सार्वजनिक सभायें होती थीं तो प्रत्येक संस्था के विद्यार्थीगण अपने झण्डे के साथ जुलूस में जाया करते थे। इन सब बातों से उनकी शिक्षा पद्धति का ज्ञान होता है।

साराश यह है कि प्राचीन भारत में व्यापारिक संस्था-श्रेणी प्रजातन्त्र ढंग पर कार्य करती थी। श्रेणी पर केन्द्रीय शासन का कोई नियन्त्रण न था और वह पूर्ण स्वतन्त्र होकर देश के धन धान्य की उन्नति पर विचार करती थी। व्यापार, विधान, न्याय तथा अन्य प्रबन्ध में किसी प्रकार की बाधा न थी। सर्वसाधारण उसमें भाग लेता और धन संग्रह करता था। धन के बटवारे के कारण सभी वैभवयुक्त थे। डा० कुमारस्वामी ने लिखा है कि प्रत्येक जाति या व्यवसायी संघ प्रजातन्त्र तथा सामाजिक भावों को लेकर संस्था के रूप में व्यवस्थित किया गया था। जातीय सुधार तथा ग्रामीण व्यवसाय उसी में सन्निहित था। इस कारण सच्ची उन्नति होती थी। स्वतन्त्रता तथा स्वशासन के कारण ये संघ (श्रेणी) उन्नति तथा आदर्श मार्ग का अवलम्बन करते थे। इसी कारण श्रेणी शक्तिकेन्द्र तथा समाज का आभूषण बन गयी थी। शासन के केन्द्रीभूत होने से व्यापारिक संस्थायें नष्ट हो गयीं और देश का व्यापार जनता के हाथों से निकल कर पूंजीपतियों के हाथ में आ गया। वर्तमान गरीबी का यह एक मुख्य कारण है। पुराने समय में जनहित की बातों को सोच कर उस तरह की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन ढंग के विनष्ट हो जाने से समाज की अवनति होती गई और मज़दूर तथा मालिक (पूंजीपति) का झगड़ा खड़ा हो गया।

हिमाञ्चल की चित्रकला

श्री नानालाल सी० मेहता, आई० सी० एस०

१५ अप्रैल, १६४८ को हिमाञ्चल प्रदेश की रचना हुई। इसकी जनसंख्या लगभग दस लाख, क्षेत्रफल १०,६०० वर्गमील तथा २१ राज्यों का सम्मिश्रण है। इसमें कई ऐतिहासिक राज्य सम्मिलित हैं, जैसे चम्बा, मण्डी, सुकेत, नहन और बशह। टेहरी गढ़वाल राज्य उत्तरप्रदेश में मिल गया। काँगड़ा पूर्वी पञ्जाब में सम्मिलित है। पर, यह सत्य है कि टेहरी गढ़वाल, काँगड़ा और कुलू के लोगों की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन और बोलचाल में जितनी आत्मीयता तथा समानता है, उनकी दृष्टि से इन्हें एक साथ ही रहना चाहिये था।

१८ वीं सदी के मध्य में ये दुर्गम पहाड़ी राज्य महत्ता को प्राप्त हुए और यहाँ बड़ा सांस्कृतिक आंदोलन शुरू हुआ। चित्रकला के क्षेत्र में इन्होंने विशेष उन्नति की। छोटे छोटे पहाड़ी राज्य थे—आपस में काफ़ी लड़ा करते थे पर वे आगरा तथा दिल्ली के शक्तिशाली राज्य से सदैव अच्छा सम्बन्ध रखते थे। इस राजभक्ति के फलस्वरूप इनको मुग़ल दरबार से बड़ी बड़ी जागीरें और खिल्वतें प्राप्त हुईं। शाही दरबार की रीति रस्म की नकल करने में भी वे पीछे न रहे। मण्डी और सुकेत के राज परिवारों के समान कई पहाड़ी राज्य अपनी वंश परम्परा बंगाल या राजपूताना से बतलाते हैं।

उन दिनों की प्रचलित विवाह प्रथा के कारण इन रियासतों का विवाह सम्बन्ध के कारण राजपूताना तथा सौराष्ट्र के राज्यों का घनिष्ट सांस्कृतिक सम्बन्ध होता गया। अपने राजकीय संरक्षकों के साथ कलाकार भी एक-दूसरे देश जाया करते थे और इस प्रकार इन दरबारों में सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित हो गया था।

१८ वीं शताब्दि के मध्य तक मुग़ल दरबार की कला प्रायः समाप्त हो चुकी थी। केवल अकबर तथा जहाँगीर के युग की प्रतिध्वनि मात्र गूंज रही थी। कलाकारों को अन्य दरबारों में शरण लेनी पड़ी। इसलिये कहीं पर कोई विशेष चित्र मिल जाने से उस स्थान की तत्कालीन प्रचलित कला का बोध नहीं होता। पहाड़ी राजाओं के संग्रहालय में अनेक मुग़ल तथा राजपूती चित्र मिलते हैं। पर, इनमें से बहुत से चित्र अनेक प्रसिद्ध मौलिक चित्रों की साधारण नक़लें मात्र हैं।

कांगड़ा की चित्रकारी

कांगड़ा की चित्रकारी—विशेषकर गुजराती तथा राजस्थानी चित्रकला की परम्परा मुग़ल परम्परा से अधिक पहले की है। इन विषयों में पहाड़ों में जो 'फ़ैशन' आया वह आगरा तथा दिल्ली की राजपूताना तथा गुजरात के दरबारों में की गई नकलों का परिणाम है। जिस प्रकार पश्चिमी हिमालय की पहाड़ी भाषा राजस्थानी से बहुत मिलती जुलती है, उसी प्रकार राजस्थान तथा गुजरात की संस्कृति और पहाड़ी राज्यों की संस्कृति में बड़ा मेल है।

हिमाञ्चल प्रदेश की चित्रकला पर इस खण्ड की विचित्र भौगोलिक रचना का भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। तह पर तह पहाड़ खड़े हैं। कहीं पर बर्फ़ जैसे ठण्ढे पानी का झरना फूटक रहा है, कहीं पर गम्भीर और मौन जंगल खड़ा है। यहां के रहने वालों पर इन नैसर्गिक दृश्यों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। पहाड़ी प्रसन्न वदन और ईमानदार होता है। उसे नाचने और गाने से अनुरक्ति है। प्रकृति-प्रदत्त महान सौंदर्य के बीच में रहने के कारण उसके मन में सौंदर्य के प्रति वास्तविक आंतरिक अभिव्यक्ति हो जाती है। इसीलिए पहाड़ी कला स्वच्छ, सच्ची, भावुक तथा सुन्दर होती है। पहाड़ी स्वभावत: बड़ा धर्म-भीरु होता है। उसके देवता मित्रत.पूर्ण होते हैं। इसीलिए पहाड़ी चित्रकला की मौलिक विशिष्टता है महाभारत, रामायण, गीता, श्रीमद्भागवत् तथा गीत गोविन्द की सहस्रों घटनाओं का सुन्दर चित्रण। १८ वीं सदी के प्रारम्भ में, किसी समय बशोली की चित्रकला का उदय हुआ। इस समय की गीत गोविन्द के वर्णनों की अद्भुत चित्रकारी की पंक्ति की पंक्ति लाहौर के अजायब घर में सुरक्षित है। इन चित्रों को सन् १७३० में मनकू नामक कुशल बहु-कलाविद् ने बनाया था। मनकू अपने को विष्णु का भक्त कहते थे। इस चित्रकार की ख्याति इतनी फैली कि लगभग सौ वर्ष उपरात, टेहरी गढ़वाल के नरेश राजा सुदर्शन शाह के एक चित्रकार ने गीत गोविन्द पर अपने चित्र बनाये, पर चित्रकार का नाम मनकू ही रखा। ये चित्र मनकू के चित्र से भिन्न हैं और अधिक शृंगारपूर्ण हैं। पहाड़ी चित्रकला में बशोली चित्र-प्रणाली सम्भवत: सबसे अधिक मौलिक तथा प्रभावशालिनी है। इसमें शुद्ध रंगों का चमत्कार है। बड़े सिलसिलेवार प्राकृतिक दृश्य हैं। एकदम नये ढंग के चेहरे हैं—बैठा हुआ माथा, हिरन जैसी आँखें हैं। फूल पत्तियों पर बड़ा मनोहर रंग भरा हुआ है। चित्रित रचना का भाव स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। आँखें यकायक उनकी ओर खिंच जाती हैं। रंगों का मेल कदापि अरोचक नहीं होता। इनमें हिंदुल्य कूट कूट कर भरा होता है और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन चित्रों पर कांगड़ा के बजाय राजस्थान तथा गुजरात का प्रभाव पड़ा है। १८ वीं सदी के अन्त तक बशोली राज्य पर चम्बा नरेश का आधिपत्य हो गया था। सन् १८२४ तक इस राज्य का अन्त हो गया। यह काश्मीर का एक जागीरदार मात्र रह गया।

१६ वीं सदी के अन्तिम अर्द्ध भाग या १७ वीं सदी में हिमाञ्चल के इन प्रदेशों में किस प्रकार की चित्रकला प्रचलित थी, यह कहना कठिन है। इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। पर, चित्रकला उन दिनों वर्तमान थी, इसका प्रमाण मौजूद है। उदाहरण के लिए बशहृ का राज्य (जो अब हिमाञ्चल प्रदेश के महसू ज़िले में मिला लिया गया है) तथा तिब्बत राज्य में जो संधि हुई थी उसका सुन्दर चित्रण दीवाल पर खुदा हुआ है। यह ग्यारहवीं सदी की बात है। ऐसी वास्तु कलायें तिब्बती ढंग की हैं। बशहृ की पुरानी राजधानी रामपुर में आज तक ये सुरक्षित हैं। वास्तव में तिब्बत की सरहद्द से मिले राज्यों में तिब्बती प्रभाव से युक्त ऐसी कला की पच्चीकारी के नमूने भरे पड़े हैं। ऐसे नमूने बशहृ के रामपुर से काश्मीर के लेह नगर तक भरे पड़े हैं। इसका कारण बशहृ, मण्डी, चम्बा, काश्मीर आदि का तिब्बत से घनिष्ठ सम्बन्ध ही है।

यह बात मार्के की है कि मुग़ल कला के परम विकास के समय में भी इन पहाड़ी राज्यों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और १८ वीं सदी तक वे मुग़ल कला के प्रभाव से अछूते रहे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि अकबर के बड़े बड़े चित्रकारों में बहुत से गुजराती थे। उन दिनों गुजरात प्रांत का चित्रकार होने से ही कलाकार का बाजार भाव बढ़ जाता था। केशव, माधो तथा भीम गुजराती का नाम उन दिनों काफ़ी विख्यात था। यह मानना ही पड़ेगा कि मुग़ल कला पर गुजरात का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इतिहास साक्षी है कि १५ वीं सदी में, जब अहमदाबाद के प्रसिद्ध स्तम्भ बने थे, गुजरात में निर्माण तथा चित्रकला चरम

विकास को पहुंच चुकी थी। आबू के प्रसिद्ध मन्दिर कम से कम पाँच सौ वर्ष पहले बन चुके थे। स्यात् इसी समय विचित्रित, रंग बिरंगी पाण्डुलिपि की कला यहां काफ़ी प्रचलित थी और तिब्बती लामा तारानाथ ने इसी का ज़िक्र किया है। इस प्रकार गुजरात के कलाकारों का राजस्थान, आगरा तथा दिल्ली के दरबारों में बस जाने का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। हिमाञ्चल के पहाड़ी प्रदेशों के चित्रीय इतिहास में गुजरात के प्रभाव का सबूत रूप रंग की समानता, प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण तथा आकृतियों के पहनावे और भाव में समानता आदि से पुष्ट होता है। गुजराती कला का अन्य पहाड़ी प्रदेशों की तुलना में राजस्थान तथा बशोली की चित्रण कला पर अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत होता है।

कांगड़ा कला ने संसारचंद (सन् १७७५ से १८२३) के समय बड़ी ख्याति तथा उच्च स्थान प्राप्त किया। चित्रकार अपने भावों को व्यक्त करने के लिये हर प्रकार के सम्भावित माध्यम का उपयोग करते थे। जैसे काग़ज़, कपड़ा, दीवाल या लकड़ी के तख्ते। फ्लोरेंस नगर के कलाकार के समान पहाड़ी कलाकार भी बड़ा प्रतिभाशाली होता था। वह हर प्रकार के माध्यम द्वारा अपनी प्रखर प्रतिभा को प्रमाणित कर देता था।

कलाकार के अनेक माध्यम

चम्बा राज्य में भी १८ वीं सदी के अन्त तथा १९ वीं सदी के प्रारम्भ में चित्रकला का काफ़ी विकास हुआ। बशोली को छोड़कर बाकी सभी पहाड़ी राज्यों पर कांगड़ा कला का प्रभाव पड़ा। पर, चम्बा की कला की अपनी निजी परम्परा भी थी—सातवीं सदी में वहां के शासक मेरुवर्म्मन ने अनेक मंदिर तथा मूर्तियाँ बनवाई थीं। चम्बा की अनेक इमारतों पर, दीवाल पर पच्चीकारी तथा चित्रकारी तथा लकड़ी पर कला के नमूने आज भी वर्त्तमान हैं। इनकी तुलना में कांगड़ा की दीवाल की चित्रकला केवल संक्षिप्त रूप ही हैं।

यह ध्यान रहे कि मुग़ल कला के समान यहां की भी कला राज्य पालित थी। दरबारी थी। राजकीय संरक्षण के समाप्त होते ही कला भी लुप्त हो गयी। कलाकार राजा का कर्मचारी होता था। वह जैसा चाहता, कला की रचना करता। १८ वीं सदी के अन्तिम वर्षों में पहाड़ी नरेश स्वयं कला में रुचि लेने लगे थे। इसीलिए हमको जम्मू, कांगड़ा, नूरपुर, गूलर, चम्बा, मण्डी, सुकेत, नहन और टेहरी गढ़वाल में इन दिनों कला के व्यापक और अद्भुत नमूने मिलते हैं। अकबर के ज़माने में कांगड़ा नकली नाक बनाने, नेत्र-चिकित्सा, बसुमती चावल की पैदावार तथा अपने मज़बूत किले के लिए ही प्रसिद्ध था। संसारचन्द की मृत्यु के बाद कांगड़ा संसार के सामने अपनी जादू भरी कला लेकर खड़ा हो गया—उसकी कला में एक ऐसे संसार की रचना हुई जिसमें वीर साहसी पुरुष थे, सुन्दर स्त्रियां थीं, वे स्त्रियां अपनी कामुकता के अञ्चल में लज्जा का भार लिये चलती थीं। पशु तथा पक्षीगण मानव से मित्रता कर रहे थे। पेड़पौधे और पुष्प वर-वधू की पद-ध्वनि पहचानते थे—ऐसी थी कांगड़ा की चित्रकला की दुनियाँ।

राजपूत चित्रकारी भारत के देशी साहित्य की नकलमात्र है। घोर प्राचीन रूपरेखा ही इसका आधार है। इसकी भावुकता, कोमलता जीवन के प्राचीन सिद्धान्तों के प्रति निश्चित श्रद्धा भारतीय समाज के मधुर सौम्य तथा आत्म नियन्त्रण को प्रतिबिम्बित करता है। अमिश्रित भावावेश तथा सौम्य भावनाओं की इसमें अभिव्यक्ति है। किन्तु, ऐसी रूपरेखा केवल भारतीय ही नहीं है। यह हमको केवल अजन्ता तक ही ले जाकर नहीं छोड़ देती। इसकी समानता मिश्र, प्राचीन यूनान तथा माइसीनियन कला में मिलती है। यह राजपूत कला उस अतीत काल से लुप्त कला का अन्तिम युग है—जो कला आज हमारे सामने अनायास खड़ी हो जाती है, हमें जमा देती है—और जिसका लुप्त हो जाना अमिट खेद का विषय है।

हिमालय की स्वच्छ वायु के समान पहाड़ी कला में भी हमको जाग्रत करने की सामग्री है। यहां की पहाड़ियाँ हमें नवीन, स्पष्ट और तेज पूर्ण सन्देश दे रही हैं। वैसा ही स्थायी सन्देश इनकी कला भी दे रही है।

कला की अनेकता

बशोली की चित्रकला में रंगो का मनोहर तथा प्रकाशयुक्त समन्वय है। कागड़ा की कला में रेखाओं का प्रवाह है उसमें स्त्री-सुलभ कोमलता है। आवेश नहीं, भाव है। वीरत्व नहीं, मधुरिमा है। इस कला ने व्यास, सतलज, भागीरथी तथा यमुना के प्रदेशों में टेहरी गढ़वाल तक आधिपत्य जमा रखा था। इन स्थानों में रंग रोगन के उपयोग में स्थानीय परिवर्तन हो गये होंगे। उदाहरण के लिये, सिरमूर के चित्रकार तेज़ हरा-नीला-काला रंग बहुत पसन्द करते थे, मण्डीवाले अपने यहां की कुलू-कला के प्रभाव वश हल्का रंग पसन्द करते थे। पर, इन सभी पहाड़ी चित्रकारों को गुजरात और राजपूताना के चित्रकारों से तथा हिन्दी कवियों की रचनाओं से स्फूर्ति मिलती थी। भारतीय कला के इतिहास में रामायण तथा महाभारत ने अतुल तथा असीम स्फूर्ति तथा भावना प्रदान की है और कागड़ा की कला के विकास में इनसे बड़ी सहायता मिली है।

पश्चिमी हिमालय की तराइयों तथा पहाड़ियों की आबादी कभी घनी नहीं रही। आज भी दस लाख से अधिक नहीं है। इसीलिये समय तथा स्थान दोनों ही दृष्टियों से हिमालय-कला सीमित है। जम्मू से टेहरी तक केवल तीन सौ मील का फासला होगा। इसलिये तीन सौ मील के भीतर फैली यह कला सौ वर्ष से अधिक पुराने काल की परिचायिका भी नहीं है। चम्बा और जम्मू के बीच केवल ८० मील का फासला है। चम्बा और कांगड़ा के बीच ५६ मील का। चम्बा और मण्डी के बीच ७५ मील का। यहां के लोग जो भाषा बोलते हैं वह पञ्जाब से अधिक राजस्थानी से मिलती जुलती है। उनकी अपनी विचित्र लिपि भी है। यह लिपि गुप्त काल की शारदीय लिपि की वंशज है। पर, इनकी पहाड़ी बोली केवल बोलचाल के काम में आती है। इनकी साहित्यिक भाषा हिन्दी अथवा बृजभाषा है। यह विशेष बात है कि इनके चित्रकारों ने गीत गोविन्द ऐसे संस्कृत के ग्रन्थ तथा ओड़छा के कवि केशव की हिन्दी की रचनाओं का चित्रांकन किया है। हमारे रामायण तथा महाभारत आदि वीर काव्यों की पहाड़ियों की अपनी भाषा में रचनायें हैं और वे उनका नाच गाना प्रायः किया करते हैं।

नायक-नायिका चित्रण

पहाड़ी चित्रकारों को रागमालाओं तथा नायक-नायिका का चित्रण करने की स्फूर्ति या प्रोत्साहन राजस्थान से प्राप्त हुआ। राजस्थान के *प्रभाव से पहाड़ी राजमहलों की रचनायें भी बदल गयीं। इन पहाड़ी* राज्यों तथा राजस्थान और गुजरात के बीच भौगोलिक अवरोध मानो समाप्त हो गया था।

यह नहीं भूलना चाहिये कि लगभग १८ वीं सदी के अन्त तक प्रमुख गुजराती कवि, जैसे नृसिंह मेहता और दयाराम बृजभाषा में ही काव्य रचना करते थे। उस समय गुजरात तथा राजपूताना में बृजभाषा ही प्रचलित थी। इन सभी प्रदेशों में वही पुराने इतिहास की घटनायें चित्रों में ढाल दी जाती थीं श्रीमद्भागवत की प्रसिद्ध घटनायें, रामायण तथा महाभारत के प्रसिद्ध कार्य, रुक्मिणीहरण, नल-दमयन्ती की कहानियाँ इत्यादि।

यह सत्य है—और लारेंस विनियान ने भी इसे स्वीकार किया है कि कांगड़ा की चित्रकला उन्मुक्त तथा स्पष्टवादी है। वह अनायास ही सीधे अपने विषय को प्रदर्शित कर देती है—जैसे हमारे लोकप्रिय संगीत—भिन्न ऋतुओं के उदास, कामनापूर्ण परिचित स्वरलहरी वाले, परम्परा से चले आने वाले देहाती गायन। यह कला संसार की कलाओं में अपना अनुपम स्थान रखती है।

बीजक की दो व्याख्याएँ

डाक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, शान्ति निकेतन

बीजक कबीरदास के सभी सम्प्रदायों में मान्य है। अपनी २ विशेष दृष्टि के समर्थन के लिए सभी उपसम्प्रदाय वालों ने इसकी व्याख्या अपने २ ढंग से करने का प्रयत्न किया है। इनमे दो टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं और ये दो प्रधान दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

(१) रीवा के महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव की टीका बहुत प्रसिद्ध है। आप सन् १८३३ से लेकर सन् १८५४ ई० तक रीवां के राजा रहे और बहुत अच्छे कवि थे। इनकी टीका रामचन्द्र की सगुणोपासना की प्रतिपादिका कही जाती है। परन्तु सही बात यह है कि इन्होंने साकेतवासी राम को निर्गुण और सगुण से परे माना है। सच्चे वैष्णव की भाँति इन्होंने किसी को कठोर भाव से अस्वीकार नहीं किया। समस्त श्रुति भागवत और स्मृति के प्रमाणों को शिरसा स्वीकार कर कबीरदास के प्रतिपादित मत से उनकी संगति बैठाई है और शास्त्र वाक्यों का प्रत्याख्यान करते समय भी उन्हें हल्के ढंग से स्मरण नहीं किया। यह टीका अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और सुलझी हुई है। भाषा बघेलखण्डी है। परन्तु कबीर सम्प्रदाय में इसका विशेष मान नहीं है। परवर्ती कबीरपंथी 'राम' शब्द को यथासम्भव छोड़ते गए हैं और बदले में 'सत्यपुरुष' का नाम लेते गए हैं। स टीका में ऐसा न करके रामचन्द्र को ही सगुण-निर्गुण से परे माना गया है और प्रमाणस्वरूप भागवत, वशिष्ठ संहिता, योग वशिष्ठ आदि का बार बार उपयोग किया गया है।

बीजक की टीका के आरम्भ में ही टीकाकार ने बीजक का तात्पर्य निर्णय किया है। इससे उनके मत का और प्रतिपादन शैली दोनों का पता लग जाता है। उस तात्पर्य निर्णय को संक्षेप में, आधुनिक भाषा में लिखा जारहा है।

"यहाँ कबीर जी के बीजक प्रकरण के आदि में और आदिमंगल में कहा है कि शुद्ध जीव साहेब के लोक के प्रकाश में पूर्ण रहता है। जब साहब सुरति देते हैं तब जीव उत्पन्न होता है। यह जीव शुद्ध है, साहेब का है, मन, माया आदि इसमें नहीं हैं (थे) ये बीच ही में हुए हैं। मन मायादिक का कारण इसमें बना रहा है, इसलिए साहेब में नहीं लगा बल्कि संसार मुख हो गया जब श्री रामचन्द्र जी की प्राप्ति होगी तभी शुद्ध जीव होगा सो साहब ने इसे रोका पर यह माना नहीं; मन माया और ब्रह्म में लगकर संसारी हो गया।

जीव रूप यक अन्तर बासा। अन्तर जोति कीन परकासा ॥१॥
इच्छा रूप नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी ॥२॥

यह उपक्रम वाक्य है और पदों के अन्त में बिरहुली है—

बिषहर मन्त्र न मान बिरहुली। जन्म जन्म अवतरे बिरहुली।

आदि हैं ये सब चिन्मय हैं, और परमपुरुष श्री रामचंद्र सबके मालिक हैं। इसमें प्रमाण यह श्रुति है—"राजाधिराज : सर्वेषां राम एव न संशय: । वशिष्ठ संहिता में भी लिखा है कि—

यत्र वृक्ष लता गुल्म पत्र पुष्प फलादिकम्
यत् किंचित् पक्षिभृंगादि तत् सर्वं भातिचिन्मयम् ।

कबीर जी ने कहा है—

सदा बसन्त जहाँ फूलहिं कुंज सोहावहीं ।
अक्षय वृक्ष तर सेज सो हंस विछावहीं ।
धरती अकास जहां नहीं जगमगै ।
वहियाँ दीनदयाल हंस के संग लगै ।

सो, उस अयोध्या जी का जो प्रकाश है उसमें शुद्ध जीव भरे हैं । उन्हें साहब का और साहब के लोक का ज्ञान नहीं है । जो ये साहेब को और साहेब के लोक को जानते तो लौट कर संसार मे न आते, पर वे चूंकि साहेब को और उनके लोक को नहीं जानते इसीलिए माया उनको पकड़ लाती है । सो, प्रथम साहब दयाल ने दया करके उनको सुरति दी कि मुझे जानो तो मेरे पास आओगे और माया से बच जाओगे । आदिमंगल में कह आये हैं कि जब उनके सुरति हुई तो वे (साहेब में न लग कर) धोखा ब्रह्म और माया में लग गये और संसारी हो गए । साहेब ने तो उन्हें बहुत मना किया, पर वे माने नहीं । आगे यह बात बेलि में (कबीरदास) कहेंगे कि—

तू हंसा मन मानिक हो रमैया राम ।
हटल न मान्यो मोर हो रमैया राम ।
जस कीन्हों तस पायो हो रमैया राम ।
हमर दोष जनि देहु हो रमैया राम ।

और साहब के लोक मे मन आदि का कोई कारण नहीं है क्योंकि वशिष्ठ संहिता में कहा है कि—

न यत्र शोको न जरा मृत्युर्नकालमाया प्रलयादि विभ्रमः ।
रमेत रामे तु स तत्र गत्वा स्वरूपतां प्राप्य चिरं निरन्तरम्

कबीर जी ने भी कहा है:—

तत्व भिन्न निहतत्व निरक्षर मनौ प्रेम से न्यारा ।
नाद विन्दु अनहद निरगोचर सत्य शब्द निरधारा ॥

और साहब का लोक सबके परे है, यह बात आदि मंगल में कह आया हूं । सो, जो साहब को जानें और साहेब के लोक मे जाय तो फिर संसार में न आवे । इस उत्पत्ति को कबीर जी ने प्रथम रमैनी में संक्षेप में कहा है । सबकी उत्पत्ति साहेब के लोक के प्रकाश के बाहर ही होती है, इस बात का प्रमाण ज्ञान सागर में भी है—

"जाने भेद न दूसर कोई। उतपति सबकी बाहर होई।"

सारी टीका इसी प्रकार नाना प्रमाणों के साथ अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लिखी गई है। टीकाकार का पांडित्य अपूर्व है, परन्तु उसकी श्रद्धा-भक्ति उससे भी बढ़कर है। इसलिए पांडित्य कहीं भी आक्रामक नहीं हुआ है। विश्वनाथसिंह जू की टीका बीजक-साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

(२) बीजक की दूसरी महत्वपूर्ण टीका पूर्णदास साहेब की लिखी हुई त्रिज्या है। इसके लेखक श्री पूर्णदास साहब हैं जो बुरहानपुर जिले के नागझरी स्थान में रहते थे। टीका का रचनाकाल संवत् १८९४ (सन् १८३७ ई०) है। इस टीका का सम्प्रदाय में बहुत मान है। इसकी भाषा खड़ी बोली ही है, पर ढंग पुराना होने से आधुनिक पाठकों को उलझनदार लगती है। रमैनियों की टीका पद्य में लिखी गई है, बाकी गद्य में। टीकाकार केवल पदों का अर्थ समझ कर ही चुप नहीं हो जाते। व्याख्येय पद के पीछे का तत्ववाद, उस पर शंकाएँ उनका समाधान सब बताते जाते हैं। विश्वनाथसिंह जू की टीका की भाँति संस्कृत ग्रंथों को प्रमाण रूप में उद्धृत करने की प्रवृत्ति नहीं है फिर भी वेदांत-विचारों का प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है। शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्धांत के अनुकूल करने की प्रवृत्ति अधिक है, इससे यदि व्याकरण या भाषा शास्त्र का विरोध हो जाय तो भी टीकाकार को इसकी कोई परवाह नहीं रहती। शब्द ११५ पर उनकी टीका का कुछ अंश आधुनिक भाषा में उदाहरणार्थ, उद्धृत किया जारहा है। टीकाकार का सिद्धांत और शैली दोनों का आभास मिल जायगा।

'सन्तों ऐसी भूल जगमांहीं जाते जिव मिथ्या में जाहीं'

गुरु कहते हैं कि हे सन्तो, जैसी भूल जगत् में हुई, उसका भावार्थ सुनो। प्रथमारम्भ में जीव पक्के रूप में था—पक्के तत्त्व की भूमिका। तब अपने रूप को देखा और बहुत प्रसन्न हुआ। उस प्रसन्नता में आनन्द उठा और हंस को आनन्द में अपनी देह की विस्मृति हो गई। वह परम आनन्द होकर आनन्दी आनन्दरूप हो गया। उस आनन्द को (ही) सबने ब्रह्म-अधिष्ठान कहा। भला उस आनन्द में जब हंसा मिला (तो उसकी पक्की प्रकृति कैसे रहती?) सो, उसकी तत्व और प्रकृति सभी पलट गई। तब पक्के का कच्चा हुआ। परंतु हंस को कुछ खबर नहीं कि मैं पहले पक्का था और अब कच्चा हो गया। ऐसी फहम उसकी न रही। जैसा आकार था, वैसा आकार हुआ, तब कच्चे तत्वों के स्वभाव से इच्छा अनेक प्रकार की हुई। इससे अनेक प्रकार के रूप धारण करके आप ही खड़ा हो गया, जिस बात को वेद ने कहा है—'एकोऽहं बहुस्याम।' यहां शंका हो सकती है कि हंस जीव जब पक्के से कच्चा हुआ तो खुद तो खबर ही न थी, फिर दूसरे किसने जाना। उत्तर है, पारख ने। फिर पूछा जा सकता है कि पारख निरुपाधि है या सोपाधि? क्योंकि उपाधि के बिना तो जाना ही नहीं जा सकता। सो, इसके उत्तर में कहा जायगा कि पारख निरुपाधि है, परन्तु वह जड़ नहीं है और जानना भी कोई उपाधि नहीं है। जो कोई जीव उस (पारख) पर आया उसे सम्पूर्ण कल्पना आदि आकिली अनुमान को वह परखा देता है। यह उस भूमि का स्वभाव ही है। इसलिए जो कोई जीव पारख पर आया उसने सब जाना और सब बताया। क्योंकि पारख असल में वही है जिससे सब बातें परखने में आ जाँय।

......पहले भूले ब्रह्म अखण्डित झाँई आपुहि मानी'—

जो हंस ने अपने रूप को देखा और खुश हुआ, यही उसका भूलना था। और झाँई खड़ी हुई आनन्द खड़ा हुआ, उस आनन्द में हंस गरकाब हुआ, मग्न होरहा। फिर वह स्फूर्ति हुई जिससे उसका रूप कच्चा होगया तब इच्छा खड़ी हुई, उस इच्छा से सारा जगत् निर्माण हुआ। जैसी२ इच्छा हुई तैसी तैसी खानी और बानी पैदा

(७) गुम्बद मानवी संस्कृति के विकास और उत्तरोत्तर विलासप्रियता से ठिगने और नाज़ुक होते गये—जैन-पठान (मांडवगढ़) शैली से उत्तर मुग़ल शैली के गुम्बद तोलनीय हैं। गुम्बद छोटी-छोटी मीनारों पर प्रतिष्ठित हो गये। ईरानी स्थापत्य की मिहराब का ही 'थ्री डाइमेंशनल ट्रीटमेंट' गुम्बद है।

मेरे ये निष्कर्ष अन्तिम नहीं हैं। मैं चाहूंगा कि पुरातत्वज्ञ, प्राचीन इतिहासवेत्ता इस सम्बन्ध में मुझे दिशा-दर्शन दें। मेरे निष्कर्षों के सचित्र, सतथ्य प्रमाण मैं नीचे दे रहा हूं।

१. आकाश और आँवला : आकाश और तारे आदिकाल से मानव के आश्चर्य के विषय रहे हैं। क्योंकि पंचभूतों में से अन्य चार तो दृश्य, स्पर्श्य हैं। आकाश स्पर्शातीत है। सवेरा, दोपहर, शाम या उत्पत्ति, स्थिति, लय (बौद्धों के बुद्ध, संघ और धर्म्म इसी ब्रह्मा विष्णु महेश के परावर्ती रूप हैं ऐसा महायान-पंथियों का विश्वास है) आर्य ग्रामचित्र के पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी दरवाज़ों से प्रतीक रूप में व्यक्त किये जाते थे। अर्ध वृत्त के रूप में आकाश दृष्टि के सम्मुख है। इसी आँवले या प्याज के आकार को हम जामा मस्जिदों के गुम्बद (चित्र २१) और ताज के गुम्बद (चित्र २२) में देखते हैं। आँवले जैसा पूरा आकार बीजापूर की मिहतर-इ-महल (चित्र २४) के ऊपर मिलता है। पृथ्वी गोल है यह चाहे भारतीयों ने यूनानियों से बहुत बाद में सीखा हो, मगर जैसे असुरिया के ७ वीं ८ वीं सदी के आरंभिक गुम्बद भी इसी पृथ्वी और आकाश को जोड़ने के यत्न जान पड़ते हैं वैसे ही भारत में भी यह गोलाकार स्थापत्यरचना थी अवश्य, चाहे वह एलोरा और कार्ला की गुहाओं के अश्व-नाल दरवाज़ों के रूप में हों चाहे भरहुत (चित्र १) और विश्वकर्मा-चैत्य के (चित्र ७)के रूप में यह दरवाज़े कमल पत्रों के प्रतीक थे।

२ और ६ मृत्यु-बंधक स्तूप

पिरामिडों के सम्बन्ध में मिश्रविज्ञों की यही राय है कि मृत्यु के पश्चात् जो मिट्टी में मिल जाने की भावना है, उसे ढाँकने के ये सब यत्न हैं। साँची का स्तूप (चित्र २६) और उसके ऊपर की चतुष्कोणात्मक पीठिका और उसके ऊपर की छत्री (चित्र ३) ध्यान पूर्वक देखिए। फर्ग्युसन के अनुसार प्राचीन भारत में दो प्रवृत्तियाँ प्रधान थीं : एक मृत्यु-उपासक दर्शन, दूसरा जीवनोपासक दर्शन—परन्तु दोनों ही अन्ततः नैरात्मा में निर्वाण (बौद्ध) निर्जरा (जैन) या मोक्ष में विश्वास करते थे। अतः The Stupa itself like the Aryan village plan was a symbol of Comsos, the solid hemispherical dome representing the heavenly vault, the mystic blue lotus *with turned down petals which forms the altar* surmounting the dome. It is a reliquary in the form of a vedic sacrificial altar. The umbrellas signified royalty. A series of umbrellas forming a pyramidal 'tee' signifying final release from the chain of existence. जन्म-मरण के फेरे से मुक्ति का यह प्रतीक, मृत्यु के परे किसी श्रद्धा का संकेत करता है। उलटे हुए कमल (चित्र १५) और उसी के समान अशोक-कालीन स्तंभों के शीर्ष (चित्र १४) तथा नयन में जुड़े हुए हाथ (चित्र १६) इन आकारों के मूलाधार हैं। चीनी मंदिर (चित्र १०) और स्यामी पगोडा (चित्र ८) को भी इन चैत्य-छत्रियों से मिलाकर देखना चाहिए। अमरनाथ का स्तूप (चित्र २) इसका उत्तम प्रमाण है।

३ और ५ लिंग, मेरु और वैष्णवशिखर

चित्र ४ सेमेटिक राजा के समाधि लेख से प्राप्त है। इस सम्बन्ध में पुरातत्वज्ञों में मतभेद है कि शिव-लिंग से वैष्णव-मंदिरों के शिखर बने या मेरु की कल्पना से शिव लिंग—और इन शैव-वैष्णव कल्पनाओं के

ओरछा का किला

ओरछा में वेत्रवती
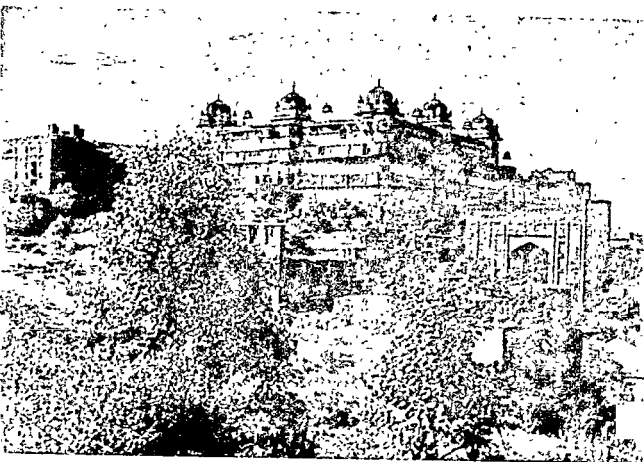
[बाईं ओर वीरसिंह देव प्रथम की समाधि है

बीच में बौद्ध स्तूप कहीं न कहीं बैठ जाते हैं। मूल आकार तीन हैं १. पर्वत या पिरामिड २. शिव चिन्ह या द्वार की मिहराब (Arch) ३. स्तूप या समाधि

त्रिकोणात्मक और अर्द्ध गोलात्मक आकृतियों में मूल द्वंद्व है। एक ऊर्ध्वमुखी है–प्रवृत्ति का प्रतीक एक अधोमुखी निवृत्ति का प्रतीक। एक स्वर्गोन्मुख है, दूसरी पाताललोकोन्मुख। या तो ये दोनों आकृतियाँ मध्याकृति से बनी हों–फ्रायड़ अथवा एलिस आदि समाजशास्त्रवेत्ता लिंग पूजा में ही पताका, गुंद्दी या ध्वजा प्रदर्शन का मूल मानते हैं। या कि मध्य आकृति इन दो आकृतियों का समन्वय रहा हो। एक प्रकार से ये तीन आकृतियाँ उत्पत्ति, स्थिति, लयं या ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतीक हैं। चित्र १३, १७, २६, २७, २८ यद्यपि हैं विभिन्न देशों और पद्धतियों के आकार, पठान या गांधार शैली के गुम्बद, हिंदू मंदिरों के शिखर और रोमन गिर्जे के पुराने शिखरों में बहुत समानता है।

४. मास्को का विशाल घंटा, शिव मंदिरों में घंटेका महत्त्व (चि० ११ और १२) शिखर और स्तूप का विचित्र मिश्रण है जिसका उत्तम प्रमाण चित्र ३० के क्युपोला हैं।

७. चित्र ५, ६, १८, २०, २३, २५ इस गुम्बद–शिखर समन्वय के मामले में ग्लेंडस्टन सॉलोमन के 'दि चार्म ऑफ इंडियन आर्ट' पुस्तक में पृ. ६४ पर लिखे एक गुण को घटित करते हैं–'A sublime unity of the purely Decorative, the Realistic and purely Spiritual'. इस दृष्टि से सोचें तो मेरे अल्पमत में गुम्बद और कुछ नहीं––जो दो dimension में मिहराब है (जो कि जौनपुर के पूर्वी दरवाज़े, सीकरी के बुलन्द दरवाज़े और अन्य अनेकानेक मुगल इमारतों में पुनरावृत्ति मिलती है) उसी का तीन dimension में रूप गुम्बद है।

मैं चाहूंगा कि गुम्बद की प्रतीक–नियोजना के अन्वेषण में और प्रकाश मुझे प्राप्त हो।

× × ×

गुम्बद सम्बन्धी रेखा-चित्रों के संक्षिप्त परिचय:

१. भरहुट शिल्प से एक bass-relief
२. अमरनाथ : स्तूप-चित्र
३. साँची स्तूप का शीर्ष
४. सेमैटिक राजा नाराम्-सिन् के समाधि शिलालेख से (२७५० ई० पू०)
५. कुस्तुनतुनिया का बाइज़न्टाइन सांतासोफिया शिखर
६. तुर्की शाहज़ादे का मक़बरा, कुस्तुनतुनिया
७. एलोरा के दरवाज़े पर विश्वकर्मा का चैत्य-चित्र
८. सयामी पैगोडा
९. बोरोबुदूर (जावा) के 'बास-रिलीफ' से
१०. चीन का एक प्रसिद्ध मंदिर
११. घंटी के आकार का पैगोडा
१२. चीन की झुकती हुई मीनार
१३. मदुरा के देवालय का शिखर
१४. अशोक-स्तंभ का ऊपरी भाग
१५. उलटा हुआ कमल पुष्प
१६. नमस्काररत हाथ
१७. अहमदाबाद की मुहफ़िज़ खाँ की मस्जिद (१५ वीं शती का अन्त)
१८. फेरोज़शाह की कब्र, दिल्ली; और अलादीन का दरवाज़ा, मस्जिद, दिल्ली
१९. हुमायूँ का मक़बरा
२०. रौशन आरा-जहाँ आरा के महल, क़िला, आगरा
२१. जामा मस्जिद, आगरा और दिल्ली
२२. ताज का गुम्बद (प्याज़ के आकार का)
२३. एतमादुद्दौला का शिखर
२४. मिहतर-इ-महल, बिजापूर
२५. पालिताणा के जैन मंदिर (पठान-शैली)
२६. तैमूर का विजय स्तंभ (१० वीं सदी का हिन्दू मंदिर १७ वीं सदी में मस्जिद)
२७. सहसराम, शेरशाह की समाधि
२८. एथेंस का बाइज़ंटाइन कैथेड्रल
२९. साँची
३०. 'Cupola and Swallows' पी. यूदिन का चित्र
(सोवियत् लिटरेचर, फेब्रुआरी १९४६)
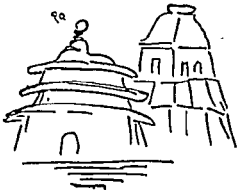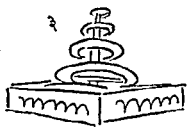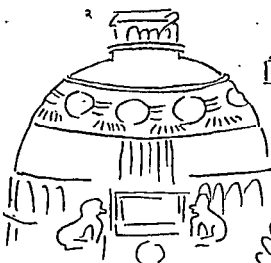
गुम्बद का विकास
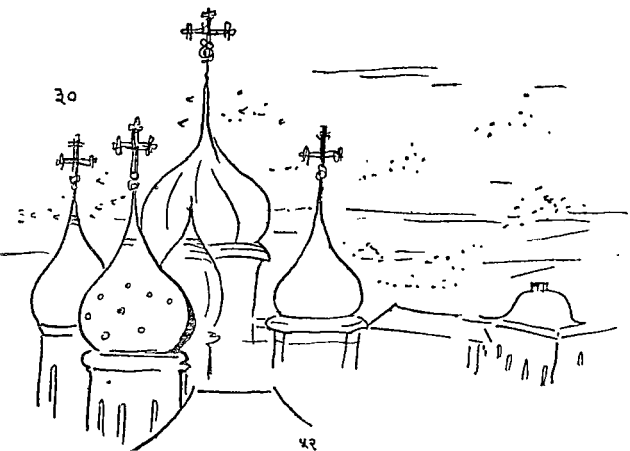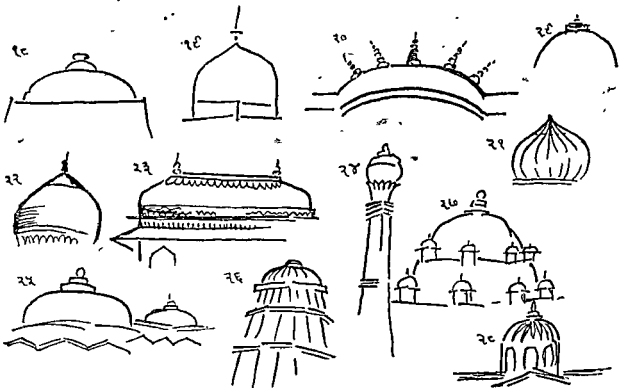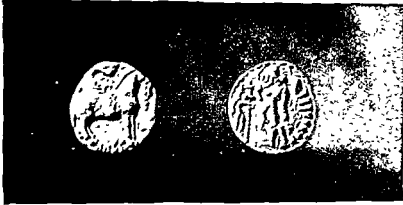
कुमार गुप्त प्रथम की एक अश्वमेधीय मुद्रा

[प्रान्तीय संग्रहालय, लखनऊ के सौजन्य से

कुमार गुप्त प्रथम की एक अश्वमेधीय मुद्रा

श्री मदनमोहन नागर

प्रान्तीय संग्रहालय लखनऊ ने अपने सिक्केखाने के लिए अभी हाल में एक अत्यन्त दुष्प्राप्य मुद्रा ली है। यह मुद्रा गुप्तसम्राट् महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त प्रथम की है। इसके मुखभाग पर एक हृष्ट पुष्ट घोड़ा दाईं ओर मुंह किए हुए खड़ा है। इसका शरीर अनेक प्रकार के आभूषणों से जिन्हें वैदिक ग्रन्थों के अनुसार सम्राट् की प्रियतमा पत्नीने उसे पहनाये होंगे, सुसज्जित है। अश्व के सामने तिनपहलो चरणचौकी (Triple pedestal) पर एक यूप-स्तम्भ अङ्कित है। प्रस्तुत मुद्रा में इस यूप का अङ्कन पूर्णतया नहीं हो पाया है, केवल उसकी चरणचौकी तथा स्तम्भ का थोड़ा सा भाग दृष्टिगोचर होता है। मुद्रा पर किनारे किनारे संस्कृत भाषा में एक लेख अङ्कित है जो '[जयति] महीतल कुमारगु [प्तः]' अर्थात् कुमारगुप्त ने सारी पृथ्वी जीती है, पढ़ा जाता है।

मुद्रा के पृष्ठभाग पर त्रापभुग्नगात्रवाली लावण्यमयी पट्टमहादेवी राजमहिषी अङ्कित है। उसके एक हाथ में चमर है तथा दूसरे में एक तौलिया और सूची है। इसी तौलिये और सूची से अश्व को नहलाने के बाद पोंछ कर राजमहिषी उसे छेदेगी। सामने एक नुकीला स्तम्भ है जिसका रहस्य अब तक अज्ञात है पीछे की ओर 'अश्वमेध महेन्द्रः' अर्थात् अश्वमेध को करने वाला महेंद्र (महेंद्र कुमारगुप्त की उपाधि या विरुद था) लेख अङ्कित है।

प्रस्तुत मुद्रा सुवर्ण की है, इसकी नाप .७ है तथा इसकी तौल १२२ ग्रेन है।

कुमारगुप्त की अश्वमेधीय मुद्रायें अब तक गिनती में बहुत ही कम पाई गई हैं। सबसे पहले इस प्रकार की केवल दो मुद्रायें श्री ए० कनिंघम को प्राप्त हुई थीं जो इस समय सात समुद्र पार लन्दन के ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अग्रभाग पर यूप के बांई ओर एक जीन कसा घोड़ा अङ्कित है। लगभग चार वर्ष पूर्व भरतपुर राज्य में स्थित बयाना नामक स्थान से प्राप्त गुप्त मुद्राओं के ढेर में इस प्रकार की चार और मुद्रायें प्राप्त हुई। ये मुद्रायें लखनऊ संग्रहालय की मुद्रा से मिलती जुलती हैं। इन सभी मुद्राओं के अध्ययन करने से पता लगता है कि कुमारगुप्त ने दो बार अश्वमेध यज्ञ किया था। कारण एक ढंग के सिक्कों पर अलंकार से विभूषित किंतु बिना जीन का घोड़ा यूप के दायें खड़ा है तथा दूसरे में बिना आभूषण पहने किंतु जीन कसा हुआ घोड़ा यूप के बायें खड़ा है। इन दोनों प्रकार के सिक्कों से यह अनुमान किया जाता है कि विभिन्न अश्वमेध यज्ञों के अवसर पर विभिन्न ठप्पों का प्रयोग करके सिक्के ढाले गए थे।

भारतवर्ष में अश्वमेध यज्ञ करने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आरही है। वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अश्वमेध यज्ञ का पहला प्रमाण हमें पुष्यमित्र शुंग के एक लेख से मिलता है जिसमें राजा अपने को दो अश्वमेध यज्ञ (द्विरश्वमेध याजिनः) करने वाला कहता है। तत्पश्चात् हरिषेण द्वारा लिखित प्रयाग प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि गुप्तसम्राट् महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय यात्रा के पश्चात् एक अश्वमेध यज्ञ किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त प्रथम ने भी अपने प्रपिता समुद्रगुप्त की भाँति

है कि माल किन किन स्थानो में बिकता था तथा प्राचीन भारत में माल खरीदने बेचने तथा लेजाने लेआने के लिए जो बहुत सी बाजारें होती थीं उनमें कौन कौन से फरक होते थे।

जलपट्टन तो समुद्री बन्दरगाह होता था जहां विदेशी माल उतरता था और देशी माल की चालान होती थी। इसके विपरीत स्थलपट्टन उन बाजारों को कहते थे जहां बैलगाड़ियों से माल उतरता था।[१] द्रोणमुख ऐसे बाजारों को कहते थे जहां जल और थल दोनो से ही माल उतरता था जैसे कि ताम्रलिप्ति और भरुकच्छ। निगम एक तरह के व्यापारियो अर्थात् उधार पुरजे के व्यापारियो की बस्ती को कहते थे।[२] निगम दो तरह के होते थे सांग्रहिक और असांग्रहिक।[३] टीका के अनुसार साग्रहिक निगम में रेहन बट्टे का काम होता था। असांग्रहिक निगम वाले ब्याज बट्टे के सिवाय दूसरे काम भी कर सकते थे। इन उल्लेखों से यह साफ हो जाता है कि निगम उस शहर या बस्ती को कहते थे जहां लेन देन और ब्याज बट्टे का काम करने वाले व्यापारी रहते थे। निवेश सार्थ की बस्तियों को कहते थे।[४] इतना ही नहीं सार्थो के पड़ाव भी निवेश कहलाते थे। पुटभेदन उस बाजार को कहते थे[५] जहां चारो तरफ से उतरती माल की गांठें खोली जाती थीं। शाकल (आधुनिक स्यालकोट) इसी तरह का पुटभेदन था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं जैन साधुओं को तीर्थदर्शन अथवा धर्मप्रचार के लिए यात्रा करना आवश्यक था। पर उनकी यात्रा का ढंग कम से कम आरम्भ में साधारण यात्रियो से अलग होता था। वे केवल आवेशन, सभा, (धर्मशाला) तथा कोहार अथवा लोहार की कर्मशालाओं में पुआल डाल कर पड़ रहते थे। उपरोक्त जगहों में स्थान न मिलने पर वे सूने घर, श्मशान अथवा पेड़ों के नीचे पड़े रहते थे।[६] वर्षा में जैन भिक्षुओं को यात्रा की मनाही है, इसलिए चौमासे में जैन साधु ऐसी जगह ठहरते थे जहां उन्हें ग्राह्य भिक्षा मिल सकती थी और जहां श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि और भिखमंगों का उन्हें डर नहीं होता था।[७] जैन साधु अथवा साध्वी के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसा मार्ग न पकड़े जिस पर लुटेरों और म्लेच्छों का भय हो अथवा जो अनार्यो के देश से होकर गुजरे। साधु को अराजक देश, गणराज्यां, यौवराज्यां द्विराज्यां और विराज्यों में होकर यात्रा करने की भी अनुमति नहीं थी। साधु जङ्गल बचाते थे। नदी पड़ने पर वे नाव द्वारा उसे पार करते थे। ये नावें मरम्मत के लिए पानी के बाहर निकाल ली जाती थीं। जैन साहित्य में नाव के माथा (पुरओ), गलही (मग्गओ) और मध्य का उल्लेख है। नाविकों की भाषा के भी कई उदाहरण दिये गये हैं, यथा "नाव आगे खींचो (संचारएसि)", "पीछे खींचो (उक्कासित्तए)", "ढकेलो (आकसित्तए)", "गोन खींचों (आहर)", डांड़ (आलित्तेण), पतवार (पीढ़एण), बांस (वंसेण) तथा दूसरे उपादानों (बलएण, अवल्लुएण) द्वारा नाव चलाने का उल्लेख है। आवश्यकता पड़ने पर नाव के छेद शरीर के किसी अङ्ग, तसले, कपड़े, मिट्टी, कुश अथवा कमल के पत्तों से बन्द कर दिये जाते थे।[८]

रास्ते में भिक्षुओं से लोग बहुत से सार्थक अथवा निरर्थक प्रश्न करते थे। "आप कहां से आए हैं?" "आप कहां जाते हैं?" "आपका क्या नाम है?" "क्या आपने रास्ते में किसी को देखा था?" (जैसे आदमी, गाय भैंस, कोई चौपाया, चिड़िया, सांप अथवा जलचर)। "कहिए हमें दिखाइये?" फल फूल और वृक्षों के बारे में भी वे प्रश्न करते थे। साधारण प्रश्न होता था, "गांव या नगर कितना बड़ा है या कितनी दूर है?" साधुओं को

---

१. बृहत् कल्पसूत्र भाष्य, १०६०, मुनि पुण्य विजयजी द्वारा संपादित, १६३३ से। २. वही, १०६०। ३. वही, ११९०। ४. वही, १०६१। ५. वही, १०६३। ६. आचारांग सूत्र, १,८,२,२-३। ७. वही, २,३,१,८। ८. वही, २, ३, १, १०-२०।

अक्सर रास्ते में डांकुओं से भेंट हो जाती थी और उनसे सताए जाने पर उन्हें आरक्षकों के पास फरियाद करनी पड़ती थी।[९]

जैन साहित्य से पता चलता है कि राजमार्गों पर डांकुओं का बड़ा उपद्रव रहता था। विपाकसूत्र[१०] में विजय नाम के एक बड़े साहसी डाकू की कथा है। चोर पल्लियां प्रायः वनों, खाइयों और बंसवारियों से घिरी और पानीवाली पर्वतीय घाटियों में स्थित होती थीं। डांकू बड़े निर्भय होते थे, इनकी आंखें बड़ी तेज होती थीं और वे तलवार चलाने में बड़े सिद्धहस्त होते थे। डांकू सरदार के मातहत हर तरह के चोर और गिरहकट उनकी इच्छानुसार यात्रियों को लूटते मारते अथवा पकड़ ले जाते थे। विजय इतना प्रभावशाली डांकू था कि अक्सर वह राजा के लिए कर वसूला करता था। पकड़े जाने पर डांकू बहुत कष्ट देकर मार डाले जाते थे।

लम्बी मंजिल मारने पर यात्री बहुत थक जाते थे, इसलिए उनकी थकावट दूर करने के लिये भी प्रबन्ध था। धोकर पैरों की खूब अच्छी तरह मालिश होती थी, इसके बाद पैरों पर तेल, घी अथवा चर्बी तथा लोध चूर्ण लगाकरके गरम और ठंडे पानी से वे धो दिये जाते थे। अन्त में आलेपन लगा कर उन्हें धूप दे दी जाती थी।[११]

छठी सदी में जैन साधु केवल धर्म प्रचार के लिये ही विहार यात्रा नहीं करते थे। वे जहां जाते थे उन स्थानों की भली भाँति जांच पड़ताल करते थे, इस जाच पड़ताल को जनपद-परीक्षा कहते थे। जनपददर्शन से साधु पवित्रता का बोध करते थे। इस प्रकार की विहार यात्राओं से वे अनेक भाषाएं सीख लेते थे। उन्हें जनपदों को अच्छी तरह से देखने भालने का भी अवसर मिलता था। इस ज्ञान लाभ का फल उनके शिष्यवर्गों को भी मिलता था।[१२] अपनी यात्राओं में जैन भिक्षु तीर्थङ्करों के जन्म, निष्क्रमण और केवली होने के स्थानों पर भी जाते थे।[१३]

संचरणशील जैन साधुओं को अनेक देशी भाषाओं में भी पारंगत होना पड़ता था।[१४] अनजानी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके वे जन भाषा में ही लोगों को उपदेश देते थे।[१५] यात्राओं में वे बड़े बड़े जैनाचार्यों से मिल कर उनसे सूत्रों के ठीक ठीक अर्थ समझते थे।[१६] आचार्यों का उन्हें आदेश था कि जो कुछ भी उन्हें भिक्षा में मिले उसे वे राजकर्मचारियों को दिखलालें जिससे उनपर चोरी का सन्देह न हो सके।[१७]

जैसा हम ऊपर कह आये हैं साधु अपनी यात्राओं में जनपदों की अच्छी तरह परीक्षा करते थे। वे इस बात का पता लगाते थे कि भिन्न भिन्न प्रकार के अन्न उपजाने के लिए किन किन तरहों की सिंचाइयां आवश्यक होती हैं। उन्हें पता लगता था कि कुछ प्रदेश खेतों के लिए वर्षा पर अवलम्बित रहते थे। (टीका में जैसे लाट यानी गुजरात), किसी प्रदेश में नदी से सिंचाई होती थी (जैसे सिन्ध), कहीं सिंचाई तालाब से होती थी (जैसे द्रविड़ देश), कहीं कुवों से सिंचाई होती थी (जैसे उत्तरापथ), कहीं बाढ़ से (जैसे बनास में बाढ का पानी हट जाने पर अन्न बो दिया जाता था), कहीं कहीं नावों पर धान बोया जाता था (जैसे काननद्वीप में)। ये यात्री मथुरा जैसे नगरों की भी जांच पड़ताल करते थे, जिनकी जीविकोपार्जन का सहारा खेती न होकर व्यापार हो गया था, वे ऐसे स्थानों को भी देखते थे जहां के निवासी मांस अथवा फलफूल खाकर जीते थे।

९. वही, ३, ३, १५-१६। १०. वि० सू०, ३, ५६-६०। ११. आचारांग सूत्र, २, १३, १, ८। १२. बृहद् कल्पसूत्र भाष्य, १२२६। १३. वही, १२२७। १४. वही, १२३०। १५. वही, १२३१। १६. वही, १२३४। १७. वही, १२३८।

जिन प्रदेशों में वे जाते थे, उनके विस्तार का वे पता लगाते थे और स्थानिक रीति रस्मों (कल्प) से भी वे अपने को अवगत करते थे, जैसे सिन्ध में मांस खाने की प्रथा थी, महाराष्ट्र में लोग धोबियों के साथ भोजन कर सकते थे और सिन्ध में कलवारों के साथ।[१८]

आवश्यक चूर्णि के अनुसार[१९] जैन साधु देश-कथा जानने में चार विषयों यथा छंद, विधि, विकल्प और नेपथ्य पर विशेष ध्यान देते थे। छंद से भोजन, अलंकार इत्यादि से मतलब है। विधि से स्थानिक रिवाज़ों से मतलब है, जैसे लाट, गोल्ल (गोदावरी जिला) और अंग (भागलपुर) में ममेरी बहिन से विवाह हो सकता था पर दूसरी जगहों में ऐसा सम्भव नहीं था। उदीच्य में कुछ जंगली जातियों में विमाता से भी विवाह हो सकता था पर दूसरी जगह में यह प्रथा पूर्णतः अमान्य थी। विकल्प में खेतीबारी, घरदुवार, मंदिर इत्यादि की बात आ जाती थी तथा नेपथ्य में वेशभूषा की बात।

अराजकता के समय यात्रा करने पर साधुओं और व्यापारियों को कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। उस राज्य में जहां का राजा मर गया हो (वैराज्य) साधु जा सकते थे पर शत्रु-राज्य में वे ऐसा नहीं कर सकते थे।[२०] गौल्मिक बहुधा दयावश साधुओं को आगे जाने देते थे। ये गौल्मिक तीन तरह के होते थे यथा संयतभद्रक, गृहिभद्रक और संयतगृहिभद्रक। अगर पहला साधुओं को छोड़ भी देता था तो दूसरा उन्हें पकड़ लेता था। पर इन लोगों से छुटकारा मिल जाने पर भी राज्य में घुसते ही राजकर्मचारी उनसे पूछता था, "आप किस पगदण्डी (उत्पथ) से आये हैं।" अगर साधु इस प्रश्न का ठीक उत्तर देते तो उन्हें सीधा रास्ता न पकड़ने के कारण गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह कहने पर कि वे सीधे रास्ते से आये हैं वे अपने को तथा गौल्मिकों को कठिनाई में डाल सकते थे। गौल्मिकों की नियुक्ति यात्रियों की चोरों से रक्षा करने के लिये होती थी तथा स्थानपालक (थानेदार) लोगों को बिना आज्ञा के आने जाने नहीं देते थे। यही कारण था कि घुमावदार रास्ते से आने वाला एक बड़ा अपराधी माना जाता था। कभी कभी स्थानपालक सोते रहते थे और उनकी शालाओं में कोई नहीं होता था। अगर ऐसे समय साधु धीरे से खिसक जावें तो पकड़ जाने पर वे अपने साथ ही साथ स्थानपालकों को भी फंसा सकते थे (बृ० क० सू० भा०, २७७२-७५)।

सार्थवाह—सार्थ पांच तरह के होते थे: १-भंडीसार्थ अर्थात माल ढोने वाले सार्थ। २-बहलिका। इस सार्थ में ऊंट, खच्चर, बैल इत्यादि होते थे। ३-भारवह। इस सार्थ में लोग स्वयं अपना माल ढोते थे। ४-औदरिका। यह उन मजदूरों का सार्थ होता था जो जीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे। ५-कार्पटिक सार्थ। इसमें अधिकतर भिक्षु और साधु होते थे।[२१]

सार्थ द्वारा लेजाये जाने वाले माल को विधान कहते थे। माल चार तरह का होता था यथा—१-गणिम। जिसे गिन सकते थे जैसे हर्रा, सुपारी इत्यादि। २-धरिम। जिसे तौल सकते थे जैसे शक्कर। ३-मेय। जिसे पाली तथा सेतिका से नाप सकते थे जैसे चावल और घी। ४-परिच्छेद्य। जिसे केवल आंखों से जांच सकते थे जैसे कपड़े, जवाहरात, मोती इत्यादि।[२२]

सार्थ के साथ अनुरंगा (एक तरह की गाड़ी), डोली (यान) घोड़े, भैंसें, हाथी और बैल होते थे जिन पर बीमार, घायल, बच्चे बूढ़े और पैदल चलने में असमर्थ चढ़ सकते थे। कोई कोई सार्थवाह इसके लिये कुछ

---

१८. वही, १२३६। १९. आवश्यक चूर्णि, पृ० ५८१ अ तथा ५८१ रतलाम, १९२८। २०. बृ० क० भा०, २७६५। २१. वही, ३०६६। २२. वही, ३०७०।

किराया वसूल करते थे, पर किराया देने पर भी जो सार्थवाह बच्चों और बूढ़ों को सवारियों पर नहीं चढ़ने देते थे, वे क्रूर समझे जाते थे और लोगों को ऐसे सार्थवाह के साथ यात्रा करने की कोई राय नहीं देता था।[२३] ऐसा सार्थ जिनके साथ दंतिक (मोदक, मंडक, अशोकवर्ती जैसी मिठाइयां), गेहूं, तिल, गुड़ और घी हो प्रशंसनीय समझा जाता था क्योंकि आपत्तिकाल में जैसे बाढ़ आने पर सार्थवाह पूरे सार्थ और साधुओं को भोजन दे सकता था। [२४]

यात्रा में अक्सर सार्थों को आकस्मिक विपत्तियों का जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डांकुओं, जंगली हाथियों द्वारा मार्ग निरोध, राज्य क्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का सामना करने के लिये तैयार रहना पड़ता था। ऐसे समय सार्थ के साथ काफी खाने पीने का सामान होने पर वह विपत्ति के निराकरण होने तक एक जगह ठहर सकता था, [२५] सार्थ अधिकतर कीमती सामान ले जाया और ले आया करते थे। इनमें केशर, अगर, चोया, कस्तूरी, ईंगुर, शंख और नमक मुख्य थे। ऐसे सार्थों के साथ व्यापारियों और खास करके साधुओं का चलना ठीक नहीं समझा जाता था क्योंकि इनके लुटने का बराबर भय बना रहता था।[२६] रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिये छोटे छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर आगे बढ़ने के लिये रुके रहते थे। कभी कभी दो सार्थवाह मिलकर तय कर लेते थे कि जंगल में अथवा नदी या दुर्ग पड़ने पर वे रात भर ठहर कर सबेरे साथ साथ नदी पार करेंगे।[२७]

सार्थवाह यात्रियों के आराम का ध्यान करके ऐसा प्रबन्ध करते थे कि उन्हें एक दिन में बहुत न चलना पड़े, क्षेत्रत: परिशुद्ध सार्थ एक दिन में उतनी ही मंजिल मारता था जितनी बच्चे और बूढ़े आराम से तय कर सकते थे। सूर्योदय के पहले ही जो सार्थ चल पड़ता था उसे कालत: परिशुद्ध सार्थ कहते थे। भावत: परिशुद्ध सार्थ में बिना किसी भेदभाव के सब मतों के साधुओं को भोजन मिलता था।[२८] एक अच्छा सार्थ बिना राज्य मार्ग को छोड़े हुए धीमी गति से आगे बढ़ता था। रास्ते में भोजन के समय वह ठहर जाता था और गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर पड़ाव डाल देता था। [२९] वह इस बात के लिये भी सर्वदा प्रयत्नशील रहता था कि वह उसी सड़क को पकड़े जो गांवों और चरागाहों से होकर गुजरती हो। वह पड़ाव भी ऐसीही जगह डालने का प्रयत्न करता था जहाँ साधुओं को आसानी से भिक्षा मिल सके। [३०]

सार्थ के साथ यात्रा करने वालों को एक अथवा दो सार्थवाहों की आज्ञा माननी पड़ती थी। उन दोनों सार्थवाहों में एक से भी किसी प्रकार अनबन होने पर यात्रियों का सार्थ के साथ यात्रा करना उचित नहीं माना जाता था। यात्रियों के लिये यह भी आवश्यक था कि वे उन शकुनों और अपशकुनों में विश्वास करें जिन्हें सारा सार्थ मानता हो। सार्थवाह द्वारा नियुक्त चालक की आज्ञा मानना भी यात्रियों के लिए आवश्यक था।[३१]

सार्थों के साथ साधुओं की यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी। कभी कभी उनके भिक्षाटन पर निकल जाने पर सार्थ आगे बढ़ जाता था और उन विचारों को भूखे प्यासे इधर उधर भटकना पड़ता था।[३२] एक ऐसे ही भूले भटके साधु समुदाय का वर्णन है जो उन गाड़ियों के पड़ाव पर जो राजा के लिए लकड़ी लाने

---

२३. वही, ३०७१। २४. वही, ३०७२। २५. वही, ३०७३। २६. वही, ३०७४। २७. वही, ४८७३–७४। २८. वही, ३०७६। २९. वही, ३०७६। ३०. वही, ३०७६। ३१. वही, ३०८६–८७। ३२. आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ १०८।

आयीं थीं पहुंचा। यहां उन्हें भोजन मिला और ठीक रास्ते का भी पता चला। लेकिन साधुओं को ये सब कष्ट तभी उठाने पड़ते थे जब सार्थ उन्हें स्वयं भोजन देने को तैयार न हो। आवश्यक चूर्णि[३३] में इस बात का उल्लेख है कि क्षितिप्रतिष्ठ और वसन्तपुर के बीच यात्रा करने वाले एक सार्थवाह ने इस बात की मुनादी करा दी कि उसके साथ यात्रा करने वालों को भोजन, वस्त्र, बरतन और दवाइयां मुफ्त में मिलेंगी। पर ऐसे उदार हृदय भक्त थोड़े हो होते होंगे, साधारण व्यापारी अगर ऐसा करते तो उनका दिवाला निश्चित था।

हमें इस बात का पता है कि जैन साधु खाने पीने के मामले में काफी विचार रखते थे। यात्रा में गुड़, घी, केले, खजूर, शक्कर तथा गुड़घी की पिन्नी उनके विहित खाद्य थे। घी न मिलने पर वे तेल से भी काम चला सकते थे। वे उपरोक्त भोजन इसलिए करते थे कि वह थोड़े ही में क्षुधा शान्त कर देने वाला होता था और उससे प्यास भी नहीं लगती थी। पर ऐसा तरमाल सदा तो मिलने वाला नहीं था और इसीलिए वे चना चबेना मिठाई और शालिचूर्ण पर भी गुजर कर लेते थे।[३४] यात्रा में जैन साधु अपनी दवाओं का भी प्रबन्ध करके चलते थे। उनके साथ वात, पित्त, कफ सम्बन्धी बीमारियों के लिए दवायें होती थीं और घाव के लिए मलहम की पट्टियां।[३५]

सार्थ के लिए यह आवश्यक था कि उसके सदस्य वन्यपशुओं से रक्षा पाने के लिये सार्थवाह द्वारा बनाये गये बाड़ों को कभी न लांघें। ऐसे बाड़े का प्रबन्ध न होने पर साधुओं को यह अनुमति थी कि वे कंटीली झाड़ियों से स्वयं अपने लिये एक बाड़ तैयार कर लें। वन्यपशुओं से रक्षा के लिए पड़ावों पर आग भी जलाई जाती थी। जहां डाकुओं का भय होता था वहां यात्री आपस में अपनी बहादुरी की इसलिए डींगें मारते थे कि उन्हें सुनकर डाकू डरकर भाग जायं। लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सार्थ इधर उधर छितरा कर अपनी जान बचाता था।[३६]

ऐसे सार्थ के साथ जिसमें बच्चे और बूढ़े हों जंगल में रास्ता भूल जाने पर साधु वनदेवता की कृपा से ठीक रास्ता पा लेते थे।[३७] वन्यपशुओं अथवा डाकुओं द्वारा सार्थ के नष्ट हो जाने पर अगर साधु विलग हो जाते थे तो सिवाय देवताओं की प्रार्थना के उनके पास कोई चारा नहीं रह जाता था।[३८]

भिखमंगों के सार्थ का भी बृहत कल्पसूत्र भाष्य में सुन्दर वर्णन दिया गया है। खाना न मिलने पर ये भिखमंगे कन्द, मूल, फूल पर अपना गुजारा करते थे पर ये सब वस्तुएं जैन साधुओं को अभक्ष्य थीं। इन्हें न खाने पर अकसर भिखमंगे उन्हें डराते भी थे। वे भिक्षुओं के पास एक रस्सी लाकर कहते थे, "अगर तुम कन्द मूल, फल नहीं खाओगे तो हम तुम्हें फांसी पर लटका देंगे। क्योंकि बिना भोजन के तुम जीवित नहीं रह सकते। इसलिये बेहतर तो यही है कि हम तुम्हें फांसी पर लटका कर आनन्द से भोजन करें।"[३९]

सार्थ के दूसरे सदस्य तो जहां कहीं भी ठहर सकते थे पर जैन साधुओं को इस सम्बन्ध में भी कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। यात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए इन नियमों का पालन करना बड़ा कठिन था। सार्थ के साथ सन्ध्या समय गहरे जंगल से निकल कर जैन साधु अपने लिए विहित स्थान की खोज में जुट पड़ते थे और ऐसी जगह न मिलने पर कुंभारों की कर्मशाला अथवा दुकानों में पड़ रहते थे।[४०]

---

३३. वही, पृ० ११५ से। ३४. बृ० क० सू० भा०, ३०६३–६४। ३५. वही, ३०६४। ३६. वही, ३१०४। ३७. वही, ३१०८। ३८. वही, ३११०। ३९. वही, ३११२–१४। ४०. वही, ३४४२–४५।

यात्रा में जैन साधु तो किसी तरह अपना प्रबन्ध कर भी लेते थे पर जैन साध्वियों को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। बृहद् कल्प सूत्र (भा० ४ पृ० ६७२) के एक सूत्र में कहा गया है कि साध्वी आगमनगृह में, छाए अथवा बेपर्द घर में, चबूतरे पर, पेड़ के नीचे अथवा खुले में अपना डेरा नहीं डाल सकती थीं। आगमनगृह में सब तरह के यात्री टिक सकते थे। मुसाफिरों के लिये ग्राम सभा, प्रपा (बावड़ी) और मन्दिरों में ठहरने की व्यवस्था रहती थी [४१] साध्वियां यहां इसलिए नहीं ठहर सकती थीं कि पेशाब पाखाना जाने पर लोग उन्हें बेशरम कह कर हंसते थे।[४२] कभी कभी आगमनगृह में चोरी से कुत्ते घुस कर बरतन उठा ले जाते थे। गृहस्थों के सामने साध्वियां अपना चित्त भी निश्चय नहीं कर पाती थीं।[४३] इन आगमनगृहों में बहुधा बदमाशों से घिरी बदमाश औरतें और वेश्याएं होती थीं। पास से बारातें अथवा राजयात्रा निकलती थी जिन्हें देखकर साध्वियों के हृदय में पुरानी बातों की याद ताजी हो जाती थी। आगमनगृह में वे युवा पुरुषों से नियमानुसार बातचीत नहीं कर सकती थीं और ऐसा न करने पर लोग उन्हें घृणा के भाव से देखते थे। यहां से चोर कभी कभी उनके कपड़े भी उठा ले जाते थे। इस तरह के रंडी भड़ुओं से घिरकर उनके पतन की सम्भावना रहती थी।[४४] तीन बार विहित स्थान खोजने पर भी न मिलने से साध्वियां आगमनगृह अथवा बाड़ से घिरे मन्दिर में ठहर सकती थीं लेकिन उनके लिये ऐसा करना तभी विहित था जब वे स्थिर बुद्धि से विधर्मियों से अपनी रक्षा कर सकें। पास में भले आदमियों का पड़ोस भी आवश्यक था [४५] मन्दिर में भी जगह न मिलने पर वे ग्राम महत्तर के यहां ठहर सकती थीं।[४६]

ऊपर हम देख आये हैं कि जैन साहित्य के अनुसार व्यापारी और साधु किस तरह यात्रा करते थे और उन्हें यात्राओं में कौन कौन सी तकलीफें उठानी पड़ती थीं और सार्थ का संगठन किस प्रकार होता था। स्थल मार्ग में कौन कौन रास्ते चलते थे इसका जैन साहित्य में अधिक विवरण नहीं मिलता। अहिछत्रा (आधुनिक रामनगर, बरेली) को एक रास्ता था जिससे उत्तर प्रदेश के उत्तरी रास्ते का बोध होता है। इस रास्ते से धन नाम का व्यापारी माल लादकर व्यापार करता था [४७] उज्जैनी और चम्पा के बीच भी लगता है कोशाम्बी और बनारस होकर व्यापार चलता था। इसी रास्ते पर धनवसु नामक सार्थवाह के लुटने का उल्लेख है।[४८] मथुरा प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था और यहां से दक्षिण मथुरा के साथ बराबर व्यापार होता था।[४९] शूर्परिक से भी व्यापार का उल्लेख है।[५०] स्थल मार्ग से व्यापारी ईरान (पारसदीप) तक की यात्रा करते थे[५१]। रेगिस्तान की यात्रा में लोगों को बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती थी।[५२] रेगिस्तानी रास्तों में सीध दिखलाने के लिये कीले गड़े होते थे।[५३]

समुद्रयात्रा : अपने धार्मिक आचारों की कठिनता के कारण जैन साधु तो समुद्र यात्रा नहीं करते थे पर जैन सार्थवाह और व्यापारी बौद्धों की तरह समुद्र यात्रा के कायल थे। इन यात्राओं का बड़ा सजीव वर्णन प्राचीन जैन साहित्य में आया है। आवश्यक चूर्णि से पता चलता है कि दक्षिण-मदुरा से सुराष्ट्र को बराबर जहाज चला करते थे। एक जगह कथा आई है कि पंडुमथुरा के राजा पंडुसेन की मति और सुमति नाम की दो कन्याएं जब जहाज से सुराष्ट्र को चलीं तो रास्ते में तूफान आया और यात्री इससे बचने के लिये रुद्र

---

४१. वही, २४८६। ४२. वही ३४९०। ४३. वही, ३४९४। ४४. वही, ३४९५–९६। ४५. वही, ३५०४। ४६ वही, ३५०७। ४७. ज्ञाता धर्मकथा, १५,१४९। ४८. आवश्यकतानियुक्ति, १२७६ से। ४९. आवश्यकचूर्णि, पृ० ४७२ से। ५०. बृ० क० सू० भा०, २५०६। ५१. आवश्यकचूर्णि, पृ० ४४८। ५२. वही, पृ० ५५३। ५३. सूत्रकृतांग, टीका, १,१७, पृ० १९६।

और स्कन्द की प्रार्थना करने लगे।[५४] हम आगे चलकर देखेंगे कि चम्पा से गंभीर, जो शायद ताम्रलिप्ति का दूसरा नाम था, होकर सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप जो शायद जंजीबार का भारतीय नाम था बराबर जहाज चलते थे।

समुद्र यात्रा के कुशलपूर्वक समाप्त होने का बहुत कुछ श्रेय अनुकूल वायु को होता था[५५] निर्यामकों को समुद्री हवा के रुखों का कुशल ज्ञान जहाजरानी के लिये बहुत आवश्यक माना जाता था। हवाएं सोलह प्रकार की मानी जाती थीं यथा : १–प्राचीन वात (पूर्वी) २–उदीचीन वात (उतराहट), ३–दाक्षिणात्यवात (दखिनाहट), ४–उत्तरपौरस्त्य (सामने से चलती हुई उतराहट), ५–सत्वासुक (शायद चौआई), ६–दक्षिणपूर्व तुंगार (दक्खिन पूरब से चलती हुई जोरदार हवा को तुंगार कहते थे), ७–अपरदक्षिण बीजाप पश्चिम दक्षिण से चलती हवा को बीजाप कहते थे) ८–अपरबीजाप (पछुआं), ९–अपरोत्तरगर्जभ (पश्चिमोत्तरी तूफ़ान), १०–उत्तर सत्वासुक, ११–दक्षिण सत्वासुक, १२–पूर्वतुंगार, १३–दक्षिण बीजाप, १४–पश्चिम बीजाप, १५–पश्चिमी गर्जभ और १६–उत्तरी गर्जभ।

समुद्री हवाओं के उपरोक्त वर्णन में सत्वासुक, तुंगार तथा बीजाप शब्द नाविकों की भाषा से लिए गये हैं और उनकी ठीक ठीक परिभाषाएं मुश्किल हैं, पर इसमें सन्देह नहीं इनका सम्बन्ध समुद्र में चलती हुई प्रतिकूल और अनुकूल हवाओं से है। इसी प्रकरण में आगे चलकर यह बात सिद्ध हो जाती है। सोलह तरह की हवाओं का उल्लेख करके चूर्णिकार कहता है कि समुद्र में कालिकावात (तूफ़ान) न होने पर तथा साथ ही साथ अनुकूल गर्जभ वायु के चलने पर निपुण निर्यामक के आधीन वह जहाज जिसमें पानी न रसता हो इच्छित बन्दरगाहों को सकुशल पहुंच जाता था। तूफ़ानों से जिसे कालिकावात कहते थे जहाजों के डूबने का भारी खतरा बना रहता था।

ज्ञाताधर्म की दो कथाओं से भी प्राचीन भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है। एक कहानी में कहा गया है कि चम्पा में समुद्री व्यापारी (नाव वाणियगा) रहते थे। ये व्यापारी नाव द्वारा गणिम (गिनती), धरिम (तौल), परिच्छेद्य तथा मेय (नाप) की वस्तुओं का विदेशों से व्यापार करते थे। चम्पा से यह सब माल बैलगाड़ियों पर लाद दिया जाता था। यात्रा के समय मित्रों और रिश्तेदारों का भोज होता था। व्यापारी सबसे मिल मिलाकर शुभ मुहूर्त्त में गम्भीरनाम के बन्दर (पोयपत्तण) की यात्रा पर निकल पड़ते थे। बन्दरगाह पर पहुंच कर गाड़ियों पर से सब तरह का माल उतार कर जहाज पर चढ़ाया जाता था और उसके साथ ही खाने-पीने का सामान जैसे चावल, आटा, तेल, घी, गोरस, मीठे पानी की द्रोड़ियाँ, औषधियाँ तथा बीमारों के लिए पथ्य भी लाद दिए जाते थे। समय पर काम आने के लिए पुआल, लकड़ी, पहनने के कपड़े, अन्न, शस्त्र तथा और बहुत सी वस्तुयें और कीमती माल भी साथ में रख लिए जाते थे। जहाज छूटने के समय व्यापारियों के मित्र और सम्बन्धी शुभकामनायें तथा व्यापार में पूरा फ़ायदा करके कुशलपूर्वक लौट आने की हार्दिक इच्छा प्रकट करते थे। व्यापारी समुद्र और वायु की पुष्प और गन्ध द्रव्य से पूजा करने के बाद मस्तूलों (वलयवाहासु) पर पताकाएँ चढ़ा देते थे, जहाज छूटने के पहले वे राजाज्ञा भी ले लेते थे, मंगलवाद्यों की तुमुल ध्वनि के बीच जब व्यापारी जहाज पर सवार होते थे तो उस बीच बन्दी और चारण उन्हें यात्रा के शुभमुहूर्त का ध्यान दिलाते हुए यात्रा में सफल हो कर कुशल मंगल पूर्वक वापस लौट आने के लिए अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करते थे। कर्णधार, कुक्षिधार, (डांड़ चलाने वाले) और खलासी (गर्भिजूतका:) जहाज की रस्सियां ढीली कर देते

५४. आवश्यकचूर्णि, पृ० ७०६ अ। ५५. वही, पृ० ६६। ५६. वही, पृ० ३८६ और ३८७ अ।

थे। इस तरह बंधनमुक्त हो कर पाल हवा से भर जाती थी और पानी फाटता हुआ जहाज आगे चल निकलता था। अपनी यात्रा सकुशल समाप्त करके जहाज पुनः वापस लौट कर बन्दर में लंगर डाल देता था।[९७]

एक दूसरी कहानी में भी जहाजरानी और व्यापारियों द्वारा सामुद्रिक विपत्तियों का सामना करने का अच्छा चित्र आया है। इस कहानी के नायक व्यापारी एक समय समुद्र यात्रा के लिए हत्थिसीस नगर से बंदरगाह को रवाना हुए। रास्ते में तूफ़ान आया और जहाज डगमगाने लगा जिससे घबड़ा कर निर्यामक किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। यहां तक कि जहाजरानी की विद्या भी उसे विस्मृत हो गई। गड़बड़ी में उसे दिशा का भी ध्यान नहीं रहा। इस विकट परिस्थिति से रक्षा पाने के लिए निर्यामक, कर्णधार, कुक्षिधार, गर्भिक और व्यापारियों ने नहा धो कर इंद्र और स्कंद की प्रार्थना की। देवताओं ने उनकी सुन ली और निर्यामकों ने बिना किसी विघ्न-बाधा कालियद्वीप में अपना जहाज लाकर वहां लंगर डाल दिया। इस द्वीप में व्यापारियों को सोने-चाँदी की खदानें, हीरे और दूसरे रत्न मिले। वहां धारीदार घोड़े यानी जब्रे भी थे। सुगन्धित काष्ठों की गमगमाहट तो बेहोशी लाने वाली थी। व्यापारियों ने अपना जहाज सोने, जवाहरातों इत्यादि से खूब भरा और अनुकूल दक्षिण वायु में जहाज चलाते हुए सकुशल बन्दरगाह में लौट आये और वहां पहुँच कर राजा कनककेतु को सौगात देकर भेंट की। कनककेतु ने उनसे पूछा कि उनकी यात्राओं में सबसे विचित्र देश कौन सा देख पड़ा। उन्होंने तुरन्त कालियद्वीप का नाम लिया। इस पर राजा ने व्यापारियों से राजकर्मचारियों के साथ कालियद्वीप की यात्रा वहां के जब्रे लाने के लिए करने को कहा। इस बात पर व्यापारी राजी हो गए और उन्होंने व्यापार के लिए जहाज पर माल भरना शुरू किया। इस माल में बहुत से बाजे जैसे वीणा, भ्रमरी, कच्छवीणा, भंभण, पट्भ्रमरी और विचित्र वीणाएँ थीं। माल में काठ और मिट्टी के खिलौने (कट्ठकम्म, पोत्थकम्म), तसवीरें, पुते खिलौने (लेप्पकम्म), मालाएँ (गंथिम), गुथी वस्तुएँ (वेढिम), भरावदार खिलौने (पूरिम), बटे सूत से बने कपड़े (संघाइम) तथा नेत्रसुखद और भी बहुत सी वस्तुएँ थीं। इतना ही नहीं उन्होंने जहाज में कोष्ठ (कोट्ठपुडाग), मोंगरा, केतकी, पत्र, तमालपत्र, लायची, केसर और खस के सुगन्धित तेल के कुप्पे भी भर लिए। कुछ व्यापारियों ने खांड, गुड़, शक्कर, बूरा, (मत्स्यंडी) तथा पुष्पोत्तरा और पद्मोत्तरा नाम की शक्करें अपने माल में रख लीं। कुछ ने रोएंदार कम्बल (कोजव), मलयवृक्ष की छाल के रेशे से बने कपड़े, गोल तकिए इत्यादि विदेशों में बिक्री के सामान भर लिए। कुछ जौहरियों ने हंसगर्भ इत्यादि रत्न रख लिए। खाने के लिए जहाज में चावल भर लिया गया। कालियद्वीप में पहुँच कर छोटी नावों (अरथिका) से माल नीचे उतारा गया। इसके बाद जब्रा पकड़ने की बात आती है।[९८]

कालिय द्वीप का तो ठीक ठीक पता नहीं चलता पर बहुत सम्भव है कि यह जंजीबार हो क्योंकि जंजीबार के वही अर्थ होते हैं जो कालियद्वीप के। जो कुछ भी हो जब्रा के उल्लेख से तो प्रायः निश्चित सा है कि कालियद्वीप पूर्वी अफ्रीका के समुद्रतट पर ही रहा होगा।

उपरोक्त विवरणों से हमें पता चल जाता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष का भीतरी और बाहरी व्यापार बड़े जोर से चलता था। इस देश से सुगन्धित द्रव्य, कपड़े, रत्न, खिलौने इत्यादि बाहर जाते थे और बाहर से बहुत से सुगन्धित द्रव्य, रत्न, सुवर्ण इत्यादि इस देश में आते थे। दालचीनी, मुरा (लोबान), अनलद, बालछड़, नलद, अगर, तगर, नरल, कस्तूरी, कपूर, जायफल, जावित्री, कुठ जटामांसी इत्यादि का इस देश से दूसरे

---

९७. ज्ञाता धर्म कथा, ८,७५। ९८. वही, १७ पृ० १३७ से।

देशों के साथ व्यापार होता था। ५९ कपड़ों का भी व्यापार काफी उन्नत अवस्था पर था। रेशमी वस्त्र बहुधा चीन से आता था। गुजरात की बनी पटोला साड़ियां काफी विख्यात थीं। मध्य एशिया और बलख से समूर और पश्मीने आते थे। इस देश से मुख्यतर सूती कपड़े बाहर जाते थे। ६० काशी के वस्त्र इस युग में भी ख्यात थे तथा अपरांत (कोंकण) सिन्ध और गुजरात में भी अच्छे कपड़े बनते थे। बृहद कल्प सूत्र भाष्य ६१ के अनुसार नेपाल, ताम्रलिप्ति और सिन्धुसौवीर अच्छे कपड़ों के लिए विख्यात थे।

जैन साहित्य से यह भी पता चलता है कि इस देश में विदेशी दास दासियों की भी काफी खपत थी। अन्तगडदसाओ ६२ से पता चलता है सोमाली लैण्ड, वत्तु प्रदेश, यूनान, सिंहल, अरब, फरगना, बलख और फारस इत्यादि से इस देश में दासियां आती थीं। ये दासियां अपने अपने मुल्क के कपड़े पहिनती थीं और इस देश की भाषा न जानने से केवल इशारे से बातचीत कर सकती थीं।

देश में हाथी दांत का अच्छा व्यापार होता था और वह यहां से विदेशों को भी भेजा जाता था। हाथी दांत इकट्ठा करने के लिये व्यापारी पुलिंदों को बयाना दे रखते थे, इसी तरह शंख इकट्ठा करने वाले मांझियों को भी बयाने का रुपया दे दिया जाता था। ६३

उत्तरापथ के तंगण नाम के म्लेच्छ जिनकी पहिचान तराई के तंगणों से की जाती है सोना और हाथी दात बेचने के लिए दक्षिणापथ आया करते थे। किसी भारतीय भाषा के न जानने की वजह से वे केवल इशारे से सौदा पटाने का काम करते थे। अपने माल की वे राशियाँ लगा देते थे और उन्हें अपने हाथों से ढक देते थे। और उन्हें तब तक नहीं उठाते थे जब तक पूरा सौदा पट नहीं जाता था। ६४

जैन साहित्य से पता लगता है कि इस देश में उत्तरापथ के घोड़ों का व्यापार खूब चलता था और सीमा प्रान्त के व्यापारी घोड़ों के साथ देश के कोने कोने में पहुंचते थे। कहानी है कि उत्तरापथ से एक घोड़े का व्यापारी द्वारका पहुंचा। यहां और राजकुमारों ने तो उससे ऊंचे पूरे और मोटे ताजे घोड़े खरीदे पर कृष्ण ने सुलक्षण और दुबले पतले घोड़े खरीदे।६५ दीवालिया के खच्चर भी प्रसिद्ध होते थे।६६ जैन साहित्य से पता चलता है कि गुप्त युग में भारत का ईरान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध काफी बढ़ गया था। इस व्यापार के आदान प्रदान मुख्य वस्तुओं में शंख, फोफ्फल, चन्दन, अगर, मंजीठ, सोना, चांदी, मोती, रत्न और मूंगे होते थे।६७ माल की उपरोक्त तालिका में शंख, चन्दन, अगर और रत्न तो भारत से जाते थे। ईरान इस देश को मंजीठ, चादी, सोना, मोती और मूंगे भेजता था।

जैन प्राकृत कथाओं में एक जगह एक ईरानी व्यापारी की सुन्दर कथा आई है। ईरान का यह व्यापारी वेन्नयड़ नामक बन्दर को अपने बड़े जहाज में शंख, सुपारी, चन्दन, अगर, मंजीठ तथा ऐसे ही दूसरे पदार्थ भर कर चला। हमें कहानी से पता चलता है कि जब ऐसा जहाज किसी टापू अथवा बंदरगाह में पहुंचता था तो वहां उस पर लदे माल की इसलिए जांच होती थी कि उस पर वही माल लदा था जिसके निर्यात के लिए मालिक को राजाज्ञा थी अथवा दूसरा माल भी। वेन्नयड़ में जब ईरानी जहाज पहुंचा तब वहां के राजा ने जहाज

५९. जे० आई० एस० ओ० ए०, ८ (१९४०), पृ० १०१ से। ६०. वही, ८ (१९४०), पृ० १८८ से। ६१. बृ० क० सू० भा०, ३९१२। ६२. अन्तगडदसाओ बार्नेट का अनुवाद पृ० २८-२९, लन्दन, १९०७। ६३. आवश्यक चूर्णि, पृ० ८२९। ६४. वही, पृ० १२०। ६५. वही, पृ० ४२४ अ। ६६. दशवै कालिकचूर्णि, पृ० २१३। ६७. उत्तराध्ययन टीका, पृ० ६४ अ।

बरीघाट

[मधुवन में जामनेर का जल प्रपात

क्षमा

मुनिवर वशिष्ठ सुत शक्ति सदय
जाते थे वन पथ से सहृदय।
मिल गया उन्हें अभिमुख आगत
कल्मापपाद नृप मृगयारत।
वह पैर पटक कर, आहट कर,
बोला—"वटु, पथ छोड़ो हट कर।"
उत्तर पाया—"मैं कष्ट करूँ,
क्या तुमको धर्मभ्रष्ट करूँ?
तुम भूप, किन्तु ब्राह्मण हूँ मैं,
तुमसे पथ न लूँ, तुम्हें दूँ मैं,
तो विनय तुम्हारा हत होगा;
मेरा गौरव भी गत होगा।"
"मैं शासक हूँ।" "यह जान लिया,
पर किसने यह पद तुम्हें दिया?
हम वेदविदों के ही तप ने,
तुम शासक, किन्तु प्रथम अपने!
तुम मार्ग छोड़ छुड़वाते हो?
विधि स्वयं तोड़ तुड़वाते हो?
पर भूलो तुम निज धर्म भले,
मुझसे मेरा अधिकार पले।"
मदमत्त नृपति तब तप्त हुआ,
कर कशाघात अभिशप्त हुआ।

तब वह सोता-सा चौंक पड़ा,
निज स्वप्न सोच रह गया खड़ा।
फिर चिल्लाया—"मैं जला, जला !"
वह मनोग्लानि से गला गला
"हा देव ! मुझे मारो, मारो,
इस जीवनाग्नि से उद्धारो ।
यह भूल गया तुम-सा बुध क्यों,
जो बीत चुका उसकी सुध क्यों ?
यदि मुझसा अधम अनाचारी,
गुरुदेव दया का अधिकारी,
तो जियूँ भूल निज दानवता,
जो लजे न मेरी मानवता।
हे देव, मिले विस्मरण मुझे,
अन्यथा भला है मरण मुझे।"
रोकर पैरों पर भूप पड़ा,
मुनि भूल गये निज क्लेश कड़ा
"हा तात ! उठो धीरज धरके,
जीतो निज पाप पुण्य करके;
आवे तब मृत्यु भले आवे,
क्यों अमृतपुत्र मरने जावे ?
तुम जियो और निज धर्म धरो,
सौ बरसों तक शुभ कर्म करो ।"

—मैथिलीशरण गुप्त

भाग २

नव–भारत

कला और राजनीति

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

हुशंगाबाद से लगभग तीन मील पर सड़क के निकट, जो इटारसी को जाती है, एक पहाड़ी है। इस पहाड़ी में तीन ढकी हुई चट्टानों पर कुछ चित्र अंकित हैं, इन चित्रों की रेखाएँ गेरु के रंग की हैं। चित्र शिकार, नृत्य और कुछ ऐसे पशुओं के हैं जो अब भारत भर में कहीं नहीं पाए जाते। थोड़ी ही दूर, नर्मदा नदी के उस पार, कोसों दूर तक बीहड़ जंगल चला गया है। हुशंगाबाद से २०, २२ मील की दूरी पर अब भी घने जङ्गल हैं। नर शास्त्री और पुरातत्ववेत्ता इन रेखा चित्रों की आयु पाँच छः सहस्र वर्ष कूतते हैं। इसी वर्ग के रेखा चित्र उड़ीसा, झांसी के समीपवर्ती बीजोरखाघाट और सुदूर फ्रांस और स्पेन में भी हैं। वहाँ भी ऐसे ही और, सघनतर वन रहे होंगे, जहाँ ऐसे पशु विचरण करते रहे होंगे जिनका आज कोई भी अवशेष नहीं है।

ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये चित्र उस युग के चित्रकारों ने केवल मनोरंजन के लिए बनाए होंगे, तब किस उद्देश्य से ये चित्र बनाए गए होंगे?

झांसी समीपवर्ती बीजोरखाघाट की एक गुफा में स्वस्तिक 卐 चित्र बना हुआ है और उसके पास एक खम्भा यूप—तथा कुछ अस्पष्ट रेखा चित्र हैं। जान पड़ता है ये चित्र किसी के विवाह या बड़े उत्सव को व्यक्त करने के लिए खींचे गए हैं। हुशंगाबाद की गुफाओं के चित्र बहुत स्पष्ट हैं, पुरुष लम्बे छरेरे शरीर के, सुडौल और सुघरे, हाथ पांव की मांस पेशिया निखरी सुथरीं—पिंडलियाँ विशेषत: स्पष्ट और सशक्त, बहुत सुघरपने से खींची हुई। पशुओं के चित्र भी चतुराई के साथ खीचे गए हैं—ऐसे कि पशुओं के अग और अवयव पहिचान में साफ आते हैं, वह कौनसा समाज होगा जिसके एक अंग के ये चित्र हैं? उनके चितेरों का क्या अलग समुदाय या वर्ग रहा होगा, जो साधारण समाज के अन्य साधारण वर्गों से अलग रहा हो?

तुलना के लिए आजकल के कुछ चित्र इनसे मिलाए जायँ तो कदाचित इस प्रश्न का उत्तर मिल जाय। उत्तर न भी मिले तो किसी समय का ही परिचय प्राप्त हो जावेगा। एक ओर, आजकल, सीखे सिखाए चित्रकारों की सधी हुई कलम के चित्र मिलगे,—अजन्ता, एलोरा, बेस नगर, हाथी गुम्फा के चित्र, राफेल, लिओनार्डोदाविन्सी, टर्नर, दसवन्त, नन्दलाल, अवीन्द्र नाथ, रुरिक इत्यादि के चित्र—दूसरी ओर ग्रामों की दीवारों पर खींचे हुए चित्र : मनुष्यों को जानवर समझने का भ्रम हो जाय और जानवरों को मनुष्य का! ये उन पुरुषों या स्त्रियों के बनाए हुए चित्र हैं जिन्होंने कभी किसी पाठशाला में एक रेखा को भी हाथ साधकर खींचने का प्रयास नहीं किया है।

तो, छः सहस्र वर्ष पहले के, प्रागैतिहासिक काल के चित्रों के चितेरों ने क्या किसी पाठशाला में शिक्षा पाई होगी? यह निश्चित है कि जिस प्रकार की पाठशालाओं का परिचय हमको प्राप्त है उस प्रकार की पाठशालाएँ उस प्रागैतिहासिक युग में न रहीं होंगी, फिर उन लोगों ने कहाँ से सीखा? किससे सीखा? क्यों सीखा? इत्यादि प्रश्न स्वभावत: उठते हैं।

सुनते आए हैं कि किसी अज्ञात प्राचीनकाल में मानव तीन स्वरों में गाता था, फिर पाँच स्वरों में गायकी बढ़ी, पीछे सात स्वरों में, और फिर, पाँच कोमल स्वर और जोड़े गए और अन्त में बारह स्वर काम में लाए जाने लगे। निश्चित है कि नितांत आरम्भ में किसी विशेष नाम का राग न रहा होगा, फिर, भिन्न भिन्न प्रकार के गायन को प्रकार प्रकार के रागों का नाम दे दिया गया, और इन रागों के कुशल गायकों का एक वर्ग बन गया, यह गायन साधारणजन के बस की बात न रही।

भरतमुनि से लेकर तानसेन के काल तक और तानसेन के काल से लेकर, वर्तमान के, विष्णु दिगम्बर, निसार हुसेन, ओंकारनाथ और फ़ैयाज़ खाँ के काल तक जो कहलाने वाले लोग हुए हैं—इनमें गायन, वादन और नृत्य की विविध परिपाटियों के सभी नेताओं के नाम संजो लिए जाँय–तो एक भी नाम ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता जिसने वर्षों की शिक्षा और परिश्रम के बिना आचार्य पद को प्राप्त कर लिया हो। गांवों में जो गायन वादन और नृत्य साधारण जनता का बहुत बड़ा अंश करता है, और उससे आनन्द प्राप्त करता है, इस वर्ग से बिल्कुल परे है। यदि इस वर्ग के गाने वालों का कंठ सुरीला हुआ तो नगर का सुसंस्कृतजन अपने कान में कुछ मिठास अवगत कर सकता है, अन्यथा जैसे गाँव की दीवारों पर खिंचे हुए चित्र उसको भद्दे जान पड़ेंगे, वैसे ही गाँव, अथाइयों या चौबारों में गाए जाने वाले वे गीत और नाचे जाने वाले वे नृत्य भोंड़े से लगेंगे।

प्रागैतिहासिक काल के चित्रों का पता हमको हुशंगाबाद, बीजोरघाघाट, उड़ीसा, फ्रांस, स्पेन इत्यादि की गुफाओं से लग जाता है, परन्तु संगीत के प्रकार का पता उतनी सरलता से नहीं लगता। इसकी भी अपेक्षा दुस्साध्य है। उस युग की साधारण जनता में प्रचलित चित्रकला, और संगीत कला के प्रकार का अन्वेषण। केवल कल्पना की जा सकती है।

उन गुफाओं के चित्रों के युग के भी पहले कोई एक दीर्घकालीन युग रहा होगा, जब उस प्रकार के चित्र नहीं खींचे जा सकते होंगे। जनता के कुछ कुशाग्र बुद्धि, परिश्रमी लोग अभ्यास करते चले आए होंगे, और तब अनेक पीढ़ियों के क्रमों के उपरांत प्रागैतिहासिक काल के वे चित्र बन पाए होंगे। उन चित्रों के विषयों से मालूम पड़ता है कि तत्कालीन समाज की कुछ आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे चित्र बनाये गये थे। भोजन की व्यवस्था और अपने समूह की रक्षा तत्कालीन जन समाजों की सबसे बड़ी मांगें थीं। उस समय के जन का विश्वास था कि उसकी रक्षा वह स्वयं उतनी नहीं कर सकता, जितनी उसका कोई माना और जाना हुआ देवता। ये चित्र किसी ऐसे ही देवता की अर्चा या समर्पण–श्रद्धावश बनाए गए होंगे जिससे देवता उस विशेष जन समाज को अपने वैरियों पर जय प्राप्त करने, भोजन के लिए पशु संकुल भूमिखण्डों को सुलभ करने और रोगों से सुरक्षित रखने में सन्नद्ध रहे। संगीत का प्रारम्भ भी इसी वाञ्छा में दिखाई पड़ता है। गीत जो गाए जाते होंगे–जिनके कुछ अवशेष मनुष्य जाति के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं–वे भी इसी अभ्यर्थना से प्रेरित होकर बने। मूर्तिकला चित्रकला का उत्पादन है और बहुत आगे के काल की बात है, जब मनुष्य के हाथ लोहा लग गया।

वर्तमान काल में चित्र, संगीत, साहित्य, इत्यादि बहुत उन्नत अवस्था में हैं परन्तु इनकी कलाओं का रस और आनन्द मानव समाज के कितने लोगों को प्राप्त है? कितने लोग उनको या उनके किसी भी अंग को कितना समझ पाते हैं? संगीत में मार्गीय और देशीय के भेद, चित्रकारी में सधी सधाई कलमों की कारीगरी और गांव की दीवारों पर खींचे गए भद्दी भोंड़ी रेखा विकृतियाँ, मूर्ति कला में सांची के स्तूप, देवगढ़ के विष्णु मन्दिर, ग्रीस और रोम के अपोलो और वीनस इत्यादि और गांवों के हाथी, रावण और गोबर गणेश एक स्पष्ट बड़े व्यवधान के द्योतक हैं।

यह व्यवधान मानव समाज की प्रगति या विकास क्रिया के किस युग में आरम्भ हुआ होगा ? उस समाज की क्या अवस्था रही होगी और इस समाज की क्या अवस्था है ? सापेक्ष के लिए यह प्रश्न महत्व के हैं, और उनका उत्तर एक मनोरंजक अटकल अवश्य है, सम्भव है उसमें कहीं सत्य भी छिपा हो।

आदिम समाज के प्रारम्भिक मानव समूह में युद्धों और संघर्षों के संचालन के लिए शारीरिक शक्ति और विशेष चतुरता वाले नेता होते थे। परन्तु नेता का पुत्र या नेता की पुत्री भी विना उस शक्ति या चतुरता के भी अपने समूह का नेतृत्व करे, यह सम्भव नहीं था। सब प्रकार की प्रबल शक्ति ही नेतृत्व का निर्माण कर सकती थी। युद्ध के जीतने का नेता साधन मात्र था—युद्ध में विजय प्राप्त कराने वाला तो वास्तव में देवता होता था—आदिम समाज का मानव कुछ इसी प्रकार ही सोच सकता था। युद्ध को जीत लेने, रोग को दवा देने और भोजन को सुलभ कर देने के लिए एक मात्र सहारा उस समूह का देवता ही हो सकता था। उसको कैसे रिझायें, और मनायें ? गायन, वादन, नृत्य और बलिदानो द्वारा। परन्तु देवता को यह सब सामग्री सदा सर्वदा चाहिए। युद्ध और संघर्ष सतत थे, तब विजय को स्थायी बनाये रखने के लिए उनके इन साधनों को कैसे स्थायी रूप दिया जाय ? यह तो उनके प्रतीकों और प्रतिविम्बों द्वारा ही हो सकता था। गीतों के प्रतिविम्ब नहीं बनाये जा सकते थे परन्तु बलिदानो और नृत्यों के बनाये जा सकते थे। बनाये गये। आदिम मानव की सूक्ष्म दृष्टि, बारीक देख परख की सघन वृत्ति ने सहायता की। बिल्कुल सम्भव है कि उस समाज के प्रत्येक समूह में उस प्रकार के चित्र बनाने वाले उसी भांति बहुसंख्यक रहे हों जैसे गायक, वादक और नर्तक। गीतकार थोड़े होते होंगे—वृद्ध, समूह की देवता की पूजा का पुरोहितत्व करने वाले, जादू टोने के मंत्रज्ञ। उन बलिदानों और उत्सवों में चलने फिरने योग्य सभी व्यक्ति भाग लेते होंगे। सभी गाते और नाचते होंगे। यदि सबके सब चित्र खींचने के अभ्यासी न भी रहे होंगे तो उसके उद्देश्य को सभी जानते होंगे। इस प्रकार की उस समय की कला साधारण जन में व्याप्त रही होगी। कला का वह युग समान-व्यापी कहा जा सकता है। और समाज या समूह के लगभग प्रत्येक व्यक्ति का कला-अनुभव भी समान व्यापक। दरिद्रता, अज्ञान, अन्ध विश्वास, लगभग सभी के लिए समान व्यापी थे, सुख और दुख; दुख:दमन के उपाय और सुख की अनुभूति के साधन भी—जैसे कुछ भी थे—समूह के सब व्यक्तियों को एक सदृश्य सुलभ या दुर्लभ। कलाओं का उद्‌भव समूह के किसी विशेष व्यक्ति के विनोद व्यसन या आनन्द के लिए नहीं हुआ होगा।

फिर कलाओं का विकास और उनके रूप की वर्तमान पराकाष्ठा (?) किस प्रकार हुई ? और समाज के आर्थिक तथा राजनैतिक विकास से उसका क्या सम्बन्ध है ? क्या एक को पहिचान लेने पर दूसरे की कल्पना की जा सकती है ? क्या दोनों समान रूप से आगे बढ़े हैं ? क्या कला की उन्नति के साथ समाज के व्यक्ति की उन्नति की भी कल्पना की जा सकती है ? और यदि साधारण व्यक्ति आगे बढ़ा है तो क्या यह अनुमान कर लिया जाय कि कलायें भी, समान व्यापी—परिमाण में, आगे बढ़ी हैं ?

पक्के और कच्चे गाने का अन्तर भारत में ही नहीं, सब देशों में पाया जाता है। पक्के गाने का पर्याय हो गया है—जो बहुत थोड़े से लोगों की समझ में आ सके। अच्छी मूर्ति को देखकर साधारण जन का भी मन प्रसन्न होता है, मूर्ति बनाई ही श्रद्धा संग्रह के लिए गई है। अच्छे चित्र को भी देखकर, कुछ अंशों में, साधारण जन प्रफुल्ल हो सकता है, परन्तु 'अच्छी' कविता और 'पक्के' गाने के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है।

'पक्का' गाना और क्लिष्ट शब्दों तथा सूक्ष्म भावो और विचारों वाली कविता थोड़े से लोगों के लिये ही है। ये थोड़े से लोग कौन हैं ? समाज में इनका क्या स्थान है ? समाज की वह कौन सी राजनैतिक और

आर्थिक परिस्थिति हो सकती है, जिसका यह लक्षण हो ? आजकल तो स्पष्ट है कि जिन्होंने किसी संस्था में कुछ समय तक उस कला के समझने की विशेष शिक्षा पाई हो वे ही उसको समझ सकते हैं और उसका रसपान करके सुसंस्कृत बन सकते हैं। इनकी भी संख्या बहुत थोड़ी नहीं है, यद्यपि साधारण जनता के तारतम्य में वह नगण्य है, परन्तु एक दो शताब्दियों पहिले 'पक्की' कलाओं के समझने वाले कितने थे ?

एक ही दो शताब्दियों पहिले मध्यम श्रेणी का विकास अधूरा था। ललितकलाओं के 'पक्के' रूप को प्रश्रय राजदरबारों और सरदारों से मिलता था। उनके समझने वाले या तो इस वर्ग में थे या कलाकारों के वंशों और उनके घनिष्ट सम्पर्क में रहने वालों में। साधारण जनता इन सबसे दूर। निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि कलाओं के उस परिपाक काल में राजनैतिक शक्ति और सम्पत्ति-बल उन राज दरबारों और सरदारों के हाथ में था। साधारण जनता के हाथ में न था। साधारण जनता के हाथ में जो कला थी वह उसका खण्ड तक न रहा। जो हुशंगाबाद और बीजोरवाघाट इत्यादि की गुफाओं में प्रागैतिहासिक काल में अंकित की गई थी। और, कला के सार्वजनिक ह्रास का सम्बन्ध साधारण जनता के सार्वभौम राजनैतिक ह्रास के साथ उसी अनुपात में होता आया। उधर तानसेन की गायकी इधर गांव के पवांड़े इत्यादि—मार्गीय और देशी परिपाटी—उधर देवगढ़ की विष्णु मूर्ति, इधर गाँव के गोबरगणेश। कला विशिष्ट हुई, उसकी पराकाष्ठा का क्रम आया, वह एक विशेष वर्ग की खिलौना बन गई। वह विशेष वर्ग विशेष राजनैतिक और आर्थिक निहित स्वत्वों का अधिकारी बना। कला सार्वजनिक श्रद्धा और विनोद का साधन न रह कर कुछ विशेष व्यक्तियों या एक विशेष समूह की सामग्री बन गई—उसका साधारण व्यापक रूप सिमट कर विशिष्ट और परिपक्व हो गया। कला पराकाष्ठा को पहुँचते पहुँचते एक छोटे से घेरे में घिर गई। जब वह सरल और साधारण थी, तब वह जनमात्र की थी, इधर एक वर्ग विशेष राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में बना उधर कला विशिष्ट हुई। इस अनुपात में दोनों का गाढ़ा सम्बन्ध हुआ। कला विशिष्ट है तो समाज का एक वर्ग अधिकार और सम्पति में विशिष्ट होना ही चाहिए। समाज का बाकी अंग कला से हीन और राजनैतिक बल से शून्य प्रागैतिहासिक युग के समाज या समूह का नेता स्वभावतः धीरे धीरे, क्रम क्रम से, अपने आसपास साधारण जनता की अपेक्षा कुछ अधिकार समेटता, पाता चला गया। कुछ अधिक हथियार, कुछ अधिक पशु और जीतीहुईलड़ाईमें पायेहुए कुछ अधिक दास। फिर एक युग आया जब कला देवता को प्रसन्न करने के साथ साथ समूहनायक को विनोद देने का भी उपकरण बनी। जैसे जैसे समूह-नायक के अधिकार वंश परम्परा की सम्पदा बने, वैसे वैसे कला देवता को प्रसन्न करने का प्रसाधन कम और समूह नायक के सन्तुष्ट करने का उपसर्ग अधिक बनती चली गई। एक युग ऐसा आया जब कलाकारों को जीवित और सम्वृद्ध रखने का कारण देवार्चन बहुत कम रह गया और विशेष अधिकारों वाला वर्ग और वर्गनायक बहुत अधिक हो गया। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यदि कला विशिष्ट हो गई है तो साधारण जनता से उसका सम्बन्ध या तो टूट गया है या बहुत निर्बल हो गया है। साथ ही, समाज का एक वर्ग विशेष और उसका अधिकारी नायक विशेष स्वत्वों का स्वामी हो गया है; और साधारण जनता के हाथ में राजनैतिक अधिकार नहीं रहा तथा सम्पत्ति का विभाजन भी असम हो गया है।

ललित कलायें समाज की संस्कृति का प्राण होती हैं। कलायें विशिष्ट या परिपाक प्राप्त हो कर जब वर्ग-विशेष की वस्तु बन जाती हैं, तब भी साधारण जनता को थोड़ा सा अनुप्राणित करती रहती हैं। जब साधारण जनता के हाथ में राजनैतिक अधिकार और आर्थिक साम्य-विकीर्ण या सघनमात्रा में लौटते हैं तब क्या विशिष्टता प्राप्त कलायें भी उन अधिकारों के साथ जनसाधारण के पास लौट आती हैं ? या परिपाक की उस अवस्था के

उपरांत और भी अधिक पराकाष्ठा की प्राप्ति के क्रम का विकास कुण्ठित हो जाता है ? ऐसा नहीं होता। गति अवरुद्ध नहीं होती।

कलाओं का जनता में प्रसार होता जाता है, परन्तु उसके उत्तरोत्तर परिपाक का क्रम फिर भी चलता रहता है। कलाओं को अब किसी वर्ग विशेष आश्रय की उत्कण्ठा नहीं रहती, उनको आश्रय साधारण जनता से मिलने लगता है, परन्तु उनके उत्तरोत्तर विकास के लिए एक वर्गविशेष की साधना और शिक्षा फिर भी आवश्यक रहती है। इससे यदि यह समझ लिया गया कि साधारण जनता के हाथ में राजनैतिक अधिकारों के आ जाने से कलाएँ समान व्यापी हो जांयगी, तो यह केवल एक भ्रम ही रहेगा; कलाओं की सार्वजनिक सुलता बढ़ती जावेगी, साथ ही कलाओं की पराकाष्ठा का विकास भी चलता रहेगा, और वे विशिष्टता की दिशा में बढ़ती चली जावेंगी परन्तु राजनैतिक अधिकारों का तारतम्य भी यही रहने की सम्भावना है—कुछ अधिकार सार्वजनिक हो जांयगे तो अनेक विशेष वर्ग के हाथ में रहेंगे। तथा कला गौण हो जायगी और राजनीति मुख्य। राजनैतिक नेता देवता बन जायगा, और कलाकार से आशा की जायगी कि वह उस देवता का पुजारी बने। राजनैतिक महल्ल का प्रसाद बटने के समय राजनैतिक नेता का झोला भर लिया जायगा, और कलाकार के अंचल में उसकी कीर्ति के सिवाय और कुछ नहीं रहेगा। परन्तु यहां प्रश्न उन राजनैतिक अधिकारों का नहीं है, प्रश्न है कलाएँ जब साधारण जनता में प्रस्तार पाती हैं, जब वे अपने विशिष्ट वृत में से निकल कर साधारण जनता की ओर जाती हैं, तब क्या उनका वही रूप और प्राण रहता है या नहीं ?

कलाओं के जन-व्यापक होने के वर्तमान काल में अनेक माध्यम हैं; विद्यापीठ, पाठशालायें, संस्थायें, मेले, प्रदर्शिनियां, अधिवेशन, रेडियो, सिनेमा इत्यादि। इनमें साहित्य, संगीत, चित्र, तक्षण, स्थापत्य इत्यादि कलाओं का एक साथ समारोह हो जाता है। साधारण से साधारण जन के लिए यह माध्यम सुलभ हैं।

परन्तु अभी तक जो साधारण जन इन सबसे दूर और विहीन सा था उसके लिए इन सबका रूप कैसे सहज ही बोधगम्य हो ? क्योंकि बोधगम्यता ही कलाओं को जनप्रिय या सार्वजनिक बना सकती है। परन्तु यह सब होते हुए भी कलायें पराकाष्ठा की ओर बढ़ेंगी, यह उनके विकास का क्रम है। उनका एक अंग दुरूह होता चला जायगा, राजनैतिक जगत में इस लक्षण का दूसरा पहलू होगा कुछ अधिकारों का विकेन्द्रीकरण और कुछ का सघन केन्द्रीयकरण, राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का थोड़े से हाथों में केन्द्रित हो आना। इस क्रिया को रोका नहीं जा सकता। कोई इसको प्रगति कहे चाहे प्रतिक्रिया, होगा यही। लाखों वर्षों से जो होता आया है वह आगे लाखों वर्ष तक होता रहेगा। सतयुग से कलयुग, प्रलय, फिर वही क्रम। उस विकास के ये सहज उपलब्ध नाम हैं, और, नामों से इस समय हमारी कोई लड़ाई नहीं।

कलायें जिन माध्यमों द्वारा जनता की पकड़ में आने के लिए यात्रा करती हैं, वे सब उनकी दुरूहता को छील छाल कर सीधा कर देते हैं। उनका बाहरी रूप कुछ का कुछ हो जाता है, कभी कभी असुन्दर तक। यह अनिवार्य है। साधारण जन उन्नति प्राप्त कलाओं के निखरे सखरे रूप से अपरिचित हो गया। ऐसी ही सामाजिक परिस्थिति में उद्योग धन्धों का ज़माना आया। किसान मजदूर के पास आमोद प्रमोद के लिए वैसे ही समय कम रहता था, अब अवकाश और भी बहुत कम रह गया। ध्रुव पद सुनने के लिए वह घण्टों नहीं बैठ सकता, ख्याल के लिए उतनी घड़ियां भी नहीं। ठुमरी और टप्पे के लिए कुछ समय चाहिए। ग्रामोफोन ढाई तीन मिनट में उसको बहुत कुछ दे देता है—जैसे चुनाव के सम्बन्ध में उम्मेदवार का वायदों से भरा हुआ भाषण। इस माध्यम में कला का कुछ रूप सिमिट आवेगा और बिखर जायगा, और कुछ का परिवर्तन हो

जायगा। गागर में सागर का भरना जैसा दुष्कर प्रयोग है, वैसा ही कला को थोड़े समय में छोटे आकार द्वारा जन ग्राह्य बनाना है। देवगढ़ स्थित विष्णु की मूर्ति छोटी सी है। उसके होठों पर शिल्पकार ने ऐसा मधुर, ऐसा पावन, ऐसा स्फूर्तिदायक और उन्नायक स्मित बसा दिया है कि मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधियों का भी मस्तक श्रद्धा और समर्पण की भावना से झुक जाता है। एक पहाड़ को काटकर विशाल मन्दिर बना देने से शिल्पकार साधारण जनके मन को वह स्पन्दन नहीं दे सकता, जो यह छोटी सी मूर्ति देती है। ओरछा राज्य अन्तर्गत अहारलड़वारी के जैन मन्दिर में शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा को देखकर किस अजैन का मन उस प्रतिमा के शिल्पकार की चरण रज को माथे पर चढ़ा लेने के लिए विवश न होगा? परन्तु कितने लोग देवगढ़ के विष्णु और अहारलड़वारी के शान्तिनाथ को देखने के लिए जा सकते हैं? इनको सहज ही प्राप्त करने के साधन इस समय तो फिल्म चल चित्र के सिवाय और कोई नहीं।

चल चित्र का माध्यम जनमात्र की पहुँच के भीतर है। जैसे किसी युग में हुशंगाबाद इत्यादि की गुफाओं के चित्र वहां के अड़ोस पड़ोस की जनता के लिए सुगम और सुबोध रहे होंगे, तथा उनकी अनुभूति व्यापक रही होगी, वैसे ही चल चित्र की अभिव्यक्ति और अनुभूति समान व्यापी है। इस माध्यम में सभी कलाओं का समावेश है किन्तु जितना इस माध्यम का गुरुत्वपूर्ण महत्व है उतना ही उसका सीमाहीन संकट भी है। चल चित्र का माध्यम न केवल कला के रूप को बिगाड़ सकता है—यहां तक कि नष्ट भी कर सकता है,—वरन् उसके प्राणों को भी मिटा सकता है। फिल्म के निर्माता कई लोगों के शिकार बन जाते हैं: अविलम्ब प्रचुर धन संग्रह, भारतीय कला का हाथ, इटली की कला का पैर, इत्यादि कुप्रयोग। इस प्रकार का ऊट पटांग रूप भारतीय कला को दिया गया है और दिया जा रहा है, जिससे न केवल उसका रूप विकृत हो गया है प्रत्युत उसका प्राण भी जोखों में पड़ गया है। जैसे अच्छे चित्र के लिए न केवल रूप रेखा के अनुपात आवश्यक हैं, विविध रंगों का यथावत् बांट भी बहुत आवश्यक है, वैसे ही फिल्म में ज़ोर (emphasis) का सही बटवारा बहुत ही आवश्यक है। संस्कृति की रक्षा के लिये जनता के पास कलाओं का पहुँचाना कलाकारों का कर्तव्य है, परन्तु कलाओं के प्राणों की रक्षा का और भी बड़ा कर्तव्य उनके ऊपर है। कलाओं के विकास में विशिष्टता और अलग वर्ग का संयोग अनिवार्य है, परन्तु उनके बोधगम्य रूप के दर्शन और प्राणों की अनुभूति उस रूप और उन प्राणों के बलिदान बिना भी सम्भव है। राजनैतिक क्षेत्र में कर्मकार कलाओं की विशिष्टता के युग में, स्वभावतः कुछ बड़े अधिकारों को अपने हाथ में केन्द्रित करेंगे,—करते चले आए हैं,—परन्तु क्या यह सम्भव नहीं कि ये कर्मकार उन कलाकारों को जनता के अधिक से अधिक सम्पर्क में लावें, और साथ ही कला के प्राणों का नाश न होने दें।

गांवों का सांस्कृतिक निर्माण

डाक्टर सत्येन्द्र एम० ए०

पृथिवी के पके फोड़े—

कभी बचपन में किसी कक्षा में पढ़ा था—

"अहः ग्राम्य जीवन भी क्या है"
क्यों न इसे सबका मन चाहे ?

और इस कविता को पढ़कर गांवों के लिये मन ललक उठा था। कवि का ध्यान गांवों की प्राकृतिक सुषमा, स्वास्थ्यप्रद वायु और वहां के निवासी भोले ग्रामीणों की ओर गया था। तब वह नागरिकों के रूठे मन को गांवों की ओर फेरना चाहता था, तब वह गांवों का बाहरी आदर्श चित्र देना चाहता था, तब वह कवि गांवों में आस्था उत्पन्न करना चाहता था। उसने गांवों के हरे भरे खेतों को देखा, शस्य श्यामल,धान्य-धन सम्पन्न भूमि के उसने दर्शन दिये, ग्रामीण मानव के निर्जीव स्वभाव की प्रशंसा की। एक दूसरा कवि गांवों के प्राणों को भी देख सका। कवि की कल्पना के सतरंगी सौन्दर्य से स्नात इन गांवों मेंउस ने गरमी में झुलसते हुए पसीने में तर किसान को देखा—

...............भूतल तवा सा जल रहा
है चल रहा सन सन पवन, तन से पसीना ढल रहा
तब भी कृषक मैदान में करता निरंतर काम है
किस लोभ से वह आज भी लेता नहीं विश्राम है ?

इस कवि ने अनवरत परिश्रम से शरीर के हाड़ मांस को बलि देने वाले कृषक की त्याग और तपस्या का दिव्य चरित्र प्रस्तुत कर दिया। किसान आदर का नहीं देव श्रद्धा का भाजन हो गया। एक ने गांवों की प्रकृति का वैभव देखा, दूसरे ने गांव के मानव की अलौकिकता। गांव को ये नहीं देख पाये।

गांव को देख कर एक तीसरे कवि ने एक अनोखी बात कह दी। उसने कह दिया कि गांव पृथ्वी के पके फोड़े की भांति प्रतीत होते हैं। गांव की पार्श्ववर्त्तिनी प्रकृति सुन्दर हो सकती है। हरे भरे वृक्ष, शस्य संकुल विस्तृत खेत, वापी, कूप, तड़ाग, अमराइयां, उनमें कूकती कोकिलायें और चहकते फुदकते पक्षी, खुला आकाश, उन्मुक्त पवन, नग्न आतप-प्रकृति का सब कुछ गांवों में ही तो है। प्रकृति अवश्य सुन्दर है। पर, उसके बीच में बसे ये गांव मिट्टी के विद्रूप घरौंदों के ढेर ये गांव पके फोड़े ही तो हैं, जीवनप्रद स्वस्थ प्रवृत्तियां यहां पराभूत होकर सड़ उठी हैं।

यह अनर्थ है ?

रत्नगर्भा पृथिवी आज दरिद्र हो गयी है। पृथिवी पुत्र आज मानव न होकर मानव का शव हो गया है। जिस वातावरण में देवता भी प्राणवान होकर दिव्य हो उठें, जहां मिट्टी सोना उगलती रही हो, जहां सृष्टि बहुधा सृजन क्रिया में प्रवृत्त प्रकृति के काव्य गत सौन्दर्य का प्रसार करती रही हो, वहां पला हुआ मानव आज मानवीय आभा हीन हो तो इसे अनर्थ ही कहा जायगा। और खेद इस बात का है कि आज कितनी ही दशाब्दियों से भारत के मेधावी गांवों को दृष्टि में रखकर काम करते हुए भी गाव के क्षय का निवारण नहीं कर सके हैं। प्रश्न यह है कि क्या गांव को ठीक रूप में समझने की चेष्टा की गयी है ?

गांव क्या हैं ?

नागरिक शास्त्र का विद्यार्थी पढ़ता है कि ग्राम एक प्राकृतिक समुदाय है। प्राकृतिक अनिवार्यतायें मनुष्य को एक स्थान पर ठहरने और बसने के लिए बाध्य करती हैं। सभ्यता के विकास में उत्पादक साधनों ने बहुत भाग लिया है। भूमि को जोतने बोने के विस्तृत ज्ञान की उपलब्धि के उपरात ही गांव खड़े हो सकते थे। मनुष्य ने पहले दूध पीना सीखा, फिर उसके लिए पशुओं के साथ घूमना, फिर पशुओं की भांति फल और शाक-पात खाना, पशुओं से ही फिर मांस खाना, शिकार करना और खाना—तब कहीं उत्पादन करना सीखा, और बहुत बाद में हल बैल से जोतना बोना। हल बैल के उपयोग के बाद ही गांव बने। ये गांव निश्चय ही भारत में ई० पू० ३५०० वर्ष से भी पूर्व बन चुके थे, जम चुके थे और समृद्ध हो चुके थे। सिन्ध में 'मोहनजोदड़ो' की खुदाई में मिले हुए गेहुंओं से इस बात की निर्विवाद पुष्टि हो जाती है। मोहनजोदड़ो का गेहूं पंजाब में आज भी साधारणतः उत्पन्न होने वाले गेहूं की जाति का है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गेहूं के उत्पादन में मोहनजोदड़ो की सभ्यता के निर्माता उस योग्यता को प्राप्त कर चुके थे, जो आज भी मिलती है। गेहूं शहरों में पैदा नहीं होता। मोहनजोदड़ो शहर था—नगर था, और अपने युग में यह विश्व भर का श्रेष्ठ नगर था। यहां का सा वैभव और सुख सामग्री उस समय 'मैसोपुटामियां', 'उर' तथा मिश्र में भी सुलभ नहीं थी। किन्हीं बातों में तो यह सभ्यता आज की साधारण नगरों की साधारण सभ्यता से भी बढ़कर थी।

इतनी विकसित सभ्यता की आधार भूमि गांवों की समृद्धि और सम्पन्नता का अनुमान किया जा सकता है। तो ये गांव भारत में प्रागैतिहासिक काल में सम्पन्न हो चुके थे। और सहस्रों वर्ष पूर्व ही वह प्राकृतिक अवस्थायें प्रस्तुत हुई होंगी जिनसे गांव नाम के प्राकृतिक समुदाय अस्तित्व में आये। यह सत्य है कि प्राकृतिक समुदाय मानवीय संकल्प की अपेक्षा किये बिना ही पार्थिव अनिवार्यता के फलस्वरूप संगठित और निर्मित हो जाते हैं पर यह निश्चित है कि यह समस्त निर्माण मानव के लिये ही होता है। प्राकृतिक कारणों से उदय होने वाले गांव, प्रकृति और उसके धर्म को आधार मात्र का स्थान देकर मानवीय तत्वों को विकसित करने में लग जाते हैं। वे मानवता के पालने बन जाते हैं।

मानव और उसका पुरुषार्थ

मनुष्य एक जाग्रत प्राणी है। वह प्रकृति और पुरुष की एक मौलिक रसायन है। उसमें दस शारीरिक इन्द्रियां तो हैं ही : पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां। ये समस्त पशुओं में भी मनुष्य की भांति मिलती हैं, साथ ही उसमें पांच अशरीरी सूक्ष्म इन्द्रियां भी हैं—मन, बुद्धि, चित्त, स्मृति और अहंकार। उसके निर्माण को देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जहां और पशुओं में ये सूक्ष्म इन्द्रियां साधन हैं, और उनका शरीर
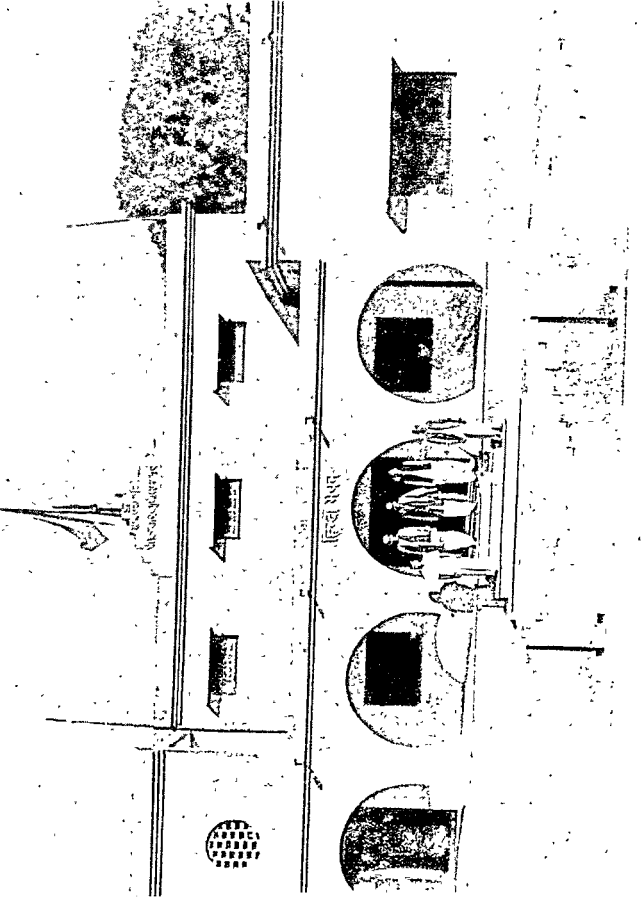
साध्य है वहां मनुष्यों में विकास का पहलू बदला हुआ है। यहां शरीर मात्र साधन है और ये सूक्ष्म इन्द्रियां का अपना सुख साध्य हो गया है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' का यही अर्थ किया जाना चाहिए कि धर्म के समस्त साधनों में शरीर सबसे प्रधान साधन है। यही कारण है कि मनुष्य अपने संकल्प से शरीर और शरीर की आवश्यकताओं पर विजय पा सकता है। तपस्या में मग्न व्यक्ति को भूख प्यास की बाधा नहीं सताती। यह केवल कहानियों में आर्यों कल्पनायें नहीं, यथार्थता के क्षेत्र की बातें हैं। तो उसकी संकल्प शक्ति अद्वितीय है और प्रकृति से ऊपर है। यह संकल्प शक्ति ही योग का—शारीरिक अनुशासन का मूल है। इसी में से आत्म—दर्शन का मार्ग जगता है। इसी में उसके नीच से नीच होने का रहस्य निहित है। और महान से महान होने, और देवता होने का भी। इस समस्त व्यक्तिगत पशु और मानव के संयोग के साथ ही मनुष्य सामाजिक प्राणी भी है। इस मनुष्य में मानव की प्रतिष्ठा करने के लिए ही भारतीय विचारकों ने चार पुरुषार्थों का आविष्कार किया—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों का सम्बन्ध जीवन और उसके वास्तविक मर्म से है। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने ठीक ही एक निबन्ध में लिखा है कि पुरुषार्थ दर्शन का विषय भले ही हो पर जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जीवन की चार प्रवृत्तिया हैं : १ स्थिति २ उद्योग ३ उपभोग ४ निवृत्ति। चारों पुरुषार्थों का इन प्रवृत्तियों से क्रमशः सम्बन्ध है। धर्म से अभिप्राय मानव जीवन को धारण करने वाले आचार से है। मनुष्यत्व अथवा मानवता का ज्ञान मनुष्य के प्रत्येक कार्य अथवा जीवन के उद्योग के लिए आवश्यक है। धर्माचरण के बिना जीवन की किसी भी प्रगति का कोई अर्थ नहीं। यही कारण है कि भारतीय जीवन के भव्य विधायक ने धर्म को प्रथम स्थान दिया। उसने मानव की स्थिति, मानव की नींव को दृढ़ करने की प्रवृत्ति का महत्व इस प्रकार प्रतिपादित किया। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि शेष तीनों पुरुषार्थों का धर्म आधार है। अर्थ के लिए उद्योग की प्रवृत्ति मनुष्य में होनी चाहिए पर वह धर्म के लिए, मानव के लिए। पशु के लिए नहीं। धर्म और अर्थ ये दो पुरुषार्थ काम और मोक्ष सम्बन्धी पुरुषार्थ के भी साधन हैं। काम उपभोग है।

धर्म सहित उपार्जित अर्थ का, स्वयं धर्म का भी उपभोग काम के अन्तर्गत है। इस विधि से काम को भारतीय ऋषि ने मात्र यौन अतृप्ति और यौन उपभोग नहीं रहने दिया। मानवीय नियमों से अनुशासित इन्द्रिय साधना को काम का नाम दिया और उसके लिए काम शास्त्र की प्रतिष्ठा की। धर्म जहां मानव को मानव बनाये रखेगा, अर्थ मानव के उद्योग को विस्तृत और विकसित करेगा, वहां काम सृष्टि की परम्परा और उद्योग की सिद्धि को स्वीकार करेगा, काम व्यक्ति व्यक्ति की पार्थिव सुख लिप्सा को संतुष्ट करेगा, पर जब उपभोग है तो पार्थिव उपभोग तक ही क्यों रुका रहा जायगा। भारतीय दार्शनिक ने जीवन के जिस मर्म का उद्घाटन किया है वह पार्थिवता तक ही महान बनकर कैसे रह सकेगा। ब्रह्मानन्द तथा आत्मानन्द के लिए ही मोक्ष का विधान उसने किया।

इस युग में मनुष्य के दो ही पुरुषार्थ रह गये हैं; अर्थ और काम। अर्थ ही धर्म हो गया है, काम ही मोक्ष। इस विपर्यस्त बुद्धि ने मानव का सिर और पैर काट कर फेंक दिया है। अर्थ और काम में व्यस्त जीवन व्यवसायिक वृत्ति से आच्छादित हो गया है। फलतः आज गांवों के निर्माण में आर्थिक दृष्टि प्रधान हो गयी है, अथवा राजकीय व्यवस्था की। शास्त्रीय दृष्टि से तो राजकीय व्यवस्था भी आर्थिक क्षेत्र के ही अन्तर्गत आ सकती है। अर्थ की यह प्रधानता अत्यन्त घातक है, विशेषतः गांवों के लिये। गांव स्वयम मानव के पालने हैं, यहां उन्मुक्त वायु और धूप की भांति शुद्ध मानवीय भावनाओं का विस्तार और व्याप्ति रहनी चाहिये।

नृशंस शोषण

पर कुछ प्रणालियां ऐसी होती हैं जो स्वास्थ्य वर्द्धक अवस्था को सहन नहीं कर सकतीं। अमरवेल की भांति साम्राज्यवाद भी जहां चढ़ जाता है, वहां अपने आधार का शोषण करता जाता है और स्वयं फलता फूलता जाता है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य पद्धति ने भी गावों को शोषण का केन्द्र बना दिया था। उनसे सब कुछ छीना गया, अपने श्रम की गाढ़ी कमाई का उपयोग करने की तो उन्हें आशा थी ही नहीं। वे उसका अपने इच्छानुकूल विनिमय और वितरण तक नहीं कर सकते थे। इस आर्थिक और राजकीय व्यवस्था का फल मानव पर जो पड़ना चाहिए वही पड़ा। जिन्दादिली और ज़िन्दगी का सर्वनाश हो गया। एक अवसाद और धुन्ध ने ग्रामीण आकाश को अन्धकारमय कर दिया। संकुचित स्वार्थों ने ग्राम-निवासियों को परस्पर लड़ने-मरने के लिये सन्नद्ध कर दिया। ऋणग्रस्त और राजत्रस्त वे जर्जरित मानव अपनी मानवता का ही खून पीकर जीवन निर्वाह करने लगे। जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण मर गया, उसका स्थान दंभ ने लिया। शासन-व्यवस्था और आर्थिक संघर्ष में वे एक ऐसी इकाई बना दिए गये कि समस्त बोझ उन्हीं पर आ पड़ा। ऐसा नृशंस शोषण! भारतीय इतिहास के ये पृष्ठ इसी कारण सबसे काले हैं।

इतिहास की साक्षी

इस जनयुग में यह सब गावों का खोया हुआ वैभव व्याज सहित इन्हें लौटा देना होगा। प्राचीन काल में झांककर देखने से यह अत्यन्त स्पष्ट विदित हो जाता है कि वास्तविक सत्ता गांवों से ही मिलती थी। यही राष्ट्र की शक्ति की सुदृढ़ इकाई थे। इनका वास्तविक वैभव राष्ट्र अथवा राज्य का यथार्थ वैभव था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज़ के लेखों तथा अन्य साक्षियों से विदित होता है कि मौर्यकाल में गांवों का विशेष स्थान था। उनका शासन द्वारा पूरा सम्मान होता था। ग्राम्याचार और लोकाचार के समक्ष राज्य का नीति विधान शिथिल कर दिया जाता था। राजा की ओर से पुलिस तथा अन्य कर्मचारी गांव के अन्दर निवास नहीं पा सकते थे, और गांव की नीति में हस्तक्षेप करना तो कभी क्षम्य होता ही नहीं था। तब गांव सुखी थे, तब यथार्थ स्वराज्य था। उस समय जन-बल बलवान था। एक गांव एक कुटुम्ब की भांति था, उसमें सब प्रकार की जीवन सुविधायें तब प्राप्त होती थीं। गांव के आदर की मर्यादा का यह सूत्र भारत की विविध जातियों और उनके गोतों में आज भी मिलता है। कोई माथुर, कोई कनोजिया, कोई गौड़; अनेकों जातियों में खेड़े बचते हैं, विवाह के समय। ये खेड़े उनके किसी समय के निवास स्थान ही हैं, अनेकों व्यक्तियों के जातीय उपनाम गांवों के आधार पर हैं, यथा—

केलकर, तवकर। जब कोई कहता है कि भारतीय संस्कृति का मूल उद्गम ही नहीं निवास ही गांव है तो उसका यही अभिप्राय हो सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत की शक्ति समृद्धि सभ्यता गावों से उद्भूत हुई है। सभ्यताओं के विकास की उन्नति खेतिहर होने और श्रमिक होने में है, युद्ध में प्रवृत्त और युद्धोपयोगी व्यक्ति शोषक ही बन सकते हैं, इस दृष्टि से भी गांवों का बड़ा महत्व हो जाता है, फिर यह भी एक सिद्धांत मिलता है कि संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ अपने अपने काल के उत्पादक यन्त्रों के आधार पर होती हैं। खेतिहर देश का यन्त्र हल और चरखा ही हो सकता है। भारत खेतिहर देश है, यों भी भारत की यथार्थ संस्कृति का निवास खेत ही होंगे और उनके साथ गांव।

भारत के गण-तन्त्रों के युग में जनपदों की योग्यता गांवों के ही कारण थी। मौर्य काल में जनपदीय गण पर्याप्त बलवान थे। उन्हें हठजीवी कहा जाता था, उनकी पूर्ण मृत्यु और पूर्ण दमन एकदम असंभव था। मौर्यकाल में इसलिए गांवों और गांवों की सभ्यता का पूरा आदर मिलता है।

इतिहासकार आगे चलकर पाता है कि सातवाहन युग में और गुप्त काल में गांव का महत्व कम हो गया। मनुस्मृति इसी काल में लिखी गई मानी जाती है और इसमें गांवों के प्रति वह आदर नहीं मिलता जो चाणक्य में मिलता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि साम्राज्यवादिता का भाव अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था। कुछ व्यक्तियों का शासन प्रमुखता ग्रहण कर रहा था, जन का, जन जन का हित गौण हो चला था। महाभारत भी इसी काल की रचना है, उसमें इन हठजीवी गण तन्त्रों के ह्रास और राज तन्त्र के उदय का संघर्ष स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

कृष्ण की क्रांति

भारत के गौरवशाली इतिहास में जितनी भी क्रांतियां हुई हैं, उनमें कृष्ण द्वारा प्रवर्तित तथा महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित क्रान्ति ही यथार्थत: महत्वशाली कही जायगी। शेष क्रान्तियां या तो राजवर्गीय थीं या धार्मिक। जन-क्रांति के प्रथम प्रवर्तक भगवान श्री कृष्ण थे, जिन्होंने ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुरूप ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। उन्होंने आर्यों के नागरिक देवता इन्द्र को अपदस्थ किया। इन्द्र राजवर्ग का ही नहीं था, वह यज्ञ और सोम से प्रसन्न होने वाला नागरिक देवता था; एक मायावी सत्ता। गोवर्द्धन पूजा में जो रहस्य है वह लोक-क्रांति की दृष्टि से देखा जाय तो पर्वत, गौ, और गोवर्द्धन में राज्य तन्त्र का विरोध और गांव की शक्ति का वर्द्धन ही मिलेगा। इसी प्रकार इस गोकुल निवासी कृष्ण ने गाय पालते हुए और गाएं चराते हुए गांवों के दूध और मक्खन को नगर में जाने से रोका और ग्रामीण बालकों को मक्खन चुरा कर भी खाने के लिए उकसाया। ये कुछ ऐसी घटनाएं हैं जिससे राज्य तन्त्र अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था। कृष्ण की इस महान क्रांति पर इतने महाकाव्य रचे गये हैं, पर उन सबने इस वास्तविक अर्थ को दृष्टि में नहीं रखा, उसे केवल धार्मिक अर्थ ही प्रदान किया है। यहां तक कि बलराम के हलधर नाम की भी अवहेलना की है। महात्मा गांधी ने इस युग में गांवों की ओर दृष्टि आकर्षित की और उन्हीं के आधार पर अपनी क्रांति का और भारतीय स्वराज्य का निर्माण किया। कृष्ण ने जो क्रांति प्रस्तुत की उसका प्रभाव धीरे धीरे क्षीण हो गया, और राज्यतन्त्र पुन: प्रबल हो गया।

इस प्रकार राज-लिप्सा के चक्र में धीरे धीरे गांव अपना पूर्व गौरव खो बैठे। जन शक्ति निरादृत हुई, कुछ गिने चुनों की बुद्धि के भूले पर विविधविशाल मानव समुदाय भुलाये जाने लगे। बाहरी आक्रमणकारियों के अत्याचारी आतंक ने गांवों के इस समर्पण को और भी अधिक गति दी। युग युग से चलने वाली इस राज-तन्त्र की शोषक चक्की ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद में पराकाष्ठा प्राप्त की, और आज का गांव भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में पृथ्वी के फोड़े जैसा रह गया है, प्राचीन गौरव का ध्वस्त स्तूप, जिसमें शक्ति के सजीव बीज दबे हुए सड़ रहे हैं। ग्राम-उद्धार से अभिप्राय होना चाहिए उसे उसका पूर्व गौरव दिलाना। उसकी शक्ति उसे लौटाना। आज के ग्राम-उद्धार कर्ता कितना इसका यथार्थ अर्थ समझते हैं। आज जो कुछ अहंवादी कहीं ऊपर हिमालय की चोटी पर बैठकर नीचे के मनुष्यों को अपनी उंगली पर नचाते हैं, अपने अस्वाभाविक, कृत्रिम विचार प्रणालिका से जो गांवों को भाराक्रांत कर देना चाहते हैं, यद्यपि गांव तो अपने सहज भूसम्पर्क के कारण विचारों का भार ग्रहण नहीं करते और इसके लिए निरन्तर संघर्ष होते हैं तो, ऐसे इन अस्वाभाविक

उद्योगों की गति का अवरोध कर ऊपर के दबाव, भार अथवा शासन का उच्छेद कर गांवों में गांवों का अपना शासन स्थापित करना ग्रामोद्धार का विषय होना चाहिए। इस ग्रामोद्धार के लिए कितने कार्य कर रहे हैं। यह आमूल परिवर्तन का सिद्धांत है।

कौन नहीं जानता कि धर्म (सांप्रदायिकता से अभिप्राय है, पुरुषार्थ के अन्तर्गत आने वाले धर्म से नहीं) जातीयता, वर्ण-रेस, कलर एण्ड रिलीजन ने क्या क्या उत्पात आज तक नहीं कराये ? धर्म बनावटी साधन रहा है, जातीयता और वर्ण के सिद्धान्त अमानवी ठहरे हैं और आज तक संसार को दुर्द्धर्ष रक्तपात के समुद्र में डुबाते रहे हैं। राष्ट्रीयता (नेशनैलिज्म) और प्रांतीयता (प्राविन्शलिज्म) के भाव इसी प्रकार बनावटी हैं। कोरे भाव जगत के पदार्थ हैं। यथार्थ वस्तु गाव हैं।

प्रान्तों का निर्माण केवल शासन की सुविधा की दृष्टि से ही होना चाहिए। उसके साथ किसी भी प्रकार के ऐसे तत्व नहीं जोड़ने चाहिए जिससे एक स्थान के मानव से दूसरे स्थानके मानव का भेद जड़ पकड़ें। सांस्कृतिक आधारों पर प्रान्त-निर्माण अत्यन्त घातक है। क्षुद्र प्रांतीयता का अभाव भी तभी हो सकता है जब यह समझ लिया जाय कि प्रांत प्रबन्ध की आवश्यकता भर के लिए बनाये गये हैं, वे केवल सुविधा के साधन हैं और उनमें कोई गहराई नहीं, न वे जातीयता के द्योतक हैं, न संस्कृति से किसी रूप में सम्बद्ध हैं।

सांस्कृतिक जागरण और उत्थान के लिए जन-जन के कल्याण के लिए समस्त उद्योग गावों से, प्रारम्भ होने चाहिए। गांवों को उद्योग की यथार्थ इकाई माना जाय। गाव संस्कृति और सभ्यता के जाग्रत केन्द्र बनें।

आज का भारतीय गांवों की उपेक्षा कर नगरों की ओर दौड़ रहा है। वह गांव में नहीं रहना चाहता। क्योंकि उसने जिन बातों में जीवन मान रखा है, उनका गांवोंमें अभाव है। गांव का रहन-सहन बहुत निम्न श्रेणी का है, वह उसे नापसन्द करता है। वहाँ उसे सुरुचि और सुसंस्कारो का अभाव प्रतीत होता है। गांवों की प्रतिभाएं, गांवों के मजदूर गांवों की श्री आज नगरों में प्रतिष्ठित होकर गांवों का अपमान कर रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि गांवों को जाग्रत जीवित और सुन्दर कर दिया जाय। जन जन का कल्याण इसी में है। यह गांव ही मनुष्य के वास्तविक निवास हैं।

नये प्रयत्नों की दिशा

आज इस दिशा में सभी ओर प्रयत्न हो रहे हैं। 'गांवों को लौटो' का नारा भी बुलन्द किया जारहा है। विविध लोकप्रिय सरकारें नई नई योजनाएं प्रस्तुत करने में सन्नद्ध हैं। ग़ैर सरकारी संस्थाओं और स्वतन्त्र व्यक्तियों के द्वारा भी इस दिशा में उद्योग हो रहा है। ये सभी उद्योग श्लाघनीय हैं। पर इन सभी का दृष्टि-कोण आर्थिक अथवा राजकीय है। इसमें किंचित सदेह नहीं कि आर्थिक योजनाओं से गांवों की व्यवस्था सुखद बनाई जा सकती है। पर यहाँ हमें गांवों की मानवीय आवश्यकता को उसके विशेष अर्थ में समझ लेना होगा और उसकी अवहेलना न करनी होगी। आर्थिक और राजकीय व्यवस्थाएं यदि ठीक हो जायं तो मनुष्य को भोजन,वस्त्र आदि के सब सांसारिक सुख मिल जायंगे। उसकी मेहनत का पूरा और अच्छा प्रतिफल उसे मिल सकेगा। अपव्यय नहीं होगा, उसका कोई शोषण नहीं कर सकेगा। वह अपनी समस्त व्यवस्थाएं स्वयं कर सकेगा, पर मनुष्य इन बाहरी बातों से कभी संतुष्ट नहीं हुआ है। उसने अपने इस उद्योग के बाद समय बचाया है। और उसके लिए उसने अपनी रुचि के, स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के नहीं, काम निकाले हैं। इनमें ही उसकी संस्कृति के बीज निहित हैं। इनमें ही उसकी कला छिपी रहती है। मानव को आनन्द कहाँ मिलता है ? उसका यथार्थ सुख कहाँ है ? भरपेट भोजन करके वह तृप्ति का सुख अनुभव करता है, पर

संगीत सुनकर और चित्र देखकर वह क्या पाता है? आनन्द! वह सचमुच आनन्द पाता है, इसको अनुभव से सिद्ध ही मानना चाहिए। वस्तुतः यह जो आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरांत बचने वाला समय है वही तो मानव का अपना है। पशु से बच जाने पर ही मानव को अपना भाग मिलता है। अतः इसकी ओर ध्यान देने की सर्वाधिक आवश्यकता है।

इस समय का आनन्दमय उपयोग मानव के मन को स्वस्थ और हृष्ट भी रखता है। किन्तु इस सबके उपयोग और उपभोग को व्यवस्थापूर्वक प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। इस व्यवस्था का पहला परिणाम गाव में एक विशेष सुरुचि का जागरण होना चाहिए। सुरुचि के प्रति जितना उत्साह होगा उतना ही गांव का सुख बढ़ेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि गाव वालों में सुरुचि का अभाव है। उनमें आवश्यकतानुसार पर्याप्त सुरुचि है। उनके घरों की सफाई सुथराई पूरी आकर्षक होती है। पर हमारा अभिप्राय आवश्यक सुरुचि से नहीं विशेष सुरुचि से है। आर्थिक आवश्यकताओं में सुरुचि सुविधा तक ही रह जाती है। अतः पहली आवश्यकता व्यापक और विशेष सुरुचि की है। दूसरी आवश्यकता सहृदय हृदय की है। यहाँ सहृदय शब्द का उपयोग साहित्यिक अर्थों में किया है। सहृदय वह हैं जो काव्य अथवा कला के लालित्य को ग्रहण कर सकते हैं।

भय यह है कि आज जो विविध दृष्टियों से गांवों के सम्बन्ध में योजनाएं तैयार की जा रही हैं, उनमें गाँव के इस सांस्कृतिक पक्ष का महत्व और मूल्य न कम कर दिया जाय।

बसावट

गांव की संस्कृति का उस गाव की बसावट, उसके घरों की बनावट, रहन-सहन, उत्सव—त्यौहारों के ढंग, खान पान की प्रणाली, सोने बैठने तथा शिक्षा और धार्मिक अनुष्ठानों से गहरा सम्बन्ध है। सभी स्थानों में संस्कृति का सम्बन्ध इन बातों से होता है। पर संस्कृति के रूप का आदर्श प्रस्तुत करने का कार्य जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही कठिन और जटिल है। अनेकों संघर्षमय सिद्धांत मानव के जीवन निर्वाह और व्यवस्था तथा आधार के सम्बन्ध में फैले हुए हैं।

ऐसे भी लोग मिलगे, लोग नहीं संस्थाएं मिलेंगी, जो गांवों की वर्तमान सभी बातों में जहालत मानेंगे। वैज्ञानिक और बुद्धिवादी को उनके विश्वास अंध विश्वास और मूढ़ ग्राह विदित होंगे। दूसरी ओर गाँव की परिपाटी को अच्छा मानने वाले व्यक्ति भी कम नहीं होंगे। साम्प्रदायिक संघर्ष भी खड़े हैं और क्रांति युग में इस बात को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता अतः ऐसे अनेकों संघर्ष प्रस्तुत होंगे। पर इस गांव के सांस्कृतिक आदर्श को विचार पूर्वक निरूपण करने वालों को समझ में एक बात अवश्य आयेगी कि समस्त उत्थान-पतन, समस्त संघर्ष-विद्रोह के रहते हुए भी यह सत्य है कि गावों की एक संस्कृति अवश्य होनी चाहिए। वह नागरिक संस्कृति से भी महान होनी चाहिए। नागरिक संस्कृति आडंबर और ऐश्वर्य को महत्व देती है। ग्रामीण संस्कृति सहज और सुष्ठु तथा हार्दिक, निराडंबर किन्तु भव्य होगी। ग्रामीण संस्कृति का मूलाधार लोक जीवन होगा अतः वह समस्त भारतीय जन के योग्य होगी। वह भूत, वर्तमान और भविष्य में व्यापक तत्वों को हृदयङ्गम करके ही रखनी चाहिए, अतः समस्त जटिलता को ध्यान में रखकर हम यह अनुभव करते हैं कि कार्य अत्यन्त आवश्यक भी है। आज के बाद कल के लिए भी इसे नहीं टाला जा सकता। इस पर यदि विवाद भी होना है तो अभी हो लेना चाहिए। देश के लिए आगामी कुछ वर्ष बड़े विचार संघर्ष और विद्रोह-बवंडर के हैं। आज प्रस्ताव रूप में आयी हुई चीज ठीक समय पर अपना रूप निर्माण कर लेगी।

पहले हम गांवों के स्थान निर्माण का प्रश्न लेते हैं। गांव की बसावट अधिकांशतः अव्यवस्थित है, इससे अनेकों विघ्न बाधाएं पैदा हो जाती हैं। फलतः गांवों के निर्माण की एक रूप रेखा प्रस्तुत कर दी जानी

चाहिए। मौर्यों के समय में हमें विदित होता है कि ऐसी व्यवस्था एक लम्बी परिपाटी के कारण थी। मोहन-जोदड़ों का मान-चित्र देख कर भी कहा जाता है, कि प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य अपने गांव और नगर बसाने में सुरुचि और व्यवस्था से काम लेते थे। आज तो हमें उससे भी ज्यादा सुरुचि और व्यवस्था से काम लेना चाहिए। इसके लिए यदि हमें कोई गांव नये सिरे से भी बसाना पड़े तो संकोच नहीं करना चाहिए। गांव का नये सिरे से बसाना कठिन नहीं है, अधिक धनसाक्षेप भी नहीं है।

गांव का नव निर्माण

ग्राम-सुधार उनकी नयी बनावट पर निर्भर करता है। नयी बनावट के दो रूप हो सकते हैं, एक वर्गाकार दूसरा चक्राकार।

प्रत्येक गांव के चारों ओर एक अथवा दो दो वृक्षों की निरन्तर पंक्ति होनी चाहिए। फिर दिवाल से दिवाल सटा कर मकान बनाये जाने चाहिए। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि सबसे बाहर के मकानों की पंक्ति छत वाली हो छप्पर वाली न हो। केवल चार दिशाओं में चार द्वार हों। प्रत्येक कोने में एक एक विशाल मैदान हो। यह बाल मन्दिर का काम दे। प्रत्येक द्वार पर एक चौपाल हो, जहां बैठे ठाले समय में बूढ़े घड़े एकत्रित होकर गपशप कर सकें। ये स्थान नवागन्तुकों को ठहरने के काम में आ सकते हैं। बीच में एक विशाल चौक छूटा हुआ होना चाहिए। इसी में पंचायत घर, पाठशाला, रंगमंच, धर्मशाला, पुस्तकालय, अखाड़ा, बीज-भंडार रहेगा; गांव की हाट इसी जगह होगी, और गांव का मुख्य बाजार भी यहीं रहेगा।

वर्गाकार का यह रूप हो सकता है।
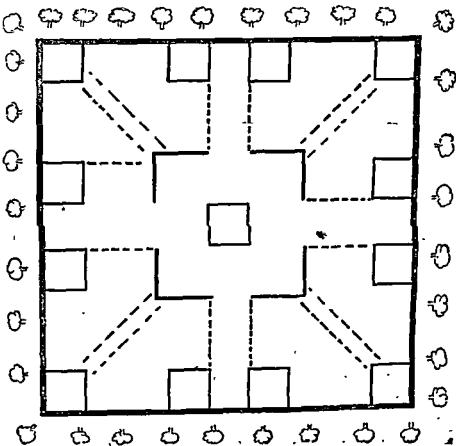
दूसरा रूप चक्राकार हो सकता है। यह पहले रूप से केवल आकार में अन्तर रखता है। इससे गांव के प्रमुख द्वार दो ही बनते हैं। शेष सब बातें वर्गाकार की भांति ही होंगी। केन्द्र स्थल में, बाल मन्दिरों में, मार्गों में, चौपालों में, वृक्षों का लगाना आवश्यक है। यथावश्यक उपासना गृह भी रखे जा सकते हैं। साधारणतः प्रत्येक द्वार पर छोटी सी अमराई या पार्क होना चाहिए।
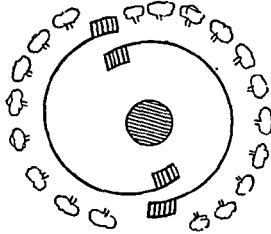
प्रत्येक अपनी अपनी इबादत का स्थान अपने अपने घर में रखे। नव निर्माण में आधुनिक दृष्टि से उपयोगी मंदिरों का विधान होना चाहिये। वस्तुतः गाव की बसावट का प्रश्न महत्व पूर्ण है और अधिकारी व्यक्तियों द्वारा ही इस पर विचार होना आवश्यक है। हमने तो यहां केवल ऐसे व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित कराने की अनधिकार चेष्टा की है। इस बसावट के समय प्राचीन विश्वास और नवीन आवश्यकताओं और धारणाओं के संघर्ष को ध्यान में रखना होगा। विविध संप्रदायों और आर्थिक वर्गों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना होगा। यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि एक गांव में आर्थिक धंधों की दृष्टि से कई वर्ग होते हैं उनको कहाँ स्थान दिया जाय? प्राचीन व्यवस्था में तो वर्ण के आधार पर बँटवारा हो जाया करता था, पर आधुनिक काल में यह आधार अनुपयोगी असांस्कृतिक माना जायगा, पर ग्रामीण नागरिक या जानपद की और धंधे की सुविधाओं का समझौता करना ही होगा। इनके साथ कुछ बातें सामान्य रूप से सभी गांवों में होनी चाहिए। कम से कम एक सुघर अमराई या वाटिका, एक सार्वजनिक चौपाल, एक सार्वजनिक निवास, जिसमें बरात आदि ठहर सकें। गांव की बनावट के साथ घर का प्रश्न आता है। घर कैसा हो? उसमें क्या व्यवस्था रहे? एक आधुनिक घर में, वह चाहे गाँव का ही क्यों न हो निम्नलिखित बातों की आवश्यकता होगी—

गांव के घर

१, रसोई घर; २, पानी घर; ३, शयनागार; ४, स्नानागार; ५, भंडारागार; ६, बैठक; ७, पशुशाला; ८, चरागार; ९, चौपाल; १०, पुष्प-वाटिका; ११, उपासना-गृह।

वैसे तो किसी भी गृह के निर्माण में सबसे प्रथम सिद्धांत गृह-निवासी की निजी जरूरतें हैं, और जरूरतों की सुरुचि पूर्ण व्यवस्था से बहुत सुन्दर मकान बन सकता है, फिर भी सभी मनुष्य न तो अपनी सभी आवश्यकताओं को समझ ही पाते हैं, और न उनमें सुरुचि और व्यवस्था ही ला पाते हैं। विशेष कर उन आवश्यकताओं को समझना संभव नहीं हो पाता जो सांस्कृतिक हैं, और जो मानव की आनंदमय वृत्ति को

संतुष्ट करने और उसे मन आत्मा से हृष्ट और प्रसन्न रखने के लिए जरूरी है। वह घर में केवल आर्थिक आवश्यकताओं को भी मुश्किल से स्थान दे पाता है। यह केवल इसलिए नहीं कि वह अर्थाभाव से पीड़ित है, वरन इसलिए भी कि अन्य आवश्यकताओं के लिए उसके हृदय के आदर नहीं रह गया, वह असहृदय हो गया है। किसी भी पुनर्निर्माण में इस तत्व की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। जहां तक हम समझते हैं एक मकान में कुछ बातों का होना अनिवार्य माना जाय। एक-बैठक जो घर के लिए पठन-कक्ष का काम दे, और पुरुषों की अन्य कला की वस्तुएं उसमें सजाई जायं। दो-एक पृथक शयनागार, जो स्त्रियों की चित्रशाला और संगीत नृत्यके लिए भी काम में आ सके। तीसरा, उपासना-गृह और पुष्प वाटिका, एक स्वास्थ्य गृह होना चाहिए जो प्रसव-प्रसूत में प्रसूतिका गृह के तथा रोगों में रोगी के उपचार में काम आ सके। इन सब आवश्यकताओं को गृह निर्माण में कहाँ स्थान दिया जाय, यह इस कला के विशेषज्ञों के विचार की बात है। हम तो यहाँ अपनी साधारण बुद्धि से एक रूप रेखा दिये देते हैं। हमारी दृष्टि में गाँव के मकान का यह रूप विधान होना चाहिये।
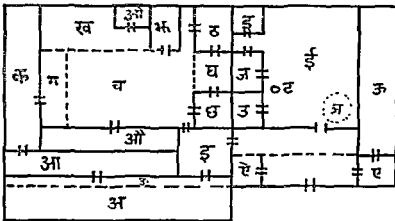
गांव के घर का चित्र

अ—चौपाल; आ—बैठक; इ—पौरी; ई—पुष्प-वाटिका; उ—उपासना-गृह; ऊ—पशुशाला; ए—चारागार; ऐ—यंत्रागार; ओ—रसोईघर; औ—भंडारागार; क—शयनागार; ख ग घ ङ—दालान तथा बरामदे इनमें से घ स्थान बर्तन मांजने आदि के काम में आ सकता है। च—आंगन; छ—पानी घर; ज—स्नानागार; झ—ईंधन भंडार; ञ—यह स्थान पुष्प वाटिका में गोबर अथवा खाद के विटौरों के लिए रखा जा सकता है। इसी में कहीं एक स्थान पर (ट) कुआं भी खुदवाया जा सकता है। ठ—स्त्रियों के लिए शौचालय। ड—पुरुषों के लिये शौचालय। घरों में पानी बहा ले जाने की नाली का भी यथोचित प्रबन्ध होना चाहिए।

---

* गांवोंमें खेतों में शौच जाने की प्रथा है। यह प्रथा अब बन्द होनी चाहिए। यह जहाँ तहाँ शौच के लिए बैठ जाना निर्लज्जता युक्त भी है, और खाद को हानि भी पहुँचती है। आज कल धुलने वाले ऐसे शौचालयों का आविष्कार हो चुका है, जो गाँवों के घरों में बन सकते हैं, और जो एक या दो लोटे पानी फेंक देने से मल को भू-कोष्ठ में ऐसे जमा कर सकते हैं कि पानी नितर कर बह जाय और मल कोष्ठ में हो रहे और भर जानेपर इसमें से खेत में फिकवा दिया जाय और खाद के काम में लाया जाय। *आवश्यकता केवल इस बात की है कि ग्रामीण* कुम्हार को मिट्टी का नए ढंग का कमोड बनाना और उसे पालिश करना सिखाया जाय, जिससे ऐसे कमोड गाँव वाले उपयोग में ला सकें।

हिन्दी भवन का उद्घाटन करते हुये माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पंत
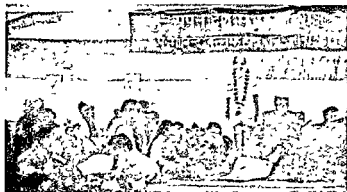
उद्घाटनोत्सव पर आयोजित सभा का दृश्य

पर इस विधान से भी अधिक महत्वपूर्ण है इसके निर्माण की कला। आज का कारीगर भी स्थापत्य के किसी रूप विशेष का अच्छा ज्ञान नहीं रखता। उस पर गाँव के मकान तो बहुधा किसान स्वयं ही बना डालता है। वह अपने द्वार को कैसा रूप दे, उसका शिखर कैसा बनाये, मुंडेलियों का क्या रूप हो? इन पर किसी कला की दृष्टि से कभी विचार नहीं होता। मकान के बाहर भीतर और कौन से ऐसे सहज साधन हैं जिनसे एक ग्राम-निवासी अपनी सुरुचि और सौंदर्य अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन सहज ही कर सके। इन सब पर पुरातत्व और स्थापत्य शास्त्र के ज्ञाताओं को शीघ्र ही विचार कर एक रूप प्रस्तुत करना चाहिये।

गांव के निर्माण में पहली बाहरी पंक्ति के अतिरिक्त अन्य पंक्तियां पीठ से पीठ मिला कर दो दो मकानों की एक कतार में बनायी जानी चाहिये। प्रत्येक घर का सामना भारी और ऊंचा तथा पीछा हलका और नीचा हो।

इस निर्माण का रूप तो बाहरी और स्थूल है। अभी प्रश्न यह आता है कि गाँवों में किन कलाओं का सामूहिक और व्यक्तिपरक रूप रहे और वह किस शक्ल में। आज कल के गाँवों पर एक सरसरी दृष्टि डाली जाय तो विदित होगा कि निम्न लिखित कलाएं आज भी वहां मिलती हैं।

गाँवों में कला

१—संगीत कला, २—नृत्य कला, ३—अभिनय कला, ४—चित्र कला, ५—मूर्तिकला, ६—शरीर-सौंदर्य-प्रसाधन की कला, ७—सत्कार कला, ८—कथा वार्ता कला, ९—पूजा उपासना कला, १०—बागवानी कला।

१—संगीत कला के गाँव में प्राय: तीन रूप हैं। १—पुरुषों का संगीत दो रूपों का है, एक सामूहिक: जैसे होली, रसिया आदि। ये मंडली बना कर गाये जाते हैं। २—व्यक्ति परक: इसे एक गाता है। साधारण भजन आल्हा ढोला आदि। तीसरा प्रकार स्त्रियों के गीतों का यह स्वाभाविक और सबल संगीत है। इनकी कैसी भी शिक्षा कहीं नहीं दी जाती। यदि इन पर किंचित ध्यान दिया गया तो इनमें एक अद्भुत सजीवता पैदा हो जायगी। और ये मानवीय उद्‌गार के शक्तिशाली माध्यम बन जायेंगे।

२—नृत्यकला। यह कला प्राय: स्त्रियों में ही रह गयी है। वे विविध मांगलिक अवसरों पर नृत्य करने में बहुत उत्साह दिखाती हैं। ये नृत्य स्वाभाविक हैं, इनमें शक्ति का जितना व्यय होता है, उतना प्रभाव नहीं पैदा होता। इस में उचित विकास हो सकता है। यह कला बहुत उपयोगी और आवश्यक है।

३—अभिनय कला। इस कला का पुरुषों में उपयोग तो बहुधा होली के अवसरों पर ही होता है। जिसमें कुछ लोग मिलकर विविध स्वाँग बनाते हैं। पर स्त्रियों में इसका कुछ अच्छा रूप है और नियम से उसका पालन होता है। वह मांगलिक कृत्य का एक भाग है। स्त्रियों में यह अभिनय खोइया के नाम से होता है। विवाह के अवसर पर जब लड़के वाले के यहा से बरात चली जाती है, तब वहां की औरतें रात में खोइया करती हैं जिसका एक अनिवार्य रूप तो यह है कि विवाह का अभिनय हो साथ में अन्य स्वाँग अथवा लीला भी बाका-यदा रूप भरकर की जाती है। ये सब भी स्वाभाविक अभिव्यक्ति से होता है। सुरुचि और सौंदर्य का आवश्यक विकास नहीं दिखाई पड़ता।

४ चित्रकला। गांवों में यह कला बिल्कुल स्त्रियों के हाथ में है। वे भी इसका उपयोग केवल त्योहार के उन अवसरों पर करती हैं, जिनमें चित्र रखना अनिवार्य माना जाता है। ब्रज में ऐसे चित्रों के कई

प्रश्न यह है कि जब ये सब कलाएँ गांवों में किसी न किसी रूप में युगों से विद्यमान हैं, तो फिर इनको पूर्णत: अच्छा रूप क्यों नहीं दिया जाय ? इस दुरवस्था मे ये न तो सुरुचि ही जाग्रत कर पाती हैं, न मानसिक स्वास्थ्य ही दे पाती हैं। इनमें रमी हुई धार्मिक श्रद्धा ही इन्हें बनाये हुए है। यथार्थ में अपनी ह्रासावस्था से ये सुन्दरता की अनुभूति में बाधक होती हैं। इस सम्बन्ध में भी विशेषज्ञों को अपना अमूल्य समय लगा कर अपना मत स्थिर कर लेना चाहिए, और उसी के आधार पर इनका पुनरुद्धार होना चाहिए। यदि इनको आज अनावश्यक माना जाय तो इनके स्थान पर कुछ सुझाव होना चाहिए। इनका स्थान गावों में रिक्त नहीं रहना चाहिए। गांवों में से इन कलाओं का नितान्त लोप मानव के पूर्ण निर्माण में कभी सहायक नहीं हो सकता। इन कलाओं को किसी भी रूप में सजीव रखने की आवश्यकता है। ये कलाएँ ही वास्तव में जन जीवन का धर्म है, इन्हें साम्प्रदायिक दृष्टियों से देखकर इनको भूल न जाना चाहिए।

इस स्थूल निर्माण के पश्चात् इसमें पलने वाले मानव की भावनाओं और आचार को कोमल और मनोहर बनाने की आवश्यकता है। उनमें सौष्ठव अवश्य आना चाहिए। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि ये संस्कार उपदेश आदि के द्वारा नहीं आ सकते। इन्हें तो आचार-विधान में ही किसी न किसी प्रकार समाविष्ट करना होगा। कुछ ऐसी दैनिक जीवन-चर्या बनायी जानी चाहिए, जो स्वाभाविक हो, ग्रामीण उद्योगों से भी घनिष्ठ रूपेण सम्बद्ध हो और सौष्ठव की वृद्धि करने वाली हो।

विद्वानों और विशेषज्ञों का आज इस संक्रांति युग में यह प्रथम कर्तव्य है कि वे गांवों का भावी चित्र पूर्ण विस्तार सहित चित्रित करें। वहाँ के निवासियों, वहाँ के उद्योगों, वहाँ के स्वभावों, को जानकर उनके सब रूपों के आदर्श प्रस्तुत करें, जिससे मानव का यथार्थ निर्माण हो सके।

पर यहाँ प्रश्न यह और उपस्थित होता है कि यह सब आदर्श प्रस्तुत हो जाने पर गांवों को वह कैसे दिया जायगा और कैसे इसको वहाँ जीवित रखा जायगा।

प्राचीन भारत की ग्राम-संस्कृति की रक्षा का भार प्रधानत: गाँव के पण्डित के हाथ में था। आज भी हम ऐसे व्यक्ति के हाथ में इस संस्कृति का समस्त भार दे सकते हैं, जो ग्राम-संस्कृति पण्डित हो, विद्वान हो। विशेष प्रबन्ध द्वारा यह शिक्षा दी जानी चाहिए। ब्रज साहित्य मण्डल मथुरा ने ऐसे शिक्षण शिविर का आयोजन किया था, उससे भी गहन और पक्का प्रबंध ग्राम संस्कृति की शिक्षा का होना चाहिए। इसके लिए लोक-कला-विद्यालयों की स्थापना हुए बिना सफलता नहीं मिल सकती। लोक-कला-विद्यालयों के साथ लोक-संस्कृति-प्रदर्शनी अथवा संग्रहालय का भी आयोजन होना है। गांवों के जनतन्त्रीय विधान में इस प्रबन्ध की ओर भी अधिक आवश्यकता है। बिना लोक-जीवन की यथार्थ शिक्षा पाये ग्रामीण लोक बलवान नहीं हो सकता, और जन-तन्त्र को दृढ़ नहीं रख सकता। प्राचीनकाल के विश्वविद्यालयों में, ऋषि मुनियों के आश्रमों में कहीं भी उद्योग-धन्धों की शिक्षा नहीं दी जाती थी। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं ही भोजन करना सीख जाता है, चलना फिरना सीख जाता है, उसी प्रकार अपने निर्वाह के लिए आवश्यक उद्योग धन्धों को भी सीख सकता है अथवा औद्योगिक फैक्टरियों में सीख सकता है, पर संस्कृति का अध्ययन विशेष मनोयोग पूर्वक ही करना चाहिए। अभी तक के शिक्षा-प्रयत्नों की दिशा या तो शहरी सभ्यता की ओर रही है, या संस्कृति की विविध वस्तुओं का साधारण ऊपर ज्ञान देने की ओर। फलत: आज का पढ़ा लिखा युवक एक अजीबोग़रीब प्राणी बन गया है, जिसका भारत के साधारण जनजीवन से नाम मात्र का, लगाव रह गया है। इस शिक्षा का दृष्टिकोण नयी आवश्यकताओं के अनुसार बदलना होगा। यह दृष्टिकोणमात्र-उपयोगितावादी आर्थिक पहलू पर भी निर्भर न

अवसर होते हैं। १ देवठान पर समस्त आँगन और दीवाले चीत दी जाती हैं। गोबर से समस्त घर लीप दिया जाता है, उस पर गेरू और सफेदी से विविध रेखा चित्र बनाये जाते हैं। आँगन के बीचमें देवी देवताओं के चित्र बनाकर उन्हें ढक दिया जाता है। २·दिवाली पर सफेदी करके नारियल के खोपड़ेको जलाकर काला रंग बनाकर पानी में घोल उससे दिवाली धरी जाती है। अहाई आठें और करवा चौथ पर गेरू से भीत लीप कर चांवल से बने सफेद रंग से चित्र बनाये जाते हैं। नाग पंचमी के दिन भी विविध चित्र अंकित किए जाते हैं। नौरता भी रंगविरंगे चित्रों से आखिरी दिन चीता जाता है। होली पर घरगुली बनाई जाती है, जिस पर अन्तिम दिन चित्रकारी सूखे रंगों से की जाती है। विवाह के और जन्म के उत्सवों पर भी कई ऐसे अवसर होते हैं, जब चित्र रखे जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्र कला के कई प्रकार ब्रज में प्रचलित हैं। १. रेखाकला। यह कला सभी आलेपनों में काम आती है। २. रंगकला। विविध रंग भरने का कार्य। ये रंग घरेलू उपयोग में आने वाली और गावों में मिलने वाली वस्तुओं से बनाए जाते हैं। उदाहरणार्थ पीला रंग हलदी से, सफेद चवांल से, काला नारियल के खोपड़े से, लाल रंग महावरी से। साम्फी कला अथवा सूखे रंग जमाने की कला। दिवाली पर घरगुली साम्फी के रूप मे ही प्रस्तुत की जाती है। ब्रज के मन्दिरों में पुरुष भी साम्फी रखते हैं। वहां यह कला बहुत उन्नत है।

चित्रकला के अन्तर्गत ही गावों के वे प्रयोग आयेंगे जो दीवालों पर गोबर और मिट्टी की कौड़ियों से चीते जाते हैं। करसाने के पास के गांवों में हमने विटौरों को भी चित्रित पाया है। इनमें सुन्दर डिजाइनों का अभाव नहीं था। इस प्रकार ये चित्र अब केवल रेखाओं के प्रतीक रह गये हैं। कहीं कहीं अब भी इसमें सजीवता मिल जाती है, जो यह सिद्ध करती है कि इस कला को प्राणवान बनाया जा सकता है। इनके भावों को पढ़कर इनके पुनर्निर्माण का रूप खड़ा किया जा सकता है। अथवा इनमें और भी सुधार किये जा सकते हैं जिससे वह कला ह्रास का अवशेष न रहे, जीवन का उद्‌गार बने।

५. मूर्तिकला। गावों में यह जिसरूप में मिलती है उसमें इसको यथार्थ में मूर्तिकला नहीं कह सकते। यह भी प्राय: स्त्रियों के ही हाथ में है। कई अवसर आते हैं, जिन पर स्त्रियों को इस कला का उपयोग करना पड़ता है। न्यौरता घर में बनाया जाता है। इसमें एक दो फुट के लगभग लम्बी स्त्री मूर्ति दीवाल पर बनाई जाती है, मिट्टी से; य० पार्वती की होती है। उसके नीचे एक पुरुष मूर्ति बनाई जात है। इसे गौरा कहते हैं। गौरा से अभिप्राय शिव से है। ये मूर्तियाँ यथासंभव बहुत सुन्दर बनाई जाती हैं। उस पर नौ दिन बराबर गौरें* बनाकर रखी जाती हैं। गोवर्धन पूजा पर गोबर से कितनी ही मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। गोवर्धन को पुरुष का आकार दिया जाता है। उसका एक मुख बनाया जाता है, भुजाएँ और पैर बनाये जाते हैं, पेट बनाया जाता है। वहीं गाएँ, बछड़े, बरोसी (दूध औटाने का चूल्हा) दूध की दुहनी, मठा चलाने का स्थान, एक कुत्ता—ये सभी गोबर से बनाकर रखे जाते हैं। ऐसे ही और भी कई अवसर आते हैं। यह कला तो अत्यन्त ह्रास अवस्था में है। गुड़ियों के खेल में भी कपड़े की मूर्तियां बनाने की कला काम में आती है।

६. कथावार्ता कला। यह कला दो रूप रखती है। एक पुरुष वर्ग की। सत्यनारायण की कथा, गणेश चतुर्थी की कथा, आदि। दूसरी स्त्री वर्ग की। त्यौहारों पर स्त्रियों के लिये कथा सुनना अनिवार्य है।

---

* गौर अथवा गवर पीली मिट्टी से बनाई जाती है। ये न्यौरते की पूजा के लिए छोटी सूची के आकार की होती है।

प्रश्न यह है कि जब ये सब कलाएँ गावों में किसी न किसी रूप में युगों से विद्यमान हैं, तो फिर इनको पूर्णत: अच्छा रूप क्यों नहीं दिया जाय ? इस दुरवस्था में ये न तो सुरुचि ही जाग्रत कर पाती हैं, न मानसिक स्वास्थ्य ही दे पाती हैं। इनमें रमी हुई धार्मिक श्रद्धा ही इन्हें बनाये हुए है। यथार्थ में अपनी ह्रासावस्था से ये सुन्दरता की अनुभूति में बाधक होती हैं। इस सम्बन्ध में भी विशेषज्ञों को अपना अमूल्य समय लगा कर अपना मत स्थिर कर लेना चाहिए, और उसी के आधार पर इनका पुनरुद्धार होना चाहिए। यदि इनको आज अनावश्यक माना जाय तो इनके स्थान पर कुछ सुझाव होना चाहिए। इनका स्थान गावों में रिक्त नहीं रहना चाहिए। गांवों में से इन कलाओं का नितान्त लोप मानव के पूर्ण निर्माण में कभी सहायक नहीं हो सकता। इन कलाओं को किसी भी रूप में सजीव रखने की आवश्यकता है। ये कलाएँ ही वास्तव में जन जीवन का धर्म है, इन्हें साम्प्रदायिक दृष्टियों से देखकर इनको भूल न जाना चाहिए।

इस स्थूल निर्माण के पश्चात् इसमें पलने वाले मानव की भावनाओं और आचार को कोमल और मनोहर बनाने की आवश्यकता है। उनमें सौष्ठव अवश्य आना चाहिए। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि ये संस्कार उपदेश आदि के द्वारा नहीं आ सकते। इन्हें तो आचार–विधान में ही किसी न किसी प्रकार समाविष्ट करना होगा। कुछ ऐसी दैनिक जीवन-चर्चा बनायी जानी चाहिए, जो स्वाभाविक हो, ग्रामीण उद्योगों से भी घनिष्ठ रूपेण सम्बद्ध हो और सौष्ठव की वृद्धि करने वाली हो।

विद्वानों और विशेषज्ञों का आज इस संक्रांति युग में यह प्रथम कर्तव्य है कि वे गांवों का भावी चित्र पूर्ण विस्तार सहित चित्रित करें। वहाँ के निवासियों, वहाँ के उद्योगों, वहाँ के स्वभावों, को जानकर उनके सब रूपों के आदर्श प्रस्तुत करें, जिससे मानव का यथार्थ निर्माण हो सके।

पर यहाँ प्रश्न यह और उपस्थित होता है कि यह सब आदर्श प्रस्तुत हो जाने पर गांवों को वह कैसे दिया जायगा और कैसे इसको वहाँ जीवित रखा जायगा।

प्राचीन भारत की ग्राम-संस्कृति की रक्षा का भार प्रधानत: गाँव के पण्डित के हाथ में था। आज भी हम ऐसे व्यक्ति के हाथ में इस संस्कृति का समस्त भार दे सकते हैं, जो ग्राम-सस्कृति पण्डित हो, विद्वान हो। विशेष प्रबन्ध द्वारा यह शिक्षा दी जानी चाहिए। ब्रज साहित्य मण्डल मथुरा ने ऐसे शिक्षण शिविर का आयोजन किया था, उससे भी गहन और पक्का प्रबंध ग्राम संस्कृति की शिक्षा का होना चाहिए। इसके लिए लोक-कला-विद्यालयों की स्थापना हुए बिना सफलता नहीं मिल सकती। लोक-कला-विद्यालयों के साथ लोक-संस्कृति-प्रदर्शनी अथवा संग्रहालय का भी आयोजन होना है। गावों के जनतन्त्रीय विधान में इस प्रबन्ध की और भी अधिक आवश्यकता है। बिना लोक-जीवन की यथार्थ शिक्षा पाये ग्रामीण लोक बलवान नहीं हो सकता, और जन-तन्त्र को दृढ़ नहीं रख सकता। प्राचीनकाल के विश्वविद्यालयों में, ऋषि मुनियों के आश्रमों में कहीं भी उद्योग-धन्धों की शिक्षा नहीं दी जाती थी। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं ही भोजन करना सीख जाता है, चलना फिरना सीख जाता है, उसी प्रकार अपने निर्वाह के लिए आवश्यक उद्योग धन्धों को भी सीख सकता है अथवा औद्योगिक फैक्टरियों में सीख सकता है, पर संस्कृति का अध्ययन विशेष मनोयोग पूर्वक ही करना चाहिए। अभी तक के शिक्षा-प्रयत्नों की दिशा या तो शहरी सभ्यता की ओर रही है, या संस्कृति की विविध वस्तुओं का साधारण ऊपर ज्ञान देने की ओर। फलत: आज का पढ़ा लिखा युवक एक अजीबोग़रीब प्राणी बन गया है, जिसका भारत के साधारण जनजीवन से नाम मात्र का, लगाव रह गया है। इस शिक्षा का दृष्टिकोण नयी आवश्यकताओं के अनुसार बदलना होगा। यह दृष्टिकोणमात्र-उपयोगितावादी आर्थिक पहलू पर भी निर्भर न

करना चाहिए। जिसमें मानव का समस्त जीवन उद्योग धन्धों में ही व्यस्त कर दिया जाय। और मनुष्य अपने मानव को और भी भूल जाय। उत्तर प्रदेश की सरकार ने विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य सेवा की शिक्षा का आयोजन किया है, पर जब तक यह सांस्कृतिक व्यवस्था शिक्षा-क्रम में नहीं आयगी गांवों का जीवन स्पंदन, मंद ही रहेगा, और वहाँ जो बात नये युग में चाही जायगी, पूरी तरह सफलता नहीं पा सकेगी। इतने विश्व-विद्यालयों में से किसी एक को लोक-शिक्षा-कला विद्यालय बनाया जा सकता है। अथवा स्वर्गीय हरीसिंह गौड़ की भाँति कोई धनपति इधर अपना कदम बढ़ाये। बिना इसके सेवा का भाव क्या पैदा हो सकता है? गाँवों में घरेलू वैद्यक परम्परा चली आई है। अभी समय है कि इन्हें लिख लिया जाय और संशोधित कर प्रचार किया जाय।

तो गांव के पंचायती विधान में एक ऐसे व्यक्ति को प्रत्येक गाव में स्थान देने की योजना अवश्य की जानी चाहिए, जो गाव के विधान में दक्ष हो और सुझाए हुए आदर्शों की परम्परा को सजीव रखने में कुशल हो। इसके लिए एक आदर्श समिति का निर्माण हो जाय, उसकी शिक्षा का प्रबन्ध सरकार अथवा अन्य किसी संस्था द्वारा कराया जाय।

आज इस द्विविधा के युग में हमें सावधानता पूर्वक अपने भविष्य की कल्पना कर लेनी होगी, इसमें गांवों का स्थान भी निर्णय कर लेना होगा। उसके लिए व्यवस्थित विधान भी तैयार कर लेना होगा। उसका आदर्श निरन्तर उद्योगपूर्वक प्रचारित करके उसे व्यवहार्य कर डालने से ही हम इस देश को सजीव राष्ट्र बना सकेंगे। संक्षेप में हमारा अभिप्राय यह है कि:—

१. ग्राम्य पुनर्निर्माण की आज अत्यन्त आवश्यकता है।

२. यह पुनर्निर्माण सांस्कृतिक आधार पर हो। यह संस्कृति जाति वर्ण सम्प्रदाय की संस्कृति नहीं होगी, लोक–मानव संस्कृति होगी।

३. इस सांस्कृतिक निर्माण में भारत के ग्रामों को उनके साहित्य संगीतकला से जाग्रत करना होगा।

४. गांवों में जो कला प्रस्तुत है, उनको उन्हीं मूल ढाँचों पर सप्राण और सजीव बनाना होगा।

५. इसके लिए लोक-संस्कृति कला–विद्यालय की स्थापना आवश्यक है।

६. गांवों के निर्माण के लिये एक चित्राधार तैयार होना चाहिये, जिससे प्रचलित कलाओं में प्रस्तावित सुधारों के पूर्ण चित्र और उनकी विधि के चित्र प्रस्तुत किये जाय। ये ऐसे हों जिन्हें साधारण योग्यता वाला व्यक्ति भी समझ सके।

७. ग्राम पंचायतों में लोकसभा-विधान और लोकाचार दीक्षित व्यक्ति, जो उक्त विद्यालय में सहज शिक्षा पा चुके हों, अवश्य रखे जांय।

८. लोक–संस्कृति सम्बन्धी संग्रहालयों और प्रदर्शिनियों का आयोजन हो।

९. मन्त्रिमण्डल में एक पोर्टफोलियो लोक-संस्कृति सम्बन्धी अवश्य रहे। बिना इसके भारतीय लोक की समस्याओं पर उतना ध्यान नहीं दिया जा सकता, जितना संस्कृति हीन मानव के लिए आवश्यक है।

१०. लोकसेवा का व्यावहारिक पहलू उक्त विद्यालय में प्रस्तुत किया जाय। भारतीय परम्परा में घरेलू वैद्यक, घरेलू वस्तुओं से, हल्दी धनिया नोंन आदि से ही चिकित्सा हो सकती थी। इस समस्त लोकविद्या को तथा ऐसी ही अन्य लोक विधियों को संग्रहीत कर लिया जाय, संशोधित कर लियाजाय, और इनकी शिक्षा दी जाय।

११. इन विद्यालयों में इन कलाओं की शिक्षा में स्त्रियों को विशेषतः दक्ष बनाया जाय। स्त्रियाँ ही अब तक प्राचीन परिपाटी को निभाये जारही हैं, उनमें इन कलाओं के बीज प्रस्तुत हैं, उन्हें और अधिक दक्ष किया जाय।

१२. लोक-विज्ञान के लिए पुरुष को दीक्षित किया जाय।

इस प्रकार के उद्योगों से वास्तविक जन का बल बढ़ेगा। देश की यथार्थ इकाई 'ग्राम' बलवान बनेंगे, वास्तविक स्वतन्त्रता का उदय होगा। धर्म और मोक्ष अपने स्थान पर आ जायगे। अर्थ और काम से क्षुब्ध जीवन अपनी जड़ता त्याग कर पुनः चैतन्य हो जायगा। जीवन के मूल्य बदलने लगेंगे और कल्याणमय दिशा में प्रगति होने लगेगी।

में एक शिकारी जो दुभाषिए का काम भी करता हो, एक रसोइया और एक ऊपर का काम करने वाला नौकर तो होना ही चाहिये। अब आपके सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि लदाख से लौटते समय बारा-सिंघा की शिकार खेली जाय या अभी। बालतल के बंगले के पास आपको कई जगह बर्फ के कबूतर तथा एक प्रकार की काली मैना जिसकी टाँगें और चोंच लाल होती है मिलेगी। कश्मीरी इसे कागज़ीन कहते हैं और इसे स्वादिष्ट बताते हैं। लेखक तो बर्फ के कबूतर पसन्द करता है।

यदि आपके पास थर्मामीटर हो तो आप देखेंगे कि तापमान लगभग ५० डिग्री है। बँगले से ही आपको चढ़ाई मिलेगी। जब तक आप ऊपर न पहुँचें कई जगह आपको बर्फ तथा मरे हुए जानवरों के कंकाल मिलेंगे। वैसे जोझीला केवल ११॥ हज़ार फुट है, परन्तु जाड़ों में यहां पचास फुट से ऊपर बर्फ जम जाता है। इससे कठिन और भयानक दूसरा दर्रा आपको लदाख तक नहीं मिलेगा। ज्यों ही आप ऊपर पहुँचेंगे त्यों ही एकदम वृक्ष गायब हो जायगे। मछोई के बँगले तक पहुँचते केवल हरी घास रह जायगी। बँगले के पूर्व में एक गल[११] है। इसे देखना चाहें तो जाकर देख सकते हैं। बँगले से कुछ दूर चलने ही आपको ऊदबिलाव से मिलते-जुलते जानवर दीखेंगे जो अपने बिल के मुँह पर खरगोश की तरह पिछली टांगों पर बैठ कर टि-टि-टि-टि की आवाज़ें कसेंगे। यदि आपको पोस्तीन[१२] की आवश्यकता है तो इन्हें आप छर्रे से मार सकते हैं। इन्हें कश्मीरी में मामट[१३] कहते हैं। आपको कई जगह बर्फी चूहे भी दिखाई देंगे। कभी कभी सवेरे के समय यहां लाल भालू भी दिखाई देते हैं। इस प्रदेश के जंतु जाड़ों में या तो नीची जगह चले जाते हैं जिनमें आइलेक्स,[१४] भरल[१५] तेंदुए और भेड़िए हैं। जो यहीं रहते हैं यथा लाल भालू, सांभर और चूहे वे बर्फ पड़ने पर, पत्थर या पेड़ के खोखले में बैठ कर समाधि लगा लेते हैं। अंग्रेजी में इसे Hyber nation कहते हैं। मालूम होता है इन्हीं को देखकर हमारे योगियों ने समाधि लगाना प्रारम्भ किया होगा। मटायम में ठहरने के पश्चात् आप द्रास पहुँचेंगे। वैसे बस्ती तो छोटी है, परन्तु यहाँ डाक तथा तार घर हैं यहाँ पर आपको कश्मीरी कुली और घोड़े बदलने होंगे। यहां से सामान ढोने के लिए एक नियम लागू है जिसे रेस कानून[१६] कहते हैं। मछोई से आप नाले के सहारे आ रहे हैं, जिसे द्रास नाला कहते हैं। इसी के किनारे शमसाखर्बू ठहरते हुए आप कर्गिल पहुँचते हैं। यह तहसील का केन्द्र है और गाँव भी बड़ा तथा हरा भरा है। शिकार खेलने वालों को यहाँ तहसील में जाकर अपना नाम आदि लिखाना पड़ता है। इस गाँव के पास से सुरू नाला बहता है, जिसमें काफी पानी है।

कर्गिल में स्कूल, तार तथा डाक घर के अतिरिक्त मोरेवियन मिशन के पादरी भी रहते हैं। यहां के पड़ाव से आपको गंदगी का अनुभव होने लगेगा। पड़ाव पर पहुँचते ही आपके टट्टू वाले गीला तथा सूखा विष्ठा उठा कर फेंकेंगे और झाड़ू लगावेंगे। कर्गिल की उपत्यका काफी चौड़ी है। यहां से पन्द्रह मील चढ़ने के पश्चात् आपको सकड़ी उपत्यका से निकलना होगा और थोड़ी दूर जाने पर आपको फिर चौड़ी उपत्यका मिलेगी तथा एक दम बौद्धों की बस्ती मिलेगी। बौद्धों के पहिले गांव का नाम शरगोला है। यहां से चार मील चलने पर आपको मुलबेख गाँव में ठहरना पड़ता है।

---

११. Glacier. ग्लेशियर। १२. कोमल बालों वाला चमड़ा। १३. अंग्रेजी में Marmot. १४. एक प्रकार का जंगली बकरा जिसे कश्मीरी में केल कहते हैं। १५. एक प्रकार की भेड़। १६. श्रीनगर से लेह का मार्ग ट्रीटी मार्ग है (Treaty Road) प्रत्येक टट्टू का एक आना मील किराया देना पड़ता था। प्रत्येक पड़ाव पर सरकार की ओर से अवैतनिक जमादार नियुक्त रहता था जो यात्रियों को टट्टू दिलाता था तथा टट्टू वालों के आपसी झगड़े तै करता था।

मुलवेख की पत्थर में खुदी १५ फुट
ऊंची चतुर्भुजी मूर्ति

मन के पड़ाव से पंगुंग झील का दृश्य तथा उस पार के सिनकियांग के पहाड़

मोट खर्वु में
चौगान (पोलो)

आपको कई जगह मानी१७ तथा चोरतेन१८ मिलेंगी। अब आपको यहां की वेश तथा भाषा एक दम प्रथक दीखेगी। अब तक आपको देखकर बल्ती स्त्रियाँ दूर भागती थीं, अब बौद्ध स्त्रियां तथा बच्चे मार्ग के पास आकर फूल या फल से आपका "जूलैक्" कह कर स्वागत करेंगे। यहां पर आपको बक्षीश कह कर कोई भीख मांगता नहीं दिखेगा। यदि आप मेंढ के फूल या फल लेना चाहते हैं तो बच्चे से लेकर कुछ दे दीजिए वह आपसे एक शब्द भी न कहेगा और आपके चले जाने पर काम पर लौट जायगा। यहां के लोग आपको हँसते ही दीखेंगे। मुलबेख में हवा बहुत चलती है। आज से आपके तम्बू में नौकर गड्ढा बना देंगे, जिसमें शौच के पश्चात् मिट्टी डालनी होगी। ठंड विशेष होने के कारण बाहर जाने में थोड़ा कष्ट होगा। मुलबेख से निकलते ही आपको पत्थर में खुदी पन्द्रह फीट ऊंची पुरुष की चतुर्भुजी मूर्ति१९ मिलेगी। लेखक को यह विष्णु की मूर्ति मालूम हुई, परन्तु हो सकता है कि भगवान बुद्ध की हो। अब आप भोट खर्बू ठहरेंगे। यहां पर आपसे कहा जायगा कि सामने के पहाड़ में बन्दूक चलाकर बन्दूक की परीक्षा की जाय। यह दस्तूर (प्रथा) है। इसका कारण यह है कि हिमालय के पार ऊँचाई के कारण हवा पतली है और सूर्य की किरणें भी बहुत तीक्ष्ण हैं और वायु मण्डल स्वच्छ होने से दूर की वस्तु पास दीखती है जिससे बन्दूक की गोली में बड़ा अन्तर पड़ता है। भोट-खर्बू में आपको पड़ाव के पास ही लोग चौगान (पोलो) खेलते दिखाई देंगे। यदि आप घोड़े पर अच्छा चढ़ लेते हैं तो इनके साथ खेल सकते हैं। इस प्रदेश में यह खेल राष्ट्रीय खेल२० है। जब चाहे तब और बिना घोड़ा बदले चाहे जितनी देर तक खेला जाता है। साथ ही कोई प्रतिवाला भी नहीं है।

प्रत्येक पड़ाव से आपको टट्टू बदलने पड़ते हैं। सवेरे सात बजे चलने से पूर्व ही दोपहर का भोजन बना लिया जाता है, जिसे कहीं भी समय मिलने पर खाना पड़ता है।

भोट-खर्बू से सात-आठ मील पर हिमिसकोट गांव मिलता है, जिसके बाद चढ़ाई है। १३५०० फुट की ऊँचाई पर आपको "फोतूला" नाम का दर्रा मिलेगा, जिसकी चोटी पर पत्थरों के ढेर और झण्डियां दीखेंगी। यहां पहुँचते ही सब कुली "लो सलो हर गलो" के नारे लगाकर अभिवादन करेंगे। थकान तथा दम फूलने के कारण थोड़ा विश्राम करते समय आप देखेंगे कि ऊँचाई के कारण सिगरेट अच्छी नहीं लगती और कुछ सिर भी भारी हो जाता है। फोतूला से एक दम उतार मिलेगा और आप "लामायुरू" पहुँचेंगे। रास्ते में आपको स्वागत के लिए डफ२१ बजाते हुए और नाचते हुए स्त्री पुरुष मिलेंगे। लामायुरू का पड़ाव नाले के किनारे है जहां पर आपको कई जगह चकोर दिखाई देंगे। यहां पर आपको एक पहाड़ की चोटी पर पहिले पहल गोम्पा२२ दिखाई देगा, जिसे आप जाकर देख सकते हैं। इसके आस-पास शापू२३ का अच्छा खेल है। यह गांव काफी बड़ा है और यहां पर आपको कई लोग बहुत अच्छी प्रकार हिन्दी में बात करने वाले मिल जायँगे, वैसे काम चलाऊ हिन्दी तो प्रत्येक भोटा, जो टट्टू रखता है या कुली का काम करता है, जानता है। यहां की लिपि भी एक दो अक्षरों को छोड़कर बिलकुल देवनागरी है। आपको देखकर प्रायः यही प्रश्न किया जायगा कि कौन से साहब के शिकार का प्रबन्ध करने आए हो। अभीतक (सन् १९३९ ई०) बहुत कम भारतीय शिकार के लिए इस प्रदेश में जाते थे।

१७—पत्थरों के लम्बे ढेर। प्रत्येक पत्थर पर "ओ३म् मणि पद्म हुं" लिखा रहता है। बौद्ध लोग समझते हैं कि ऐसा करने से पुण्य प्राप्त होता है। १८—कलश के आकार की छोटी छोटी मढ़िया। १९—देखो फोटो। २०. National Game. देखो फोटो २१. एक प्रकार का एक हाथ से बजाने वाला आधा ढोल (चंग) इसका प्रयोग राजपूताना और व्रज में होली के दिनों में बहुत होता है। २२. मठ। २३. एक प्रकार की भेड़ जिसे पंजाब में उरियाल और अंग्रेजी में Ovis Vignei कहते हैं।

लामा युरू से दस ग्यारह मील की उतराई के पश्चात् आप सिंधु नदी के किनारे पहुँचते हैं। यहां पर झूलेदार पुल से सिंधु पार कर खल्सी ग्राम मिलता है। यह ग्राम काफी बड़ा है और यहां डाक तथा तार घर भी हैं। जल के बाहुल्य के कारण यहां खेती भी खूब होती है। सब खेतों में गेहूं, जौ तथा दक्खिनी मटर पावेंगे। फलदार पेड़ों में अखरोट, खूबानी तथा सेव के पेड़ बहुतायत से मिलेंगे। आजकल खूबानी पक रही है। जहाँ जी चाहे बिना पैसे दिए यात्री खूबानी खा सकता है।

सिंधु की उपत्यका काफी चौड़ी है और दोनों ओर धनी बस्ती है। यहाँ के लोग अन्य उपत्यकाओं की अपेक्षा अधिक धनी, हट्टे कट्टे और गौर वर्ण हैं।

छोटे बालकों के मुँह तो आपको पके सेव की तरह ललामी लिए दिखाई देंगे। लदाख (सिंधु की उपत्यका) का सबसे नीचा गांव खल्सी है। यहा के पहाड़ सूखे और मिट्टी के ढेर से हैं। जब कभी पहाड़ों के पल्थ पर यात्रियों को देख कर भरल तथा शापू भागते हैं तो उनके खुरों (खुरियों) से धूल के गुब्बारे उड़ते दिखाई देते हैं।

खल्सी से शुशपुल का पड़ाव है। अभी तक स्नान नहीं किए हो तो यह जगह गरम होने के कारण सफाई के लिए उपयुक्त है। यहां आते आते सूर्य की किरण से मुँह तथा हाथ और इसमें भी खास कर नाक का चमड़ा काला पड़कर निकल जाता है, जिस पर वैसलीन लगाना आवश्यक हो जाता है।

शुशपुल से नेमू ठहरते हुए दूसरे दिन लेह पहुँचते हैं। गरमी तथा धूल के कारण यात्री थक जाते हैं। लेह पन्द्रह हज़ार मनुष्यों की आबादी का नगर है। यहां पर गवर्नर के अतिरिक्त पहिले एक ब्रिटिश संयुक्त कमिश्नर भी रहता था, जिसे सब शिकारियों को जाकर अपने शिकार के परमिट बतलाने पड़ते थे और यह लिख कर देना पड़ता था कि भारत की सीमा के बाहर न जावेंगे। यहां पर मध्य-एशिया, चीन के सिनकियांग प्रांत, तिब्बत, बल्तिस्तान, गिलगित, चिलास, अफग़ानिस्तान तथा भारत के लोग व्यापार के लिए आते जाते रहते हैं। सीमा पर होने के कारण वाणिज्य अच्छा होता है। मोरेवियन मिशन में ऊन का काम बड़े अच्छे ढंग से सिखाया जाता है। यहां पर एक बड़ा गोम्पा भी है। प्रत्येक शिकारी को खाद्य पदार्थ जुटाने के लिए दो या तीन दिन यहां ठहरना ही पड़ता है।

जिन्हें तिब्बती हिरन मारना है उन्हें चांग-चेन-मो[२४] जाना पड़ता है। उसे पांच से छ: सप्ताह की सामग्री लेनी पड़ती है, परन्तु जो वहां न जाकर केवल अमन,[२५] तिब्बती-चिकारा, शापू, केल तथा भरल ही मारना चाहें वे तीन या चार सप्ताह की सामग्री लेते हैं।

लेह से आगे रेस कानून नहीं है। टट्टू का एक रुपया प्रतिदिन देना पड़ता है तथा जहा शिकार के लिए ठहरा जाय वहाँ आठ आने प्रति दिन देने पड़ते हैं। लेह से छ: मील पर शे ग्राम में बहुत बड़ा गुम्पा मिलता है। सिंधु के किनारे रनबीरपुर में ठहर कर दूसरे दिन नौ मील चलने पर सिंधु का किनारा छोड़ कर बांई ओर मुड़ना पड़ता है। अब आपको रास्ते बने हुए नहीं मिलेंगे। रात को साकटी में रहना पड़ता है। साकटी काफी ऊँचाई पर है जिससे रात ठंडी भी बहुत रहती है। साकटी से चढ़ाई प्रारम्भ होती है और दस मील चढ़ने के पश्चात् लगभग अठारह हज़ार फीट पर "चांग ला" दर्रा आता है। कई जगह मरे हुए जानवरों के कंकाल दिखाई पड़ते हैं। यदि खुला हुआ तो हवा पतली होने के कारण सिर में दर्द होने लगता है। अंत

---

२४. लेखक यहां गया था। २५. Ovis Ammon एक प्रकार की तिब्बत की बहुत बड़ी भेड़।

के हजार फुट तो बड़ी कठिनाई से पार होते हैं। प्रत्येक पचास गज़ पर घोड़ों को दम लेने के लिए खड़ा रखना पड़ता है। घोड़े और आदमी हाँफने लगते हैं। इधर के रहने वाले तो बीस पचीस गज चल कर ही हाँफने लगते हैं। चोटी पर वही पत्थरों का ढेर और पताकाएं हैं जहां नियमानुसार कुली नारा लगाते हैं और कुछ देर विश्राम करते हैं। विश्राम के समय इस ऊँचाई पर आपको ऐसा प्रतीत होगा, मानो प्रकृति स्तब्ध है, न कोई किसी से बात करता है, न प्रकृति के सौन्दर्य को सराहता है। जिसे देखो वह एक जगह दृष्टि लगाये चुप-चाप खड़े या बैठे हुए हैं। घोड़े भी चुपचाप खड़े रहते हैं यहां तक कि दुम भी नहीं हिलाते। जब कुलियों का अगुआ चलने को कहता है सब चल पड़ते हैं। यदि आकाश स्वच्छ हुआ तो सिर में दर्द अवश्य होगा। थोड़ा उतर कर कहवा[२६] पी लेना उत्तम होगा और एस्प्रिन भी खा लेना चाहिए।

कुछ नीचे उतर कर छोलतक झील के किनारे पड़ाव है। इस जन शून्य प्रदेश को इधर चां था कहते हैं। यहां भेड़, बकरी और याक रखने वाले जिन्हें चांपा कहते हैं, अपने डेरों में पड़ाव डालते घूमते रहते हैं। जहां भेड़-बकरी ठहरती हैं वहीं पर गोबर का ईंधन मिल जाता है। पड़ाव भी ऐसी जगह होता है, जहां हवा कम लगे। प्रकृति ने इस प्रदेश में बुर्तसी नामक एक पोधा भी दिया है, जो ऊपर से तो इमली के से पत्तों वाला छोटा सा दीखता है, परन्तु थोड़ा सा खोदने पर बड़ी मोटी जड़ निकलती है। यह निकालते ही जलाने के काम में आ जाती है। पड़ाव डालते समय या तो गोबर या बुर्तसी देख लेना आवश्यक होता है। इधर आने वालों को छोलतक की पहिली झील मिलती है, जो लगभग पौन मील लम्बी और पाव मील चौड़ी होगी। यहीं पर पहिले पहिल तिब्बती कौआ जो चील से भी बड़ा होता है तथा याक दीखेंगे। याक को इधर सुरागाय कहते हैं जिसकी पूँछ के बाल के चँवर बनते हैं। इधर याक जंगली भी होते हैं। पालतू याक भी आधे जंगली होते हैं। झील का पानी बड़ा स्वच्छ है, परन्तु मछली बहुत कम है। यहा के पड़ाव से ही शिकारी को अपने फेफड़े, जठराग्नि तथा नींद की परीक्षा होती है। यहां से आगे अंडे और रोटी के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं पकती। रात को नींद भी बहुत कम आती है।

छोलतक से टांगसी ठहरते हुए चकर तालाब की झील के किनारे ठहरते हैं। इधर थोड़ा बादल होते ही रात को पहाड़ों पर बर्फ गिर जाती है। चकर तालाब की झील काफी बड़ी है। यहां से नौ दस मील पर पंगुंग झील मिलती है। यह झील लगभग साठ सत्तर मील लम्बी और दस मील तक चौड़ी है। इधर की प्रायः सब झील खारे पानी की है। पश्चिमी तिब्बत की सब झीलों में यह सबसे बड़ी है। इसके किनारे कुछ गांव भी हैं। यदि बादल और हवा चलती रही तो इस झील में तरंगें काफी ऊँची उठती हैं और नीले रंग के गहरे से हलके सब रंगों का ऐसा मिश्रण दिखाई पड़ता है जो कम से कम लेखक ने तो कहीं भी नहीं देखा। इस झील में कुछ चक्रवाक तथा मुर्गाबियां (बतखें) भी दिखाई पड़ती हैं। यह झील यद्यपि लगभग साढ़े पन्द्रह हजार फुट से ऊँची है फिर भी इसके किनारे काफी मच्छर हैं। यहां का ग्रीष्म काल केवल तीन चार महीने का है, अतः किनारे पर जितनी भी बनस्पति है बर्फ गलने पर एक साथ उगती, फूलती और फलती हैं। फूलते समय यात्री जब यहां पहुँचता है तो उसे कालीन सा बिछा मिलता है। पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि इतने दर्रे पार कर इस जन तथा बनस्पति शून्य प्रदेश में धूल तथा कड़ी धूप सहता हुआ कोई यात्री जब यहां पहुँच कर झील तथा उसके किनारे फूल खिले देखता होगा तो उसके मन की दशा क्या होती होगी? यही कारण है कि मानसरोवर जाने वाले वहां की इतनी प्रशंसा करते हैं।

२६—मसालेदार काश्मीरी चाय।

पंगुंग को दाहिने छोड़ते होते हुए फोबरंग पहुँचा जाता है। यह ग्राम लदाख का अंतिम ग्राम है। यहाँ से चांग चेन मो के लिए टट्टू और कुली लेने पड़ते हैं। इससे पूर्व-उत्तर में नौ दस पड़ाव तक (जब तक कि तिब्बत या सिनकियांग) के गाँव नहीं आते जन-शून्य भूमि है। फोबरंग के नाले में स्नोट्रोट[२७] बहुत है। जिसे गाँव के छोकरे पैसे देने पर पत्थरों के नीचे से हाथ में पकड़ लाते हैं। यह खाने में बड़ी स्वादिष्ट है।

यदि बगल में खुजली चलने लगी हो तो समझ जाइए कि जूएं पड़ गईं। यहीं पर स्नान कर लेना उत्तम है तथा कपड़ों को पानी में उबाल लेना चाहिए। दाढ़ी बनाने में कष्ट होता हो तो मशीन से काट कर स्नान कर लेना चाहिए। अब मुँह और हाथ के चमड़े के निकलने के साथ ओंठ भी फट जाते हैं तथा उनसे खून निकलने लग जाता है। इससे बोला तो जा सकता है, परन्तु हँसने में बड़ा कष्ट होता है।

यहाँ की स्त्रियाँ तकली[२८] पर ऊन कातते और छः से आठ इन्च की ऊन की पट्टी[२९] बुनते दीखेंगी। लगभग तीस चालीस फुट लम्बी पट्टी जिसे नम्बू कत्तख कहते हैं, दस-बारह रुपए में मिलती है। इसे जोड़ कर एक लम्बा कोट बनाया जा सकता है।

फोबरंग से ही चढ़ाई मिलती है। मर्समिकला जो साढ़े अठारह हजार फीट है, दोपहर तक पहुँचते हैं। यदि आकाश स्वच्छ हुआ तो सिर चटकने लगता है। इस दर्रे के बराबर इधर कोई दर्रा ऊंचा नहीं है। गनीमत इतनी ही है कि चढ़ाई ठंठी[३०] नहीं है। यहां पर कई जगह कियांग[३१] मिलते हैं, इनका रंग बादामी होता है। क़द के भभोले तथा और अवयव बिलकुल घोड़े के से होते हैं, परन्तु पूँछ खचर की सी होती है। प्रायः यात्री सिर दर्द के मारे थोड़ा सा उतर कर ही पड़ाव डालना चाहता है।[३२] परन्तु साथ वाले छः मील नीचे जाने का आग्रह करते हैं जिसे मानना चाहिए। पास वाला पड़ाव रिमड़ी बहुत ठण्डा और सत्रह हजार फीट पर होने के कारण रात को कष्टदायक है। यहाँ से चलकर पमज़ल के पड़ाव पर पहुँचते हैं। रास्ते में कई जगह भरल तथा कहीं-कहीं अमन भी दिखाई देते हैं। दूरबीन से देख कर यदि दाव में हो तो मार लेना अच्छा है। पमज़ल का पड़ाव चांग चेन मो नदी के किनारे है और यहाँ छोटे-छोटे पौधों की झाड़ी है। इनमें हजारों खरगोश हैं जो आदमी से बिलकुल नहीं डरते। इधर वाले सर्वभक्षी हैं परन्तु मछली और खरगोश[३३] नहीं खाते।

पमज़ल से चलने पर नदी दो बार पार करना पड़ती है, जिसे भोटा सामान अपने सिर पर रखकर पार करते हैं। शिकारी टट्टू पर बैठ कर पार करता है, फिर भी जहाँ कहीं पानी छू जाने पर ऐसा प्रतीत होता है मानों चाकू से काटा जारहा हो। दोपहर के समय एक मैदान के पास गरम पानी का स्रोत मिलता है, जिससे गंधक की बू आती है। यहाँ पर प्रायः तिब्बती हिरन दिखाई पड़ते हैं। भोजन करते समय दूरबीन से देखने से कहीं कहीं हिरन भी बैठे हुए दिखाई दे जाते हैं।

तिब्बती हिरन के सींग सीधे होते हैं जो अट्ठाइस इंच की लम्बाई तक होते हैं। दिन में वह खुरी से खोद खोद कर गड्ढा बनाकर बैठता है जिससे केवल इसका सिर दिखाई देता है। ये ऐसी कई बैठकें बनाये

---

२७. Snow trout एक प्रकार की बर्फ के नीचे रहने वाली मछली। २८. इधर के लोगों के पास चरखा नहीं होता। २९. इधर करघे को भी नहीं जानते। इन पट्टियों को नम्बू कतख़ कहते हैं, बकरी के बाल के नीचे कोमल बाल निकलते हैं जिसे पश्मीना कहते हैं कात कर यह बनाया जाता है। इसे जोड़ कर कोट, पतलून बनाते हैं, जो बड़े गरम रहते हैं। ३०. सख्त। ३१. जंगली घोड़े (देखो फोटो) ३२. लेखक ने भी यही ग़लती की थी। ३३. तिब्बती में खरगोश को रिबोंग कहते हैं।

मर्समिकला के पास मारा गया कियांग (जंगली घोड़ा)

कार झील के किनारे मोटा, लेखक का सामान याक (सुरा गाय) पर लाद रहे हैं।

कांगील में पड़ाव का दृश्य। साफे वाले लेखक के नौकर हैं।

रखता है। इस जीव में विचित्रता यह है कि इसकी पीठ पर पिछली टाँगों के जोड़ के पास एक प्रकार की मक्खी छेद करके अण्डे दे देती है। जब अण्डे फूट कर कीड़े निकलते हैं तो वे इसके शरीर के मांस से पोषण पाते हैं और मक्खी बनकर उड़ जाते हैं। शिकारी को कई बार अनुभव होगा कि घात करते समय एकाएक हिरन उठ कर भाग जाता है। इसका कारण यह है कि जब कीड़े काटने लगते हैं तो वह भागना प्रारम्भ करता है और शांत होने पर किसी दूसरी बैठक में जाकर बैठ जाता है। इसी नदी पर आगे चलकर कैम्प (पड़ाव) डालना पड़ता है। यहाँ मच्छर हैं तो बहुत, परन्तु काटते नहीं हैं। प्रति दिन उठकर घोड़ों पर घूमा जाता है और हिरनों पर घात की जाती है।

अंतिम स्थान नेम्री का पड़ाव है। यदि आकाश स्वच्छ रहा तो शिकार में बाधा नहीं पड़ती, परन्तु जहाँ थोड़े बादल हुए कि बर्फ और ओले पड़ने लगते हैं और ठंड इतनी हो जाती है कि तम्बू से बाहर नहीं निकला जाता। बाहर रहते समय यदि अकस्मात् बादल हो जाय तो ठंड के मारे मुँह और हाथ का चमड़ा इतना फट जाता है कि खून आने लगता है। कभी कभी रात पड़ जाने पर लोग मर भी जाते हैं। इधर हिरनों के अतिरिक्त अमन, भरल, भेड़िए और कभी कभी बर्फ का तेंदुआ भी मिल जाता है। ऊँचाई के मारे नींद और भूख कम हो जाती है जिससे शिकारी प्रायः एक सप्ताह के भीतर ही ऊब कर वापिस हो जाता है। वापिस फोबरंग आकर पंगुंग झील के किनारे मन में डेरा डालते हुए चुशल पहुँचते हैं। यहाँ सौ घर के लगभग हैं और पड़ाव में मच्छर बहुत हैं, जो काटते भी हैं। अच्छा तो इसी में है कि आगे चलकर पड़ाव डाले और अमन का शिकार खेले। पूर्व की ओर तिब्बत की सीमा पर काफी अमन है। और पहाड़ भी बहुत ऊँचे नहीं हैं, परन्तु पश्चिम की ओर के पहाड़ बड़े बीहड़ हैं। यहाँ के जंगली जानवरों को देखने से शिकारी को मालूम होगा कि मादा और बच्चे एक साथ झुण्ड बना कर रहते हैं। इसी प्रकार जवान नर एक साथ और बूढ़े बड़े सींगों वाले एक साथ। दूरबीन से जहाँ बच्चा या मादा दीखो, आपको कदम उठाने की आवश्यकता नहीं, समझ जाइए कि सब बच्चे और मादा होंगी। इसी प्रकार छोटे सींग वाला नर दीखे, समझ लीजिये कि सब छोटे हैं।

चुशल से दक्षिण की ओर चल कर डुँगटीरप नामक पड़ाव के पास सिंधु पार की जाती है। यहाँ पर इसे या तो जख[३४] से पार करते हैं या पैदल। कहीं कहीं तैरना भी पड़ता है। पानी बर्फ का है अतः कई लोग अकड़ जाते हैं। जख के लिए प्रबन्ध करने में काफी व्यय होता है। यहाँ पर सिंधु नदी का वेग बहुत कम है। शिकारी को आगे चलकर कई जगह नदी में कियांग तथा अन्य जानवर हरी घास खाते मिलते हैं। नेमू के पास पड़ाव डाल कर दक्षिण की ओर खगेकि मैदान में तिब्बती चिकारों[३५] का शिकार खेला जाता है। इस मैदान में एक छोटी सी टेकरी पर पुराना किला भी है। नाले के पास घास चरने के लिए चिकारे सवेरे और संध्या समय आते हैं। इसकी चोटें बड़ी बारीक हैं और आड़ न होने से बड़ी दूर बंदूक चलाना[३६] पड़ती है।

३४—भेड़ बकरी की खाल में फूंक कर हवा भर देते हैं। ऐसी कई खालें एक साथ बाँध कर इससे नदी पार करते हैं। इसमें व्यय काफी होता है। भाग्यवश जब लेखक यहाँ पहुँचा तब लदाख के गवर्नर भी यहीं थे और उन्होंने कृपा कर मुझे उतरवा दिया था। ३५. तिब्बती में इसे गोवों कहते हैं। ३६. लेखक ने तीन दिन ठहर कर अठारह फैर चलाए, परन्तु एक भी न लगा। सबसे पास का फैर तीन सौ गज पर था।

यहाँ से एक पड़ाव बीच में सिन्धु के किनारे देते हुए पुगा पहुँचते हैं। पुगा में मीलों तक गंधक बिछा पड़ा है और सैकड़ों जगह गरम पानी के सोते हैं। कुछ तो इतने गर्म हैं कि उनमें से धूआ निकलता है। इसी मैदान के बीच में एक मकान बना है जहाँ कस्टम का नाका है। यहाँ पर व्यापारी अपना सामान रख कर इधर उधर चापों से ऊन और पोश्तीन खरीदते हैं और उन्हें नमक, गेहूं, जौ और चाय बेचते हैं। सामान की देख रेख के लिए कोई चौकीदार नहीं होता। इधर के लोग एक बर्तन में पानी, मक्खन और चाय डाल कर उबालते हैं। जब गरम हो जाती है तो उसमें गेहूं या जौ का थोड़ा सा सत्तू मिलाकर पी लेते हैं। बस यही इनका भोजन है। जब भूख लगी तब उनका यही क्रम जारी रहता है।

पुगा से पुलकोकों दर्रा पार कर कार झील पर ठहरना पड़ता है। यहाँ पर चकवे हजारों की संख्या में अंडे और बच्चे दिए दिखाई देते हैं। पानी के पास किसी के जाते ही कांय कांय चिल्ला कर कान फोड़ डालते हैं। पुगा की नाँई यहा भी गंधक और गरम पानी के सोते हैं जिनमें गंधक की गन्ध आती है।

यहां से एक पड़ाव बीच में ठहर कर कैमर का दर्रा पार किया जाता है। इसके नीचे के मैदान में डेरा डाल कर अमन की शिकार खेली जाती है। यदि अभी तक अमन नहीं मिला हो तो यहाँ ठहर कर मारना उचित है कारण, आगे अमन मिलने की सम्भावना कम हो है।

यहाँ से ग्या होते हुए कुलू लेह मार्ग पर मीरू ठहर कर शापू[३७] की शिकार खेलते हैं। कभी कभी यहाँ अमन भी मिल जाता है। कई शिकारी मीरू से शंग नाले में भरल को शिकार खेलते हुए मार्सलग पहुँचते हैं। मार्सलग से हिमिस का गोम्पा देखते हुये लेह पहुंचा जाता है। लेह पहुँचते समय शिकारी की हुलिया टेढ़ी हो जाती है। चमड़े का सामान जिसमें घोड़े की काठी आदि खुश्की के मारे टूट जाती है। हाथ और मुँह का चमड़ा कई बार निकल चुकता है और कपड़े भी मैले हो जाते हैं। चलते समय यहां से नमदे, कम्बल, चीन की हरी चाय की ईंटें[३८] शगर के हरे पत्थर के (संगेयशब, जिसे ज़हर मोहरा भी कहते हैं कटोरे, गिलास और पीरोजा खरीदा जा सकता है। यहीं पर रास्ते में तिब्बती बड़े कुत्ते और छोटे कुत्ते भी कई शिकारी ले लेते हैं। लेह में दो दिन विश्राम करना अच्छा है, ताकि सफाई आदि हो सके। मनोरंजन के लिए बाजार तथा गोम्पा देखा जाय, या सिंधु के पार स्पितोक जिसे पितुक भी कहते हैं कई लोग जाते हैं। यहाँ पर लदाख का राजा रहता है। कई छंगवाली[४०] सुराही लेकर डफ बजाती हुई फिरती हैं। पीने वालों को गाना सुनाती हैं। अब तक यदि शिकार यथेष्ठ[४१] न मिली हो तो लामायुरू में कुछ दिन ठहर कर शापू की शिकार खेलते हुए काश्मीर लौटना उत्तम होगा।

३७—एक प्रकार की भेड़। ३८. Brick tea. ३९. मधुवाला। ४०. इस चक्कर में लेखक ने त्रेपन फैर चलाये थे जिसमें १ अमन, २ शापू, २ तिब्बती हिरन और २ भरल मारे तथा २ अमन, १ तिब्बती हिरन और ३ भरल घायल हो गए। शेष फैर चूक गया था।

कांग्रेस की स्थापना में रूसी आतंक का स्थान

डा० नन्दलाल चटर्जी, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्, लखनऊ विश्वविद्यालय,

लगभग साठ वर्षों के अनवरत संघर्ष और त्याग साधना के पश्चात् कांग्रेस ने देश को परतंत्रता की बेड़ी से मुक्त किया है; परन्तु इस संस्था का बीजारोपण भारत सरकार के भूतपूर्व गृह और माल मन्त्री श्री ए० ओ ह्यूम (A. O. Hume) ने किया था। इस तथ्य का वास्तविक अर्थ अब भी सुविदित नहीं है, भारत में अंग्रेज़ी शासन के इतिहास काल की यह एक अनोखी घटना है कि हमारी श्रेष्ठ राष्ट्रीय संस्था के जन्म दाता एक विदेशी हुए। वास्तव में यह एक विचित्र बात है, कि हमें प्रेरणा की पूरी खोज अब भी नहीं मिली, जिसके कारण कांग्रेस की स्थापना हुई; परन्तु यदि हम समसामयिक साधना का अध्ययन करें तो हमें कांग्रेस के विदेशी जन्मदाता के मुख्य लक्ष्य का पता अवश्य लग जाता है।

यह तो स्पष्ट है कि सन् १८८५ ई० में कांग्रेस का जन्म आकस्मिक नहीं था। उस समय के भारत का वातावरण ही कुछ ऐसा था जिससे कि इस प्रकार विकास अनिवार्य था, परन्तु यह कदम एक विदेशी ने उठाया और उसी ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय संस्था की योजना देश के सामने रखी, वास्तव में यह आश्चर्य जनक है और इसकी व्याख्या भी अत्यावश्यक है। श्री ह्यूम वस्तुत: एक उदार राजनीतिज्ञ थे, और उनको "White-man's Burden"के साम्राज्यवादी सिद्धान्त मेंजोकि गौरांग महाप्रभुओं के लिए ईश्वरीय सत्य था—कम विश्वास था। आप उन कतिपय "गोरे बाबुओं" (White Babus) में से एक थे, जिन्होंने सरकारी नीति का अक्षरश: पालन करने से इन्कार कर दिया। और देश की उस नई जागृति को, जो कि अंग्रेजी शिक्षा और प्रतीच्य संस्कृति के परिणाम स्वरूप आ गई थी, पूरी तौर से समझ कर एवं उसकी प्रशंसा कर, अपने उत्साह और दूरदर्शिता का परिचय दिया, परन्तु इतना निश्चय है कि श्री ह्यूम के दृष्टिकोण में भारत की स्वाधीनता या स्वशासन नहीं था, श्री ह्यूम और उनके समान विचार वालों ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को और भी दृढ़ करना चाहा था, न कि शक्तिहीन; और यदि उन्होंने सुधारों के लिए आवाज़ उठाई तो उन्होंने साम्राज्यवादी बंधनों को तोड़ना नहीं चाहा, केवल उन बन्धनों को ढीला करना चाहा था, ताकि भारत और इंग्लेन्ड का सम्बन्ध अधिकतर स्थायी और जन प्रिय हो जाय।

यदि हम प्राप्त साधनों का सूक्ष्म विवेचन करें तो यह प्रतीत हो जायगा कि श्री ह्यूम की मौलिकता इसमें नहीं थी कि एक संस्था को स्थापित करने का विचार उनके मस्तिष्क में आया, वरन् उनकी वास्तविक सफलता इस बात में है कि उनकी स्थापित की हुई संस्था ने कलकत्ते के भारतीय संघ (Indian Association) को नीचा दिखाया। यह संघ १८७६ ई० में ही स्थापित हो गया था और इसी के परिणाम स्वरूप सन् १८८३ ई० में ओजस्वी वक्ता एवं देश नेता श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय सम्मेलन (Indian National Conference) की स्थापना हुई। श्री ह्यूम को श्रेय इस बात का है कि उन्होंने वर्तमान संस्था से भिन्न एवं स्वतंत्र एक राज भक्त आन्दोलन का उद्घाटन किया। स्पष्टतया श्री ह्यूम की इच्छा यह नहीं थी

कि वे उस सम्मेलन से अपना सम्बन्ध स्थापित करें जो कि एक पदच्युत सरकारी कर्मचारी श्री बनर्जी की प्रेरणा पर 'बंगाल के बाबुओं' द्वारा स्थापित किया गया था। और जिन्होंने पेशावर से चटगांव पर्यन्त जनमत पर प्रभुत्व करने की सोची थी। भारतीय इतिहास का विद्यार्थी यह सोच कर कि एक भिन्न संस्था को स्थापित करने की चेष्टा क्यों की गई जबकि उसका उद्देश्य समान था कि कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है, यद्यपि अखिल भारतीय सम्मेलन जो कि पहले से विद्यमान था, सन् १८८५ ई० के अन्तिम सप्ताह में—जिस सप्ताह में कांग्रेस का जन्म बम्बई में हुआ—अपनी वार्षिक बैठक करने जा रहा था।

इस समस्या का समाधान तत्कालीन भारत की राजनैतिक परिस्थितिसे होसकता है,और इससे भी अधिक रूसी विभीषिका की उपस्थिति में सरकार को तात्कालिक रूसी आक्रमण का भय तो नहीं था, परन्तु इस बात का भय था कि भारतीय असन्तोष से एशिया में रूसी शक्ति बढ़ेगी और अंग्रेज़ों के लिए कई प्रकार की बाधायें उपस्थित हो सकती हैं। लार्ड लिटन का (Vernacular Press Act) वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट उस समय भारतीय समाचार पत्रों के प्रति एक स्पष्ट दमन नीति थी, जिस समय कि उनका प्रतिकूल और समालोचना पूर्ण दृष्टिकोण भारतीय साम्राज्य के स्थायित्व को खतरे में डाल देता, जो कि पूर्व से ही मध्य एशिया में होने वाली घटनाओं से कम्पित था। लार्ड लिटन ने स्वयं कहा है: "The vernacular papers had begun to inculcate combination on the part of the Native Subjects for the avowed purpose of putting an end to the British Raj." (देशी समाचार पत्रों ने अंग्रेजी राज को समाप्त कर देने के उद्देश्य से ही भारतीयों में एकता फैलाना प्रारम्भ कर दिया था) द्वितीय अफगान युद्ध में २१,०००,००० पौंड व्यय किया गया। भारतीयों को इसका सारा बोझ उठाना पड़ा, यद्यपि इसमें उनका कोई हाथ नहीं था। यह युद्ध केवल रूसी प्रचेष्टा को कुचलने के लिए ही किया गया था। जैसा कि सरकार को मालूम था शिक्षित भारतीयो में इस युद्ध के प्रति कोई उत्साह नहीं था। वरन् इसके प्रतिकूल भारतीय कर दाताओं में एक महान असन्तोष की लहर दौड़ गई। रूस के विरुद्ध वालो नीति के प्रति भारतीय अनिच्छा किसी भी सतर्क अंग्रेज के लिए एक महत्वपूर्ण विषय था। ऐसी दशा में श्री ह्यूम और उनके मित्रों ने यदि कांग्रेस ऐसी राजभक्त एव उत्तरदायित्वपूर्ण संस्था के रूप में भारत में एक सुरक्षित मोर्चा बनाना चाहा तो कोई विचित्र बात नहीं है।

लार्ड रिपन ने अपनी उदार नीति के द्वारा यह पहले ही दिखा दिया था कि लार्ड लिटन की दंड नीति से भारत में स्वस्थ एवं राजभक्त जनमत नहीं बनाया जा सकता है। सन् १८८२ ई० में लार्ड रिपन ने सेक्रेटरी आफ स्टेट को इस प्रकार सतर्क कर दिया था: "As the Russian approach our frontier more nearly, they may try to stir up discontent and trouble by intrigues, carried on within our dominions and the real question, therefore, is how can such intrigues be best met and defeated." (जैसा कि रूसी हमारी सीमाओं के समीपतर आ रहे है, बहुत सम्भव है कि वे लोग हम लोगों के राज्य में असन्तोष और अशान्ति की सुलगती हुई आग अधिक प्रज्वलित करदें। अत: प्रश्न इस बात का है कि ये षड़यन्त्र किस प्रकार व्यर्थ और नष्ट किये जाँय।) उसने इस ओर भी संकेत किया था कि आन्तरिक दमन और सीमा संगठन की अपेक्षा उदार नीति के द्वारा ही सरकार का स्थायी बचाव हो सकता है। अर्थात् यह स्पष्ट है कि इस समय अंग्रेजी शासन में रूसी षड़यन्त्र की विभीषिका खलबली उत्पन्न कर रही थी।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और उनके Indian Association (भारतीय सम्मेलन) द्वारा आरम्भ की हुई राजनैतिक आन्दोलन की अखिल भारतीय रूपरेखा और "इलबर्ट बिल" की घटना किसी भी कूटनीतिज्ञ के लिये पर्याप्त चेतावनी थी। फिर भला श्री ह्यूम क्यों चुप बैठते ! उनका विचार था कि जब तक इस
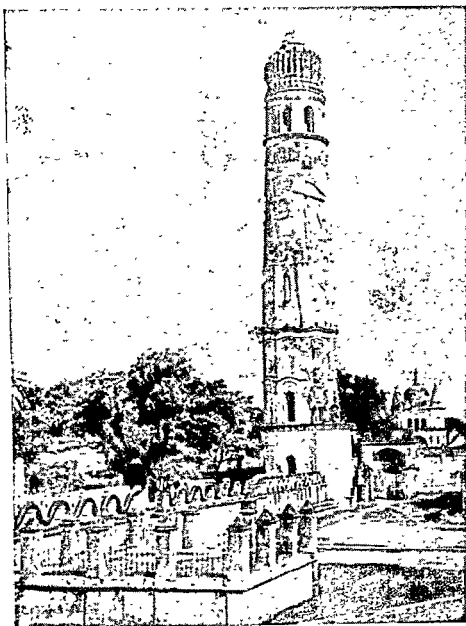
कालपी की ऐतिहासिक मीनार—लंका

हिन्दी भवन चित्रावली

अशोक कालीन विद्यालय, कालपी
यह भ्रापरछ चौरासी गुम्बज के नाम से विख्यात है

हिन्दी भवन चित्रालय
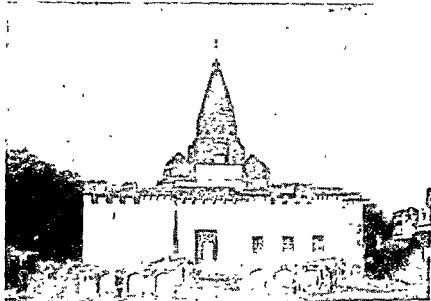
पाहूलाल का देवालय, कालपी
इसी मंदिर में १८५७ में महारानी लक्ष्मीबाई एवं नानासाहेब ने विश्राम किया था

भारतीय आन्दोलन को राजभक्त एवं वैधानिक रूप नहीं दे दिया जाता, तब तक बहुत सम्भव है कि यह रूसको अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये प्रोत्साहित करें। षड़यन्त्रकारियों और राजद्रोहियों को कोई उपद्रव करने से रोका जा सकता है, यदि केवल भारतीयों की आपत्तियों को सुविधा पूर्वक समय से दूर कर दिया जाय और यदि उनकी न्याय की माँग एक उत्तरदायित्वपूर्ण आन्दोलन के द्वारा ही व्यक्त की जाय। यही श्री ह्यूम का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने एक अखिल भारतीय राजनैतिक संस्था का निर्माण किया, *जिसके द्वारा सरकार को साधारण भारतीय जनमत की सूचना मिलती रहे।*

कॉंग्रेस के सर्व प्रथम सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के एक प्रकाशित लेख से पता चलता है कि इस योजना की सफलता में तात्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन का भी हाथ रहा। इसका और भी प्रमाण सर विलियम वेडरबर्न (Sir William Wedderburn) के—जो कि श्री ह्यूम के घनिष्ट मित्र थे और स्वयं भी कॉंग्रेस के अन्यतम सभापति थे—एक प्रकाशित कथन से मिलता है। इस प्रकार दो कांग्रेस सभापतियों ने इसको प्रमाणित कर दिया कि कॉंग्रेस की योजना एक प्रकार से सरकारी ही थी, और लार्ड डफरिन के मस्तिष्क की उपज थी, जिसने कि यह निश्चित कर लिया था कि उसका नाम उस योजना के सम्बन्ध में तत्काल ही न प्रकाशित किया जाय।

सबसे उल्लेख योग्य बात तो यह है कि कुछ समय के पश्चात् सर विलियम वेडरबर्न ने स्वयं स्पष्ट रूप में इसे स्वीकार किया कि वास्तव में कॉंग्रेस की नींव भारत को रूस आक्रमण के आतंक से बचाने के लिये ही डाली गई थी। उनके मतानुसार रूसी अधिकारियों की भारत आक्रमण की समस्त योजना प्रतीक्षित भारतीय विद्रोह की सफलता पर ही निर्भर थी। कॉंग्रेस के पंचम अधिवेशन में, जोकि बम्बई में हुआ था, आपने सभा-पति के पद से अपने भाषण में ये शब्द कहे थे: "In 1885, they (i.e. the Russians) appear to have put their idea to the test by a pretended advance. Had this move been followed by any signs or sympathy, or even by an ominous silence of expectancy throughout India, Russia would have rejoiced, and we should have felt our position weakened.' (ऐसा मालूम होता है कि सन् १८८५ ई० में रूसियों ने अप्रत्यक्ष रूप से आगे बढ़कर इस योजना को कसौटी पर कसना चाहा। यदि इस योजना के प्रति सहानुभूति के कोई चिन्ह दिखाई पड़ते अथवा समस्त भारत में इसके प्रति अस्वाभाविक उपेक्षा होती, तो रूस को निश्चय ही प्रसन्नता हुई होती, और हम लोगों को भी अपनी स्थिति डावाँडोल दिखाई पड़ती।) इसी सम्बन्ध में उन्होंने आगे कहा है कि यदि भारतीयों को अंग्रेजों द्वारा स्वतन्त्र संस्थाओं *की शिक्षा दी जाय तो वे कभी भी अँग्रेजी शासन को रूसी शासन से बदलना न चाहेंगे।*

अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि श्री ह्यूम और उनके समर्थकों ने भारत में अँग्रेजी साम्राज्य की रक्षा वैज्ञानिक सीमा ("Scientific Frontier") की अपेक्षा राजभक्त आतरिक सीमा ('Loyal Interior") के द्वारा ही करने के दृष्टिकोण से कांग्रेस की स्थापना की। कांग्रेस के पूर्व नेताओं ने अँग्रेजी शासन के प्रति अपनी अपार राजभक्ति प्रदर्शित करके उनकी आशाओं को पूर्ण किया। उन्होंने कहा कि वे कोई षड़यन्त्रकारी या राजद्रोही नहीं हैं: ("No Conspirators or Disloyalists") और उन्होंने इस बात की घोषणा की कि वे भारत और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध को केवल अपने लिये ही नहीं अपितु समस्त संसार के लिये एक ईश्वरीय वस्तु बनाना चाहते हैं, क्योंकि वे पूर्ण राजभक्त हैं, और अंग्रेजी शासन की देन से पूर्ण परिचित भी (*" Loyal to the Backbone "* and *" Throughly Sensible of the Blessings of British Rule."*)

यह कहा जाता है कि कीचड़ से ही कमल उत्पन्न होता है। यह कथन कॉंग्रेस के विषय में पूर्ण रूप से सार्थक है। किस भाँति एक राजभक्त संस्था देश व्यापी स्वतन्त्रता आन्दोलन के रूप में परिणत हुई। यह एक ऐसी घटना है जिसका ऐतिहासिक महत्व है।

समाजवादी नैतिकता का विकास

श्री बैजनाथसिंह "विनोद"

नीतिशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का व्याख्याता है। यह समाज द्वारा निर्मित है और समाज के लिए है। विशिलर व्यक्ति के लिए उसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। इसलिए व्यक्तिगत नैतिकता का सामाजिक महत्व बहुत कम है। व्यक्तिगत नैतिकता से सामाजिक सम्बन्धों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—धनी और गरीब के सम्बन्धों में उससे कोई भी परिवर्तन नहीं होता। मानव समाज के वास्तविक प्रयोजन, आशा, आकांक्षा और वासना का चेतना में प्रतिबिम्बन नैतिकता में सन्निहित है। जिन क्रियाओं, जिन सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों के द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को उत्पन्न करता है; और मानव जीवन की जो भौतिक दशाएं (व्यावहारिक अवस्थाएं) होती हैं, उन्हीं से इस प्रतिबिम्बन का उद्भव होता है। ज्यों ज्यों जीवन की भौतिक दशाओं में, उत्पादन शक्तियों में और उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन होते हैं, त्यों त्यों नैतिक धारणाओं में भी परिवर्तन होते हैं। आदि मानव काल, गण व्यवस्था और सामन्ती व्यवस्था में हम इन परिवर्तनों को साधारण रूप से देख सकते हैं। इसीलिए कोई एक नैतिक नियम शाश्वत नहीं होता। पर किसी भी समय में, किसी भी जाति, समूह या राष्ट्र में, ये नैतिक नियम अथवा धारणाएं उस समय के—अपने जीवन से सम्बन्धित—अर्थनीतिक ढाँचे का अतिक्रम नहीं कर सकतीं। जैसे दास समाज में विश्वबन्धुत्व की कल्पना नहीं हो सकती और सामन्ती समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य और मानवीय समता की बात नहीं हो सकती। अर्थनीतिक श्रेणियों के संघर्ष से विभाजित समाज के अन्दर, उसकी नैतिक धारणाओं में, श्रेणी-विभाजन का प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य है, क्योंकि उसकी प्रकृति में ही श्रेणी-विभाजन वर्तमान रहता है। 'किरातार्जुनीय' में भी कहा गया है कि दुनियाँ में दो प्रकार की नीतियाँ होती हैं—अपने पक्ष की उन्नति की और विरोधी पक्ष के क्षति की। वर्गीय नैतिकता की प्रकृति ऐसी ही होती है। इन अर्थनीतिक श्रेणियों के अन्दर एक और भी सामाजिक तत्व निहित रहता है और वह यह कि वे श्रेणियाँ या तो मौजूदा अर्थनीतिक सम्बन्धों, समाज के सम सामयिक आर्थिक ढाँचों का समर्थन करती हैं, अथवा उन सम्बन्धों, उन अर्थनीतिक ढाँचों के परिवर्तन की माँग करती हैं। आज भारतीय समाज की दो अर्थनीतिक श्रेणियाँ दो परस्पर विरोधी माँग कर रही हैं,—एक मौजूदा श्रेणी-सम्बन्धों को कायम रखना चाहती है, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित समाज व्यवस्था और धनी गरीब की स्थिति को कायम रखना चाहती है, और दूसरी मौजूदा श्रेणी-सम्बन्धों, अर्थनीतिक ढाँचों, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित समाज व्यवस्था तथा धनी गरीब की स्थिति में परिवर्तन की माँग करती है। वस्तुत: आज अर्थनीतिक सम्बन्धों में परिवर्तन की माँग एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी का अर्थनीतिक और राजनीतिक शक्ति हस्तान्तरित करने की माँग है। और यह इसलिए कि इसके बिना नये श्रेणी सम्बन्धों, नयी समाज व्यवस्था का जन्म हो ही नहीं सकता। और यह माँग तभी नैतिक समर्थन प्राप्त करती है—अथवा यह माँग तभी नैतिक कही जा सकती है—जब अर्थनीतिक सम्बन्धों में परिवर्तन की मांग करने वाला वर्ग समाज के जनसाधारण के साधारण स्वार्थ में उत्पादन शक्तियों का संचालन और नियमन पहले से अच्छी तरह करे। परिवर्तन की माँग करने वाला वर्ग इस

व्यवस्था को पहले से बेहतर करेगा, इसे समझने की सबसे अच्छी कसौटी यह है कि परिवर्तन की माँग करने वाला वर्ग अपने आन्तरिक संगठन, कार्यपद्धति और नेतृत्व के स्वरूप में उत्पादक जनगण के निकटतम है अथवा नहीं। यदि निकटतम है, तो वह अच्छी व्यवस्था करने में समर्थ होगा; और यदि दूर है तो वह वायदा करके भी मुकर जायगा। जैसे आज की कांग्रेसी हुकूमत परिवर्तन की माँग करके भी अपने संगठन में सिद्धान्त और कार्य में ढीलापन, और अपनी कार्यपद्धति तथा नेतृत्व के मध्यमवर्गीय स्वरूप के कारण, उस माँग को खुद ही लेने में असमर्थ है—पूँजीपतियों के हाथ से अर्थनीतिक शक्ति छीनने और उसे सर्वहारा के हाथ में देने में असमर्थ है।

किसी भी समाज में, किसी भी समय में मनुष्यों की वास्तविक जीवन-दशा से ही—"उचित", "न्यायपूर्ण" और "अच्छा" इत्यादि शब्दों का अर्थ निरूपित होना चाहिए। इसके विपरीत इन शब्दों का मानव-समाज के लिए या तो कुछ भी अर्थ नहीं होगा अथवा उनके अर्थ अधिक मानव समाज को धोखे में डालने वाले होंगे। जैसे आज मज़दूरों के जीवन मान को घटाकर "औद्योगिक शान्ति" या तो वे मतलब शब्द है अथवा मज़दूरों के दमन के लिए पूँजीपतियों के हाथ में हथियार है। यही नहीं, इंगलैंड के 'अन् इम्प्लायमेंट इन्स्योरेंस स्टेटयूटेरी कमेटी' के सभापति लार्ड बेवरिज ने ७ प्रतिशत इंशियोर्ड जनसंख्या की बेकारी को आवश्यक माना है।* पर जिस समाज में बेकारी आवश्यक मानी जाय, उस समाज में बेकारों के लिए 'शान्ति' का अर्थ है भूखों मरना और जो बेकार नहीं हैं, उनके लिए 'शान्ति' का अर्थ है अपने भाइयों की मौत को चुपचाप देखना तथा जिनके हाथों में उत्पादन के साधन हैं उन पूँजीपतियों के लिए इसका अर्थ है मानव-रक्त चूस कर विपुल सम्पत्ति का अधिपति बनना। आज भारतवर्ष में १. उत्पादन मूल्यों में कमी, २. वेतन में कमी, ३. काम के समय में वृद्धि, ४. श्रमिक वर्ग से अधिक त्याग की माँग और ५. काम करने लायक जन-संख्या में १५ प्रतिशत की बेकारी, पूँजीवादी ढाँचे के लिए अनिवार्य हो उठी है। किन्तु ऐसी स्थिति में भारतीय जन साधारण के लिए "न्यायपूर्ण" शब्द का क्या अर्थ होगा? क्या भारतीय जन साधारण का ऐसा ही विनाश "उचित" और "अच्छा" कहा जायगा? यदि नहीं, तो क्या जन साधारण के जीवन को विनष्ट कर देने वाली पूँजीवादी व्यवस्था को बलपूर्वक पलट देना "देशद्रोह" कहला सकता है? इन प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब मौजूदा श्रेणी-सम्बन्धों में परिवर्तन की माँग तेज़ी से बढ़ती ही जायगी। और जिस क्रम से श्रेणी सम्बन्धों में परिवर्तन की मांग बढ़ती जायगी, उसी क्रम से जीवन दशा और उसके सम्बन्धों में भी परिवर्तन होने लगेगा। श्रेणी सम्बन्धों में परिवर्तन की मांग—व्यक्तिगत पूँजी पर आधारित समाज व्यवस्था को पलटने की माँग—सर्वहारा वर्ग की है, चाहे वह मिलों का सर्वहारा हो अथवा खेतों का। यही उत्पादक वर्ग भी है और भारतीय समाज में इसी की संख्या भी अधिक है। यही सर्वहारा वर्ग नये श्रेणी सम्बन्धों, नयी अर्थनीतिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के लिए लड़ रहा है। शक्ति और संख्या दोनों में यह श्रेष्ठ है। इस लिए इस वर्ग का विजयी होना निश्चित है। किन्तु इतिहास के आदिकाल से ही उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार रखने वाले वर्ग के हाथ में राज की हिंसक और सांस्कृतिक शक्तियाँ रही हैं। यह वर्ग अल्प संख्यक होते हुए भी साधन सम्पन्न है। इसलिए सर्वहारा-वर्ग का विजयी होना आसान नहीं। हमारे सामने एक ऐतिहासिक उदाहरण है, जिससे यह साफ होता है कि सत्ता प्राप्त करने का संघर्ष विकट होता है। ७८५-८६ ई० में तिब्बत में 'मु-नि-च्चन्-पो' नामक बौद्ध राजा शासन करता था। उसने बौद्ध

* "एकानमिस्ट" ४-६-४६

विज्ञान ने बता दिया है, यह गेहूं क्या है ! और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है !

गेहूं का गेहूंत्व क्या है, हम जान गए हैं ! यह गेहूंत्व उसमें आता कहाँ से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है !

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदों की बालियों में संग्रहीत होकर गेहूं बन जाते हैं ! उन्हीं तत्वों की हमारे शरीर में कमी भूख नाम पाती है !

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई ! हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्वों को सीधे क्यों नहीं ग्रहण करें !

यह तो अनहोनी बात—उटोपिया, उटोपिया !

हा यह अनहोनी बात, उटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान सहार-कांड के लिए ही आकाश-पताल एक करता रहेगा ! ज्यों ही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी !

और, विज्ञान को इस ओर आना ही है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है !
विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है !

कम-से-कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूं इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुओं—हवा, पानी—की तरह इफरात हो जाय ! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म तो निकलने ही जा रहे हैं, जो गेहूं की समस्या को हल कर दे !

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रधावित हो रहा है !

* * * * *

प्रचुरता !—एक प्रश्न चिन्ह !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है !

'हमारा सोने का हिन्दुस्तान'—यह गीत गाइए किन्तु यह न भूलिए कि यहा एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी; जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे; जो छः महीने सोती थी, जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी !

गेहूं बड़ा प्रबल है—यह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर आपको बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा !

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय !

अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियों के संयमन का और वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करने का !

कालपी के ऐतिहासिक किले का भग्नावशेष

भारतीय इतिहास में एकसूत्रता

श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह

हमारे विदेशी गुरुओं ने हमारी राष्ट्रीय एकता को भंग करने के लिए हमें यह पाठ पढ़ाया था कि भारत कभी एक देश नहीं रहा—उसे देश न कह कर महाद्वीप कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें अनेक जातियाँ, अनेक भाषाएँ, अनेक धर्म तथा अनेक सम्प्रदाय सदा से आपस में सङ्घर्ष करते आये हैं। इस सनातन संघर्ष को उदार अंग्रेज सरकार (Benevolent British Government) ने ही दूर किया अन्यथा हम लोग आपस में लड़ कर मर जाते।

इन अंग्रेज गुरुओं के हिन्दुस्तानी चेलों ने भी इस इशारे को समझ कर अपना स्वार्थ साधने के लिये उनकी हाँ में हाँ मिलाई और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारत प्रायद्वीप में दो धर्म या जातियाँ ही नहीं किन्तु दो देश बसते हैं जोकि कभी एक नहीं रहे और न हो सकते हैं। इस विषैले सिद्धांत का फल हुआ हमारी मातृभूमि का विभाजन। यह असम्भव और थोथी कल्पना–यद्यपि संप्रदायवादियों ने साकार करके दिखला दी किन्तु यह हमारी सारी प्राचीन भारतीय परंपरा के विपरीत है।

आज हमें यही देखना है कि भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास तथा भारतीय साहित्य में सदा से एकसूत्रता समन्वय और एकता की भावना प्रधान रही है। भारतीय जातियों के अनुसंधानकर्ता सर हरबर्ट–रिजली तक ने स्पष्ट शब्दों में यह बात स्वीकार की है। वे लिखते हैं:—

"बाहर से देखने वालों को जो भौतिक और सामाजिक विभिन्नता, भाषा और धर्म के भेद दीख पड़ते हैं उसके अन्दर हिमालय से लगाकर कन्याकुमारी तक जीवन की एक अन्तर्निहित समानता स्पष्ट दीख पड़ती है। वास्तव में एक ऐसा–भारतीय चरित्र तथा भारतीय व्यक्तित्व है जिसे हम खण्डों में नहीं बाँट सकते।"

एक विदेशी विद्वान् की स्पष्ट गवाही होते हुए भी हमारा देश खण्डों में बाँट दिया गया। किन्तु यदि हमारे सामने अपने इतिहास की एकसूत्रता की अखण्ड परंपरा रही तो हम अपने देश की राजनीतिक एकता भी पुन: स्थापित कर सकते हैं। इसी आशा से यह छोटा सा प्रयत्न किया जारहा है।

जबसे हमारे इतिहास और साहित्य के प्रमाण मिलते हैं तभी से हम भारतीय एकसूत्रता के प्रमाण पाते हैं। ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त में—

"माता पृथिवी पुत्रोऽहं पृथिव्याः"

आदि मंत्रों में जिस भावना का सूत्रपात हुआ था वह हमारे इतिहास पुराणों में अधिक स्पष्ट होती चली गई और उनमें आर्यावर्त्त और भारतवर्ष के नामों का गौरवपूर्ण उल्लेख किया गया। महाभारत में पाण्डवों के दिग्विजय तथा रामायण में भगवान् रामचन्द्र की वन यात्रा के वर्णन में सारे भारतवर्ष की परिक्रमा और परिचय हो जाता है। —भागवत में भारतवर्ष का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

"विख्यातं वर्षमेतत् यत्र नाम्ना भारतमुत्तमम् ।"

विष्णु पुराण में तो और भी गौरवपूर्ण उल्लेख है—

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्ति ते भारत भूमि भागे ।"

हमारे इतिहास-पुराणों में जिन सप्त नदियों, कुल पर्वतों तथा सप्तपुरियों का उल्लेख है वे सारे भारतवर्ष में फैली हुई हैं। हम नित्य स्नान के समय अपनी नदियों का स्मरण करते हुए राष्ट्रीय एकता का अनुभव करते हैं—

"गंगा सिन्धु सरस्वती च यमुना गोदावरी नर्मदा ।
कावेरी सरयू महेन्द्र तनया कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥"

अपने कुल पर्वतों का स्मरण हमें राष्ट्रीयता एकता के उच्च शिखर पर पहुंचाता है:—

तियवान और महेन्द्र, एह्य और पारिमल, मेरु, मलय और विन्ध्य
—सप्तैते कुल पर्वताः ।

उसी प्रकार—

"अयोध्या मथुरा माया काशी काँची अवन्तिका ।"

आदि पुरियों की नामावली हमें सारे देश की यात्रा घर बैठे करा देता है—

कालिदास ने रघुदिग्विजय के बहाने समुद्रगुप्त की दिग्विजय का चित्र हमारे सामने रखा है। "आसमुद्र क्षितीशानाम" (समुद्र तक के राजा) की उपाधि देकर भारत की पूर्व पश्चिम और दक्षिण सीमा तक साम्राज्य स्थापना की सूचना दी है। भारतवर्ष के मानदण्ड के समान उत्तर में स्थित तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र को छूते हुए हिमालय के वर्णन में मानों सारे भारत का विस्तार वर्णित कर दिया है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयोनाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौवारिनिधी विगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।

—कुमारसंभव

इससे भारत की भौगोलिक एकता सिद्ध होती है। उत्तर में पर्वतश्रेणी तथा पूर्व पश्चिम में समुद्रों से भारत की स्वाभाविक सीमा निर्धारित हो जाती है जोकि एक देश के लिए बहुत आवश्यक है। कवियों ने इसी भारतभूमि की स्तुति देवी के रूप में की है—

समुद्र वसने देवि पर्वत स्तनमण्डले विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।

इतिहास और भूगोल का अभाव

ये दुर्लंघ्य पर्वत श्रेणियाँ तथा समुद्र मेखला भी भारतवर्ष को विश्व जनसंपर्क से अलग नहीं रख सकी। शायद विधाता ने भारत को सब जातियों और धर्मों की मिलन भूमि के रूप में ही विरचा था। एक बार यदि किसी जाति या सेना ने पर्वतश्रेणी पार की तो उसे विन्ध्याचल और नर्मदा तक कोई बाधा देने वाला नहीं रहता था। इसी कारण इस विशाल मैदान में अनेक सम्प्रदायों की स्थापना हुई। यह उर्वरा भूमि गंगा यमुना

ही की नहीं किन्तु जातियों और संस्कृतियों की भी संगमस्थली बनकर जगत् प्रसिद्ध हुई। दक्षिण की पहाड़ी उच्च सम भूमि में इस प्रकार की सुविधा न होने के कारण वहां छोटे छोटे राज्यों ही का निर्माण हो सका—साथ ही भाषा और जातियों के भी भेद अधिक बढ़े। अन्त में दक्षिण में कुछ विस्तार मिलने से वहां फिर सभ्यता और संस्कृतियों का संगम सम्भव हो सका। आर्य और द्रविड़ संस्कृतियां और जातियों का सम्मिलन कृष्णा और कावेरी द्वारा सिंचित भूमि पर हुआ।

दक्षिण-पथ और उत्तर भारत के बीच बड़े बड़े पर्वतों और नदियों की बाधाएँ होते हुए भी आचार्यों सन्तों तथा बौद्ध भिक्षुओं ने प्रवेश कर धर्म और संस्कृति का सन्देश पहुँचाया। जिन भूभागों में विजेता और शासक नहीं पहुँच सके उनको उपदेशकों और कवियों ने अपनी ज्ञान ज्योति से ज्योतित किया।

पुराणों में कथा है कि अगस्त ऋषि ने सबसे पहले विन्ध्याचल को पार कर दक्षिणालय में प्रवेश किया। इन ऋषियों ने आर्यों और द्रविड़ों में सम्पर्क स्थापित किया जिसके फलस्वरूप दोनो महाजातियों में आदान प्रदान काफी हुआ। द्रविड़ों की भाषा तथा सभ्यता उच्च स्तर पर पहुँच चुकी थी इस कारण दोनों का मिश्रण सम्भव हो सका। अन्य देशों के समान यहां संघर्ष से नहीं किन्तु समन्वय से काम लिया गया। एक दूसरे के धार्मिक विश्वास तथा आचार व्यवहार ही में आदान प्रदान नहीं हुआ वरन् जातियों में भी मिश्रण हुआ।

आर्य सभ्यता पितृ प्रधान (Patriachat) तथा द्रविड़ मातृ प्रधान (Matriarchat) उनके सम्पर्क से आर्यों में देवियों की प्रधान होने लगी। अन्य जातियों के संपर्क ने उनमें नाग पूजा तथा लिंग पूजा का भी प्रचलन हो गया, रूद्र किरातों और शबरों के देवता माने जाते थे। उन जातियों के आर्य धर्म में प्रवेश करने के साथ उनके देवता भी उनके साथ ही चले आए। यही उन जातियों को सम्मिलित करने का एक मात्र उपाय था।

जातियों का मिश्रण

भारत में उत्तर पश्चिम से विभिन्न जातियों का आगमन हुआ। कुछ जातिया आराकान और ब्रह्म देश से भी आई किन्तु वहां अधिक वर्षा होने के कारण जंगल इतने घने उत्पन्न हो जाते हैं कि यह रास्ता ही बन्द हो जाती है। यहां से जो जातियाँ आई उनमें कुछ ये हैं। (१) तिब्बत का वंश जिसने दशवीं सदी में उत्तरी बंगाल में राज्य जमाया। (२) अहोमवंश जिसने ब्रह्मपुत्रा की घाटी में तेरहवीं शताब्दी में राज्य किया और बाद में हिन्दू हो गया। (३) बर्मी राज्यवंश जिसने आसाम पर सन् १८१६ में चढ़ाई की और ६ वर्ष बाद ही अंग्रेजों द्वारा निकाल दिया गया। पूर्वी बंगाल में मंगोलियन शताब्दियों तक बसे रहे।

इसी प्रकार समुद्र मार्ग से फिनिशियन, अरब, ग्रीक, रोमन, फारसी, अबीसीनियन आदि भारत के साथ व्यापार करते रहे और व्यापार करते करते पश्चिमी किनारों पर बस गये। आधुनिक काल में पोर्त्तगीज़ डच अंग्रेज और फरासीसी जातियों ने भारत में अपनी बस्तियाँ बसाई, जब पोर्त्तगीज़ यहां पर आए तब उनको मलाबार के बन्दर स्थानों पर अरबों की बस्तियाँ पहले ही से बसी हुई मिली थीं। ईरान से पारसी लोग इसके भी पहले सन् ७३५ ही में बम्बई में आकर बस गये थे। चितपावन और नागर ब्राह्मणों की जातियाँ भी विदेशों से आई हुई बतलाई जाती हैं। गुजरात की बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जिनका सम्बन्ध विदेशी जातियों से था। किन्तु बाद में वे इतनी भारतीय हो गईं कि उनको पहचानना ही कठिन हो गया। कोंकण के नवाइयात अरब

और बेन ए इजरायल जञ्जीरा के अबीसीनिया तथा मलाबार के नेस्टोरियान ईसाई निश्चय ही विदेशों से आकर यहां बसे थे।

इन सब उदाहरणों से प्रगट होता है कि भारत ने विदेशी जातियों से किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रक्खा। उनकी उदारता का यह परिणाम हुआ कि वे सब जातियाँ अपनी जातीयता छोड़कर भारतीय जन समाज में घुल मिल गईं।

भारत की यह उदारता मुसल्मानों के यहां आने तक स्थायी नहीं रह सकी। उस समय समाज में जो अनुदारता और जातीय भेद की कट्टरता प्रारम्भ हो गई दूसरे मुसलमान आक्रमणकारियों में बहुलान्श ने कट्टर पन का बर्ताव किया। उसका फल यह हुआ कि भारत की उदारता मुसल्मानों और ईसाइयों को अपने में न मिला सकी बल्कि स्वयं उनके धर्मों को ग्रहण करने लगी। धर्म परिवर्तन होने पर भी जातीयता की दृष्टि से वे शुद्ध भारतीय हैं। भारत ने जिस खूबी से भिन्न २ जातियों की समस्या को हल किया है वह उसके इतिहास की बड़ी भारी विशेषता है। दूसरे देशों ने बड़े बड़े संघर्षों और युद्धों के द्वारा अपनी समस्याओं को हल किया किन्तु भारत ने मैत्री भावना और समन्वय के द्वारा उसको हल किया। इसी का फल है कि हम दूसरे देशों में जबकि रंग और जाति के कारण जातियों में स्पष्ट भेद दीख पड़ता है। किन्तु भारत के इतिहास में एक सूत्रता दृष्टि गोचर होती है।

सांस्कृतिक विजय

भारतीयों पर यह लाँछन लगाया जाता है कि दूसरे देशों से उनका कोई सम्पर्क न होने के कारण वे कूप मंडूक और सकुचित विचारों के रहे हैं किन्तु इतिहास से यह बात सिद्ध नहीं होती कि प्राचीन भारतीयों ने दूसरे देशों में जाकर अपनी बस्तियाँ बसाईं वे नौविद्या में बहुत दक्ष थे और व्यापार क्षेत्र में बड़े उद्योगशील। विदेशियों को उन्होंने केवल अपनी वस्तुएं ही नहीं बेंची वरन् अपनी सभ्यता की छाप भी उन पर लगाई। पौराणिक काल में वर्णित समुद्रयात्रा की कथाओं को यदि हम छोड़ भी दें तो ऐतिहासिक काल में भी हमें समुद्रयात्रा के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। चोल नरेस, राजेन्द्र प्रथम ने सन् १०२६ में बंगाल की खाड़ी पर अपना अधिकार जमाया था, बरमा की राजधानी पेगू तथा अन्दमान और नीकोबार द्वीपों को अपने राज्य में शामिल किया था दक्षिण के पल्लव ही नहीं किन्तु उत्तर के भारतीयों ने भी सुमात्रा जावा बालि और बोरनियों तथा कम्बोडिया और श्याम मे अपनी बस्तियाँ ही स्थापित नहीं की वरन् वहां अपना धर्म और साहित्य कला तथा सभ्यता की भी स्थापना की थी। अपने साम्राज्य विस्तार की भावना उनके हृदय में कभी भी नहीं रही, किन्तु उनकी सभ्यता का साम्राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था।

निभिन्नत्व में एकता

यह तो हुई भारत के बाहर की बात। भारत की सीमा के भीतर यद्यपि वह जनपदों और विभिन्न राज्यों में विभक्त था; उसमे अनेकों भाषाएँ बोली जाती थीं; व उसकी जलवायु तथा भिन्न भिन्न प्रदेशों के रहन सहन में भी अन्तर था। साथ ही ऊँची पर्वत श्रेणी गहन विजन तथा गहरी नदियों से वह विभक्त था। इतना सब होते हुए भी प्राचीन काल से लेकर धर्म और साहित्य, सभ्यता और संस्कृति में इतनी एक सूत्रता से बँधा हुआ है जिसे देखकर आश्चर्य होता है।

एक सूत्रता के साधन

उसकी एक सूत्रता की स्थापना के लिये पांच बड़े बड़े साधन थे:—(१) विद्यार्थी (२) व्यापारी (३) विजेता (४) तीर्थ यात्री तथा (५) धर्म प्रचारक

(१) सारे देश में काशी और नालन्दा मथुरा और तक्षशिला, उज्जैन और प्रयाग तथा काँची और मदुरा और बाद में नवद्वीप में ऐसे विद्यालय स्थापित थे जिनमें शिक्षा ग्रहण करने के लिये देश के एक छोर काञ्ची या मदुरा में रहने वाला विद्यार्थी तक्षशिला तक की यात्रा करता था और तक्षशिला का विद्यार्थी नालन्दा और नवद्वीप तक जाता था। विद्या के इस आदान प्रदान के कारण सारे देश में एक राष्ट्र भाषा संस्कृत का प्रचार तथा एक संस्कृति की स्थापना सहज ही में हो जाती थी। राष्ट्रीय एक सूत्रता के लिये इससे बढ़कर और दूसरा साधन नहीं हो सकता था।

(२) देश में व्यापार का आदान प्रदान चलते रहने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापारियों का आना जाना लगा रहता था जिससे केवल वस्तुओं का विनिमय न होता था वरन् रीति, नीतियों और रहन-सहन के तरीकों का भी विनिमय होता था।

(३) योद्धाओं की विजय यात्रा भी देश की एकता स्थापन करने में बहुत सहायक होती थी। दिग्विजय का आदर्श वैदिक काल से लेकर प्रचलित था। इसके कारण मौर्य गुप्त आदि नृपतियों ने सारे देश में विजय यात्रा की और अपने साम्राज्यों को क्रमशः बढ़ाते चले गये! सम्राट अशोक ने अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त की विजय यात्रा को धर्म विजय में परिणत कर दिया और सारे देश में विजय स्तम्भों के स्थान पर अपने धर्म शास्त्रों से उत्कीर्ण शिला लेखों से परिपूर्ण कर दिया। इनसे सारे भारत में धार्मिक एकसूत्रता की स्थापना में बड़ा काम किया। अशोक का उदाहरण भारतीय इतिहास ही में नहीं किन्तु विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व धर्म-विजय का उदाहरण है। यही अशोक स्तम्भ हमारा राष्ट्रीय प्रतीक है।

(४) उक्त तीनों साधनों से सबसे बढ़कर प्रभावशाली साधन था तीर्थ यात्रा! भारतीय ऋषियों ने सारे देश के चारों कोनों में चार धर्मों की स्थापना पवित्र नदियों और प्राकृतिक स्थलों पर तीर्थों की रचना कर राष्ट्रीय एकता की जो कल्पना की वह उनकी दूरदर्शिता की परिचायक है। धर्म प्रेरणा से प्रेरित होकर तीर्थ यात्री वन पर्वतों को लाँघता हुआ सारे देश की यात्रा करता है और उस समय देश की एकता का अनुभव करता है। ये तीर्थ धर्म प्रचार के बड़े केन्द्र थे। जहाँ से जनता को प्रेरणा मिलती थी।

(५) उस समय के आचार्यों ने भी अपने मत के प्रचार के लिये सारे देश की लम्बी लम्बी यात्राएँ करके अपना संदेश देश के कोने कोने में पहुंचाया। इस दिशा में शंकराचार्य ने सबसे पहला कदम उठाया। उन्होंने देश के चार कोनों पर मठों की स्थापना कर धर्म प्रचार के महान केन्द्र स्थापित कर दिए। उनके अतिरिक्त रामानुज वल्लभ और बाद में चैतन्य ने उस मार्ग का अनुकरण कर देश को एकसूत्रता में बाँधा। भगवान् बुद्ध ने तो धर्म शासन का क्षेत्र भारतवर्ष ही तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने जो यह आदेश दिया था कि "चरथ भिक्खवे धम्मचरियँ, बहुजन सुखाय बहुजन हिताय!" इसका पालन कर बौद्ध भिक्षुओं ने तिब्बत और चीन को पार करके सारे एशिया में भारतीय संस्कृति का संदेश पहुँचाया। संस्कृत को छोड़कर लोक भाषा पाली में उपदेश देने का जो कार्य बुद्ध ने प्रारम्भ किया था वह महान् कार्य भारतीय सन्तों नानक और दादू ने आगे बढ़ा कर सारे देश की एकसूत्रता स्थापित करने में बड़ा भारी काम किया। इन सन्तों ही के उद्योग

से संस्कृत के स्थान पर हिन्दी देश की राष्ट्र भाषा बन गई जिसके कारण भिन्न भिन्न भाषा भाषियों में सभ्यता और संस्कृति की एकसूत्रता स्थापित रही।

इन सब साधनों के फलस्वरूप भारत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होने पर भी भाषा और रहन सहन का अन्तर होते हुए भी सारे भारत की विचार धारा तथा साहित्य पर संस्कृत की अमिट छाप लग गयी और उसके कारण भारत के धर्म और दर्शन, साहित्य और कला ही नहीं किन्तु सारे जीवन को एकसूत्रता में आबद्ध कर दिया। इस विशाल देश की आन्तरिक विचार धारा ही नहीं किन्तु बाहरी रीति नीतियां भिन्न भिन्न जातियों के रीति रिवाजों तथा बाहर से आई हुई जातियों की चाल ढाल में भी बहुत कुछ एकसूत्रता परिलक्षित होती है।

आज हमारी सभ्यता की भागीरथी ने स्वराज्य रूपी तीर्थराज की प्राप्ति कर ली है जिसमें देश की सभी धाराएँ सम्मिलित हो गई हैं किन्तु अभी उसे महा मानव के समुद्र संधान में आगे बढ़ना है। अभी उसे गुरुदेव के उस महान् आदर्श की पूर्ति करना है जो कि भारतीय संस्कृति का चरमलक्ष्य है और जिसकी ओर वह अपनी सम्पूर्ण साधना के साथ युग युगों से प्रवाहित होती आई है—वह सनातन आदर्श है विश्व मानव की एकता—

"हेथाय आर्य हेथा अनार्य हेथा द्राविड़ चीन।
शक हूण दल पाठान मोगल एक देहे होल वीन॥"

इसी में महा मानव के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये कवि गुरु ने आह्वान किया है—

"एष हे आर्य एष अनार्य हिन्दू मुसलमान।
एष एष हे तुमि इंग्रान एष एष कृष्टान॥
एष ब्राह्मण शुचि करियन धरोहाय सवाकार।
एष हे पतित होक अपनीत सब अपमान भार॥

एष एषत्वरा,
मंगल घट हय निजे भरा।
सबार स्पर्शे पवित्र करा तीर्थ नीरे।
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे॥"

ईश्वर करे भारतीय इतिहास की यह परम्परा अक्षुण्य रहे और अपने प्राचीन आदर्श—"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" की पूर्तिकर हिंसा और द्वेष से क्रान्त विश्व को नवीन मार्ग दर्शन करावे।

भारतीय चित्र-कला का आदर्श

श्री सुधीन्द्र वर्मा, एम० ए०, एल० एल० बी०

कला की उपासना में मानवहृदय को प्रवृत्त करने वाली तीन प्रकार की भावनाएँ हैं। प्रथम है, सुन्दर वस्तु का निर्माण करने की इच्छा। द्वितीय है सौंदर्यमय नश्वर जगत् की सुन्दरता का अनुकरण करके उसकी प्रतिकृति द्वारा उसे अमर कर देने, आत्मसात् करके चिरस्थायिनी बना देने की आकांक्षा और तृतीय भावना है इहलौकिक अथवा पारलौकिक हार्दिक आनन्दानुभूति को बाह्यजगत् की सहानुभूति के हेतु काल्पनिक मूर्तरूप में प्रकट करके अमर कर देने की अभिलाषा।

मानव हृदय की इन तीनों भावनाओं का कारण है उसकी अपनी अभिव्यक्ति। हम बाह्य सृष्टि को आत्मसात् करके उसे प्रतिपल अपनी मानस सृष्टि में परिवर्तित करते रहते हैं। बाह्य जगत् के रूप, रंग आकृतियाँ ध्वनियाँ, चेष्टायें और क्रिया कलाप हमारी हृदय वृत्तियों की रस-तरंग से आप्लावित होकर हमारे मानस जगत् की सृष्टि करती रहती हैं। वह मानव हृदय की अपनी रचना बन जाती है। जिस प्रकार आणविक जगत् में परस्पर विघटन, संघर्ष और मूर्तता की स्वाभाविक वृत्ति पाई जाती है, जिस प्रकार परब्रह्म परमात्मा में प्रकृति के इस दृश्य रूप की सृष्टि की स्वाभाविक वृत्ति कही जाती है उसी प्रकार ही मानव हृदय में भी अपनी इस मानस-सृष्टि की अभिव्यक्ति-भावना स्वाभाविक रूप से ही होती है। मानस-कल्पनाओं और भावनाओं का यह संसार मनुष्य की 'प्रतीति' 'प्रत्यय' और 'प्रतिज्ञा' का ही संसार है। दूर से धुंधला सा, सन्देहास्पद सा अनुभव 'प्रतीति' कहलाता है। वही जब भासमान सत्य का रूप धारण करके एक विश्वस्त आकार प्राप्त करने लगता है तो 'प्रत्यय' नाम से अभिहित होता है किन्तु जब जिज्ञासा खोजऔर आनन्दातिरेक से, उस अनुभवको मानव हृदय भलीभांति एक अमृत सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है तभी उसकी 'प्रतिज्ञा' अभिधा हो जाती है। मानव हृदय की सृष्टि की यह तीनों अवस्थायें ही विभिन्न मूर्त रूप धारण करके बाह्य जगत् में प्रकट होना चाहती हैं। मानस सृष्टि का यह मूर्त 'प्रतीक' ही कला है।

कला की अभिव्यक्ति के लिये सबसे उपयुक्त मानव-माध्यम वाणी है। सुपरिष्कृत वाणी जब अलंकार ध्वनि, तथा वृत्त के द्वारा मानस रसानुभूति को व्यक्त करती है तो मानस सृष्टि का वह रूप साहित्य कहलाता है। शब्द और अर्थ का वह अलौकिक संयोग अनादि काल से कला का प्रथम रूप रहा है। मानस-सृष्टि में जो अमृत सत्य ज्ञान-गिरा-गम्य है उसे ही वाणी भाषा द्वारा व्यक्त करके चिरकाल के लिए अमर कर देती है। वही मानव का सनातन साहित्य है। किन्तु मानस-सृष्टि की जिस अनुभूति का प्रतीक साहित्य के लिये अगोचर है जो भाषा द्वारा वर्णनातीत है, उसी भाषातीत की अभिव्यक्ति चित्र और संगीत के द्वारा की जाती है। इस प्रकार मानस-जगत की मूर्त अभिव्यक्ति—उसकी प्रतीति, प्रत्यय, और प्रतिज्ञा के तीन मूर्त प्रतीक, साहित्य संगीत और कला के नाम से अभिहित होते हैं। भाषा, ध्वनि तथा रूप ही उनके माध्यम हैं।
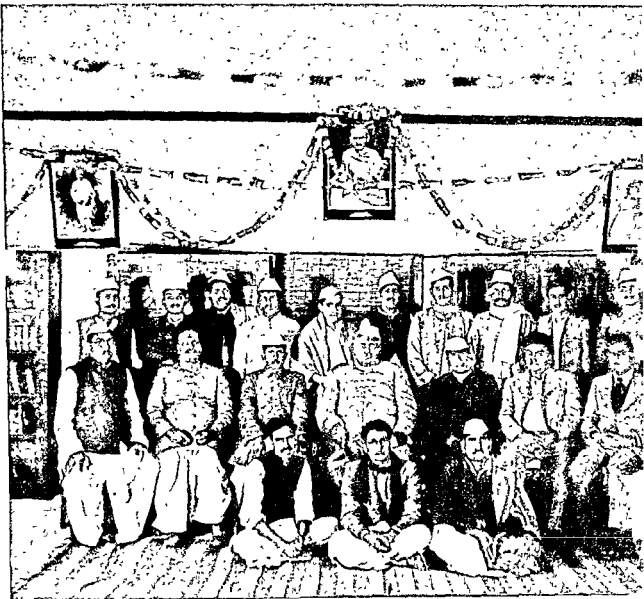
माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पंत, मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश, हिन्दी भवन के कार्यकर्त्ताओं के साथ

कोमल भुजलता—पाश, चुंबन का सहज-निमंत्रण देने वाले कपूर-गौर सुन्दर कपोल, कदली स्तंभों को चुनौती देने वाली, कोमल, चिकनी, गौर, मांसल जंघाएं, स्मर-संदेशहारिणी, नाभिगह्वर-वर्तिनी रोमराजि, मदनमंदिर-मयी कामुकजन मनमोहिनी, रूपसुधा, सभी कुछ तो खुले-आम, बेखटके, बेखबर राजकुमार सिद्धार्थ को दुनिया के मज़े लूटने के लिये दावत सी दे रहे थे।

हज़ारों नौजवान इस ज्योनार पर लार टपकाने के लिये लालायित हो उठते, लेकिन सिद्धार्थ ने उसे मय की, विराग को और तटस्थता की दृष्टि से देखा और उस ओर देख कर भी वह पद्म-पत्र के समान निर्विकार निर्लिप रहकर सकुशल बाहर निकल गये। उन रूप के गड़हों में डुबकी लेना उन्होंने ऐसा ही समझा जैसे सूखे हुये संसार-ताल की बची खुची गड़ैयों की कीच में स्नान करना, जिससे निर्मल होने के स्थान में मनुष्य और भी गंदा हो जाता है।

हमारा उपर्युक्त शब्द-चित्र पढ़कर कलाकार के हृदय में सिद्धार्थ की इस वैराग्य-भावना के प्रति जो आदर उत्पन्न होगा, और उस आदर को अनुभूति को यदि वह लोकोत्तर आनन्ददायक और अमर-सत्य समझ कर मानवजाति के कल्याण हेतु चिरन्तन करना चाहे तो उसके लिये इस अनुभूति को काल्पनिक मूर्तरूप देने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। अनुभूति के इस काल्पनिक प्रतीक को प्रतिष्ठा के इस लाक्षणिक रूप को कलाकार की 'अभिव्यक्ति' कहते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि मानवहृदय की उपर्युक्त तीनों भावनायें क्रमशः केवल 'कृति' 'प्रतिकृति' अथवा 'अभिव्यक्ति' मय चित्रों के ही उत्पादन में सहायक हों। एक ही चित्र मे तीनों भावनाओं की प्रेरणा व्यक्त हो सकती है और यह भी संभव है कि केवल एक ही भावना से प्रेरित होकर कोई चित्र बनाया जाय। किन्तु यह भी निर्विवाद है कि इन तीनों भावनाओं में से किसी एक भावना का प्राधान्य ही चित्र का जातिभेद—अर्थात् वह कलाकार की अपनी 'कृति' है अथवा 'प्रतिकृति' या उसके भावों की 'अभिव्यक्ति'—निर्णीत करता है। यदि चित्र का उद्देश्य काल्पनिक रेखाओं, वर्ण-विन्यास, राग सौष्ठव, आदि द्वारा एक ऐसी सौंदर्यमयी मूर्त सृष्टि की रचना करना है जिसे देख कर कलाकार की ऊहा, कल्पना-शक्ति तथा मौलिकता प्रकट हो तो वह उसकी अपनी सृष्टि होने के कारण उसकी 'कृति' कहलाएगी। यह कला का 'सुन्दरम्' नामक उद्देश्य है। मानव की 'प्रतीति' उसकी पृष्ठभूमि है। किन्तु यदि चित्र का उद्देश्य भासमान सत्यवस्तु, दृश्य या व्यक्ति की नकल—भर है तो ऐसी अस्तित्व की प्रतिच्छवि को 'प्रतिकृति' कहना होगा क्योंकि वह कलाकार की अपनी सृष्टि नहीं है अपितु उस दृश्य, वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति कलाकार के 'प्रत्यय' की छवि है जिस प्रत्यय को तद्विषयक अपनी सत्य-भावना को स्थायी करने के उद्देश्य से उसने प्रतिकृत किया है। तात्कालिक भासमान 'सत्य' ही उसका उद्देश्य होता है। 'सुन्दर' और 'सत्य' अर्थात् केवल आँख को अच्छी लगने वाली तथा आँख और मन को अच्छी लगने वाली चित्र रचनाओं के अतिरिक्त, इन्द्रियातीत मानस-दृष्टि-गम्य केवल हृदय द्वारा बोध्य जो चिरन्तन अमरसत्य, अनन्त कल्याण के लिये कलाकार की रेखाओं में आविर्भूत होना चाहता है वही उसकी 'अभिव्यक्ति' कहलाता है। परम सौंदर्य, परम सत्य और परम मंगल की पराकाष्ठा—'शिवम्' ही उसका उद्देश्य होता है।

सौन्दर्य, सत्य और शिव का यह चरम-सीम सामंजस्य ही कला की पराकाष्ठा कहलाती है। वास्तव में जो सुन्दर है वह हमारे मानस संसार के लिये सत्य भी है और जो सुन्दर और सत्य है उसका मंगलमय होना भी आवश्यक ही है। पूर्ण-विकसित सौन्दर्य अप्रगल्भ हो जाता है और तभी वह मंगलमय होता है। सत्य का

चरम-विकास भी मंगलमय होता है। दोनों की यह परिणति ही परमसत्य–अमृत–शिव होती है। सुन्दर और शिव की इस एकरसता का जो अनुभव कर चुके हैं उन्हें सुन्दरता का भोग-विलास के साथ सामञ्जस्य कभी नहीं रुचता। उद्दाम यौवन की सुन्दरता—इन्द्रिय गम्य विलास के कारण ही क्षण–मोहक होकर हमारे लिये आकर्षक हो सकती है किन्तु उसकी कोई चिरन्तन मांगलिक सत्ता नहीं है। किन्तु इसी यौवन के सौन्दर्य का पूर्ण-विकास—गौरवमय मातृत्व—अपने मंगलमय आकर्षण, चिर–स्थायित्व तथा गौरव के कारण संसार के लिये पूजनीय हो उठता है। अनादिकाल से ही महान् कलाकारों ने सौन्दर्य और चिर-सत्य की पराकाष्ठा उनकी इस परम–विकासमय परिणति को ही कला का चरम उद्देश्य समझा हैं। इसी लिये तो हमारी इस पवित्र मातृभूमि भारतवर्ष में—श्रवण बेलगोला, मानसेहरा, भुवनेश्वर, कोनारक, खजुराहो, गिरनार, अजन्ता, बाग, कान्देरी, हस्तिगुहा, सोमनाथ की सृष्टि उन्होंने की है। दुर्गम पर्वतों, सघन वन प्रान्तरों, निर्जन समुद्र-वेलाओं और दुरूह गिरिगुहाओं में सौन्दर्य की इन अद्भुत कृतियों द्वारा उन्होंने अपने से महान् मंगलमय भगवान् के प्रति अपनी विस्मयपूर्ण भक्ति प्रकट की है। मानों मानवरचित सौन्दर्य ने अपने चरम विकास द्वारा महामहिमामय की सुन्दर और मंगलमयी कलाकृति–प्राकृतिक सौन्दर्य को–दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया हो। भोग-विलास के कक्षों का निर्माण करके हमारे कलाकार ने अपने को कहीं भी कदर्थित नहीं किया है और न हमारी हिन्दू जाति ने ही उनकी कभी कोई परवाह की। चन्द्रगुप्त मौर्य के विलास-गृहों का आज चिन्हमात्र भी कठिनता से मिलता है किन्तु उसकी कठोर तपस्या का स्मृति चिन्ह श्रवण–बेलगोला की विशाल मूर्ति आज भी खड़ी हुई हमारी जाति की इस मंगलमय सौन्दर्योपासना की घोषणा कर रही है।

उड़ीसा के विस्तृत निर्जन सागर-तट पर खड़ा हुआ कोनारक का उदीयमान सूर्य का सुन्दर मन्दिर खजुराहो की विशाल मूर्तियाँ, हस्तिगुहा और अजन्ता की गिरि कंदरायें—सब यही प्रमाणित करती हैं कि हमारी जाति ने सत्य को, सुन्दर को, जहाँ मंगलमय, आनंदमय, अमृतमय रूप में प्राप्त किया वहाँ ही हमारे कलाकार ने अपना एक भक्तिचिन्ह कला की एक महती-रचना के रूप में छोड़ दिया और हिन्दू-जाति ने उन निर्जन स्थानों में भी आज तक उनकी रक्षा की। वास्तव में भारतीय कला के चरम आदर्श का इससे अच्छा प्रतीक और कोई हो भी नहीं सकता था। चित्रकला ने भी इस राष्ट्रीय–स्वभाव की रक्षा की है। भारतीय कलाकार ने अपनी धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक अनुभूति पूर्ण, हार्दिक अनुभवों को 'स्वान्तः सुखाय' तथा निःश्रेयस सिध्यर्थ भी चित्रित करके लोकहित कामना से प्रेरित हो कर प्रकट किया है। ऐसे हृदयाभि–व्यक्तियमय चित्र ही हमारी कला के 'शिवम्' नामक उद्देश्य के उदाहरण हैं। अपनी अनुभूति को मूर्त प्रतीक द्वारा प्रकट करके चित्रकार अथवा कलाकार संसार की सहानुभूति तथा सहयोगिता प्राप्त करके लोक कल्याण के लिये शिव, मंगल, और ध्रुव सौन्दर्य का चित्रण करता है। यही शिवम् की अभिव्यक्ति है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय, तो समस्त संसार की कला–कृति इन तीन, "सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्, नामक उद्देश्यों के अन्तर्गत ही आ जाती है। भारतीय जीवन के, ज्ञान, कर्म, उपासना नामक तीन साधनों के साथ भी कला के इन तीनों उद्देश्यों का गाढ़ सम्बन्ध प्रतीत होता है। जब केवल ज्ञान का प्राधान्य होता है तो, "सुन्दरम्" की सृष्टि ही प्रधान होती है, कर्म काण्ड की प्रधानता, "सत्य" की पुष्टि करती है। और उपासना के युग में "शिवम्" की अभिव्यक्ति जोर पकड़ती है। आज भी जिन जातियों की संस्कृति में जिज्ञासा का प्राधान्य है, उनमें सौन्दर्योपासना का प्राधान्य है। चीन जापान में 'कृति' अथवा सौन्दर्य प्रधान कला का बोल बाला है। चीनी लोगों में सौन्दर्य–सृष्टि की जो भावना मौजूद है, वह उनकी बनाई हुई कागज की सौन्दर्य–मय काल्पनिक बेलों, झाड़ फानूसों, चटाइयों तथा चित्रों में प्रकट होती है। जापानियों की यह सुन्दर

इसीलिये तो अनेक उत्तमोत्तम साहित्य रचनाओं, सुन्दर स्वर लहरियों, उदात्त चित्रों तथा महान् कृतियों को जन्म देने वाले हजारों लाखों भारतीय कवियों, गायकों, चित्रकारों तथा कर्मवीरों का पता निशान भी आज हमें ज्ञात नहीं। काल के अनन्त प्रभाव में बहने वाली भारतीय विचारधारा की उत्ताल तरंगों में एक और उदात्त तरंग उत्पन्न करके वह कर्मठवीर चले गये। अपना नाम अमर कर जाने की उन्होंने चिन्ता नहीं की। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', किन्तु 'मा फलेषु कदाचन' के निष्काम धर्म का भारतीय आदर्श उनके सामने था अतएव उन्होंने अपना नाम कायम करने की फिक्र नहीं की। भारतीय चित्रकला की यही सबसे बड़ी खूबी है। यही उसके सार्वजनीन तथा व्यापक रूप की द्योतक है। भारतीय कलाकार ने कभी अपने व्यक्तित्व को प्रधानता नहीं दी। आध्यात्मिक अनुभूति को चित्र द्वारा व्यक्त करते हुये उसने अपने आपको भी 'ऋत' को व्यक्त करने वाला एक उपकरणमात्र समझा—परमात्मा की विभूति को जनता तक पहुँचा देने का यन्त्र मात्र—और कुछ नहीं। यही कारण है कि उसने अपने चित्रों पर अपने नाम की मुहर नहीं लगाई—मुहर लगाने से 'ऋत' मानों परिमित होकर उसी एक व्यक्ति की वैयक्तिक अनुभूति मात्र रह जाता। उसका सार्वजनीन रूप लुप्त हो जाता और वह 'ऋत' न रहकर लौकिक सत्य भर रह जाता। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट ही है कि 'ऋत' किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं। वह विश्व भर की वस्तु है। अतएव ऋत विषयक अनुसन्धान और विवेचन भी सार्वजनीन ही होना चाहिये। युग परम्परागत, अनुभव-गम्य, आध्यात्मिक सत्य, अन्वेषक-शृङ्खला की किसी एक कड़ी की की व्यक्तिगत खोज नहीं कहा जा सकता। इसी सिद्धान्त को भारतीय कलाकारों ने सदा अपने सामने रखकर उत्कृष्ट रचनायें की, और उन्हें विश्व के अमर निधि की सम्पत्ति बना दिया। इसीलिये तो भारतीय कला अनामिक है। उसका चित्र शिल्पी भारतीय हृदय है, और उसका विषय है भारतीय हृदय की युग व्यापिनी अनुभूति। व्यक्तियों, समष्टियों, आकृतियों, चित्रकारों तथा ऐहिक संसार के बन्धनों की मर्यादा से रहित एक रस प्रवाहित होने वाली व एक निर्बाध विचारधारा है। सदियों से ही ऐसी चली आ रही है। उसकी यह विशेषता ही उसकी जान है। इसके बिना वह निर्जीव प्रतीत होती है।

भारतीय चित्रकला की अनामिकता का एक दूसरा पहलू भी विचारणीय है। वह है भारतीय विचारधारा में अहंकार की हेयता! भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार विश्व का यह व्यापक रूप 'अहंकार' का ही विस्तार है। 'अहंकार' की उत्पत्ति पर्याय क्रमानुसार परमात्मा और प्रकृति के संयोग से ही बतलाई गई है। 'अहंकार' संग-दोष-जन्य कहा गया है। अतएव जब मोक्ष प्राप्ति के साधनों के विवेचनार्थ विश्व सृष्टि का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है, तो इस दृश्य संसार के कारण भूत अहंकार पर ही जीव को इस इन्द्र जाल में फँसाने का अपराध लगाया जाता है। दूसरे शब्दों में अहंकार ही 'जीव' के इस माया रूप संसार में आने और जाने—बंध और मोक्ष का कारण कहा जाता है। इसीलिये इस अहंकार का अत्यन्ताभाव करना ही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी बतलाया गया है। व्यक्तित्व और अव्यक्त अक्षर, परब्रह्म की साधना एक साथ नहीं चल सकती। परमानन्द, ऋत, शिव की आराधना के लिये मनुष्य को "आपा" खो देना पड़ता है। इसीलिये भारतीय विचारधारा में व्यक्तित्व को स्थान नहीं मिला। भारतीय आदर्श की रक्षा के लिये व्यक्तित्व का बलिदान आवश्यक समझा गया है। यही कारण है, भारत की आदर्श कला भी व्यक्तित्व की छाप से रहित है। अहंकार से दूर और परिणामतः अनामिक है। 'शिवम्' के आदर्श के लिये ऐसा होना अनिवार्य भी है। बौद्धकाल के कलाकारों ने इस आदर्श की रक्षा की। इसलिये हम अजन्ता के चित्रकारों का नाम नहीं जानते। सिगिरि सित्तान वासल; जोगीमारा, बाघ तथा दक्षिण भारत के अन्य स्थानों के चित्रों में भी इसी आदर्श का प्रतिपालन हुआ है। इन प्रसिद्ध लोकोत्तर कला वस्तुओं के रचयिता अज्ञात हैं। इन अलौकिक चित्रों के चित्रकार

का नाम पूछते ही वही पुराना युग परम्परागत नाम "भारतीय हृदय" हमें बतलाया जाता है। भारतीय संस्कृति के अमरत्व को प्रदर्शित करने वाली कैसी सुन्दर कितनी महत्वपूर्ण यह बात है! नाम के पीछे मरने वाले पाश्चात्य कलाकारों और हमारे देश के कला शिल्पियों के आदर्श में कितना अन्तर है!

किन्तु यह कहना कि भारतीय कला में शिवम् को उद्दिष्ट करके अभिव्यक्तिमय चित्रों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के चित्रों अथवा कला वस्तु की सृष्टि ही नहीं हुई, अतिशयोक्ति पूर्ण होगा। मानव जाति के इतिहास में एक रस प्रवाहित होने वाली संस्कृति-धारायें कहीं भी नहीं पाई जातीं। जातियों का पारस्परिक संघर्ष राष्ट्रों की राजनीतिक उथल पुथल तत्कालीन संस्कृति को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। इसी कारण भारतीय चित्रकला में भी समयानुकूल परिवर्तन हुए हैं। मुगलों के ऐश्वर्य प्रधान, विलासमय, ऐहिक-सेवी राजत्वकाल में 'प्रतिकृति' चित्रों की यहाँ भी भरमार रही, और कला को ईश्वर परक अथवा धर्म परक न रहकर कुछ दिनों तक राज परक बन जाना पड़ा। किन्तु तो भी उसका उपासना परक रूप लुप्त नहीं हुआ 'कांगड़ा'–कलम ने विशेषत: और राजपूत कलम ने साधारणत: भारतीय कला की उस प्रधानता को जीवित रक्खा, और मुगलों–मुसलमानों की आपाधापी के हटते ही फिर से भारतीय संस्कृति की प्राण 'अभिव्यक्ति' ने अपना निर्दिष्ट आसन ग्रहण किया।

ब्रिटेन के चरणारविन्द–कृपा–कटाक्ष-वशवर्ती चित्रकारों की आंग्लभक्ति ने इधर हाल में भारतीय कला की "अभिव्यक्ति" को बहुत कुछ नष्ट करने का प्रयत्न किया है। इंगलिश ढंग के रंगों, वाश कलर्स, इंगलिश सीनरी पेंटिंग के आदर्शों तथा इंगलिश और मुगल पोर्ट्रेट अथवा मिनीऐचर पेंटिंग की शिक्षा ने जो आजकल के आर्ट स्कूलों में पाठ्यक्रम का मुख्य विषय रक्खी गई है, इस देश के युवक चित्रकारों मे ऐहिक विषयों के अनुभूतिहीन 'केवल सुन्दर' अथवा 'केवल सत्य' चित्रों के प्रति आदर की एक ऐसी प्रबल भावना जाग्रत कर दी है कि वे अब भारतीय हृदय की ऊँची उड़ान 'शिवम्' की कल्पना भी नहीं कर सकते। इधर उसकी प्रति–क्रिया स्वरूप बंगाल में 'अभिव्यक्ति' ने एकदम ऐहिक संसार का परित्याग करके केवल काल्पनिक छाया मूर्तियों द्वारा भारतीय कला की अनुभूति की अभिव्यक्ति की है। भाव प्रवण बंग चित्रकारों ने भावातिशय के वशीभूत होकर भारतीय आदर्श को एकदम छायालोक अथवा प्रेतलोक की वस्तु बना दिया है। मानव आकृति के वास्तविक रूप की रक्षा करते हुए यदि वे उसमें भावाभिव्यक्ति प्रतिष्ठित कर सकते जैसा कि अजन्ता के कन्दर चित्रों में पाया जाता है तो वास्तव में आज की बंगाली 'कलम' भारतीय चित्रकला के मान्य आदर्शों की प्रतीक कही जाती। *

---

* श्री सुधीन्द्र वर्मा जी के लेख का वह अंश जिसमें उन्होंने 'बंगाली आर्ट' की आलोचना की है, हमने आचार्य श्री नन्दलाल बसु की सेवा में भेजा था। उस पर उन्होंने जो सम्मति भेजी है उसे हम यहां उद्धृत करते हैं। चूँकि इस प्रकार की अनधिकारयुक्त आलोचनाएँ हिन्दी पत्रों में प्राय: प्रकाशित होती रहती हैं, इसलिए हमने आचार्य जी की सम्मति मँगाना आवश्यक समझा। इस ग्रन्थ में विवाद के लिये तो कोई स्थान है ही नहीं—सं०

आचार्य श्री नन्दलाल बसु की सम्मति

लेखक महोदय ने भारतीय आधुनिक आर्ट पर अनुचित आक्रमण किया है तथा आधुनिक कलाकारों के प्रति अनुचित व्यवहार भी। आधुनिक भारतीय कला (जिसे लेखक ने बंगाली कला कहना पसन्द किया है!) श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके शिष्य प्रशिष्यों की कृति है। वह भारत और एशिया के

अनुभूति का ठीक ठीक भाव चित्रण अथवा उसकी अभिव्यक्ति आसान काम नहीं है, विरले ही उसे चित्रित कर पाते हैं। भावभंगी प्रदर्शित करने का एकमात्र उपाय विकृतरेखा वाला नरकंकाल कभी नहीं बन सकता। पांव के स्थान में लौकी, आँख की जगह पद्म पांखुरी, उँगलियों के बजाय भिंडी, सिर के बदले एक कुम्हड़ा तथा ऐसी ही प्रेतकल्पनामयी वैताल मूर्तियों द्वारा भारतीय आदर्श की रक्षा नहीं हो सकती। शुल्व-सूत्र, नाट्यशास्त्र, वेदाँत, काव्य तथा मानव और प्राणि जगत का प्रगाढ़ अध्ययन करने के बाद ही भारतीय आदर्श के अनुकूल चित्र बनाये जा सकते हैं। बंगाली-कलम के अनुयायियों को इस ओर तुरन्त ध्यान देकर अपने देश की इस सुन्दर कलाकृति के अनुरूप ही अपनी कूची को शिक्षित बनाना होगा तभी वे कला को भारतीय आदर्श से अनुप्राणित कर सकेंगे अन्यथा उनकी कृति 'वेजिटेबल' शैलीका उदाहरणमात्र रह जायगी।

ट्रेडिशनल (परम्परा प्राप्त) चित्रकला द्वारा प्रभावित है—उस पर अजन्ता, पारसीक (ईरानी), मुग़ल, राजपूत, जापानी, चीनी आदि प्राच्यदेशीय चित्रकला का प्रभाव पड़ा है। और एक श्रेणी के कलाकार भी (जिन्हें आधुनिक भारतीय कलाकारों की श्रेणी में ग्रहण किया जा सकता है) इस देश में हुए हैं। वे विलायती मध्ययुगीय और आधुनिक चित्रकला के प्रभाव में रहे हैं। इनको भी भारतीय शिल्पी ही कहा जायगा, क्योंकि ये लोग भी भारतीय चित्र शिल्प के गौरव के समर्थक हैं। राजपूत और कांगड़ा स्कूल की समाप्ति के बाद भारतीय चित्रकला का पुनरुत्थान अवनी बाबू के चित्रों से ही हुआ है। आधुनिक युग का यह शिल्प प्रयास प्रायः आधी शताब्दी से आरम्भ हुआ है। इस बीच अनेक चित्र शिल्पकारों ने अनेक चित्रों की रचना की है, जो सचमुच ही शिल्प-जगत् में आदर पाने के अधिकारी हैं।

भारतीय शिल्प का यह पुनरुत्थान बंगाल से शुरू होकर समूचे भारतवर्ष में फैल गया है। भारत के सभी प्रान्तों के शिल्पी अपने अपने प्रयोग कर रहे हैं।

चित्र शिल्प में विशेषता लाने के लिये बहुत समय तथा विभिन्न देशों के शिल्पों की जानकारी आवश्यक है। कम से कम सौ वर्ष तो लग ही जाना चाहिये। निस्संदेह शिल्पकारों को अनुकूल वातावरण मिलना सबसे अधिक आवश्यक बात है।

लेखक महाशय इस नवयुग के भारतीय कलाकारों के विषय में बेकार ही इतने 'नर्वस' हो गए हैं। उनका यह डरपोक और असहाय भाव दूर हो, यह मेरी हार्दिक आकांक्षा है। इसके लिये मैं थोड़ी सहायता करने को तैयार हूं।

१—लेखक महोदय से मेरा अनुरोध है कि वे अवनी बाबू तथा अन्य बंगाली कलाकारों के मूल चित्रों को सावधानी से देखें। इन चित्रों के निदर्शन उन्हें कलकत्ते के और अन्यान्य स्थानों के भारतीय म्यूज़ियमों में, आर्ट गैलरियों में, रवीन्द्र भारती आर्ट गैलरी कलकत्ता (पी० एन० ठाकुर पाथुरिया घाटा) में और भिन्न भिन्न नगरों के कला प्रेमी सज्जनों की चित्रशालाओं में मिलेंगे।

२—जो भारतीय शिल्पी अभी भी जीवित हैं और दीर्घकाल से शिल्प साधना में लगे हैं, उनसे बातचीत करें।

३—पुराने भारतीय चित्रों और मूर्तियों को मूल रूप में अपनी आंखों देखें—फोटो देखने से काम नहीं चलेगा।

४—प्रसिद्ध कला समीक्षकों, मनीषियों और एशियाई शिल्प-विशेषज्ञों की पुस्तकों को पढ़ें। कुछ मनीषियों के नाम सुझा रहा हूं:—

मा० लालबहादुर शास्त्री, पुलिस मंत्री, उत्तरप्रदेश, हिन्दी भवन के कार्य कर्ताओं के साथ

आह्वान

ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम अन्धकार में किरणों के उभार,
ओ जो तुम बूढ़ी नसों में नए खून की रफ़्तार,
ओ जो तुम जग में अमरता के सबूत फिर एक बार,
ओ जो तुम सौ विध्वंसों पर एक व्यंग की मुसकान,

तुम्हारे ही लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान !
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम सुन सकते हो अज्ञात की पुकार,
ओ जो तुम सुन सकते हो आने वाली सदियों की झंकार,
ओ जो तुम नए जीवन, नए संसार के स्वागत कार,
ओ जो तुम सपना देखते हो बनाने का एक नया इंसान,

तुम्हारे लिए ही तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान !
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम हो जाते हो ख़ूबसूरती पर निसार,
ओ जो तुम अपने सीने में लेके चलते हो अंगार,
ओ जो तुम अपने दर्द को बना देते हो गीतों की गुंजार,
ओ जो तुम जुदा दिलों को मिला देते हो छेड़ कर एक तान,

तुम्हारे लिए ही तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान !
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

ओ जो तुम बाँध के चलते हो हिम्मत का हथियार,
ओ जो तुम करते हो मुसीबतों व मुश्किलों का शिकार,
ओ जो तुम मौत के साथ करते हो खिलवार,
ओ जो तुम अपने अट्टहास से डरा देते हो मरघटों का सुनसान,

भर देते हो मुर्दों में जान,
ओ जो तुम उठाते हो नारा—उत्थान, पुनरुत्थान, अभ्युत्थान !

तुम्हारे लिए तो उठता है मेरा क़लम,
खुलती है मेरी ज़बान !
ओ जो तुम ताज़े,
ओ जो तुम जवान !

—श्री 'बच्चन'

भाग ३

साहित्य

'पत्रकार कला का प्रवेश द्वार'

श्री सन्त निहाल सिंह

(१)

जिस स्थान पर बैठ कर मैं यह लेख लिख रहा हूं, उसके ठीक सामने काली भूरी पहाड़ी खड़ी है। वह कहीं भी ५००० हज़ार फीट से नीची नहीं है, और एक स्थान पर लगभग ७००० फीट की ऊँचाई तक पहुँच गई है, यह पहाड़ी उस पार्वतीय प्रदेश का बाहरी भाग है जिसे हमारे पूर्वज उत्तराखण्ड कहते थे।

इस भूरी काली वस्तु की हर प्रकार की आभा वाली हरियाली के भीतर से झाँक कर, कुछ घन्टे पूर्व जब मैंने देखना चाहा तो आकाश घिरता जा रहा था, मेघों की घनता बढ़ती जा रही थी। आकार रहित, अस्त व्यस्त फैले बादल, जैसे इधर उधर झाड़ियाँ बिखरीं पड़ी हों, उमड़ उमड़ कर जगत में अन्धकार तथा उदासी फैला रहे थे।

दूसरी बार लगभग एक दो घन्टे के बाद, जब मैंने अपने विचारों का चित्रण करने वाले काग़ज़ पर से दृष्टि उठा कर पुनः उसी दिशा में नेत्र दौड़ाये, वह ऊँची महान् तथा शक्तिशाली पर्वतमाला अपनी सत्ता से ही तिरोहित प्रतीत हुई। ऐसा लगा मानो जिस स्थान पर मैं बैठा हूं, उसके सामने किसी अज्ञात, अदृश्य क्षितिज से, एक महान् लोहे का पर्दा डाल दिया गया है।

मैं भीतर चला गया। कुछ देर वहाँ व्यस्त रहा, जब मैं अपने कमरे में फिर वापस आया और अपनी अध्ययनशाला की सामने वाली खिड़की पर खड़ा हो गया, मैंने देखा कि धूमिल वातावरण समाप्त हो चुका है, जो दूरी नेत्रों से ओझल हो गई थी, वह मानो जादू से फिर प्रकट हो गई है। ऊबड़ खाबड़ पर्वत माला फिर नेत्रों के सामने आ गयी। उसके विस्तार में कोई परिवर्तन नहीं था। केवल, वह जैसे नई सजावट करके आ गयी थी। उसके कंधों पर एक सफेद बुकनी छिड़क दी गयी थी, जो जम गयी थी। इसने दृश्य को और भी मनोरम बना दिया था।

(२)

समय इसी प्रकार पर्दे के पीछे से काम करता है। जिस पदार्थ से वह अपना ताना बाना बुनता है, उसमें कुछ जादू सा गुण होता है। अधिकांश नेत्रों को वह दिखाई नहीं पड़ता, अधिकांश हाथ इसे छूकर कुछ नहीं समझ सकते—या छू भी नहीं सकते।

कुछ इसी प्रकार की चीज़ आज के लगभग आधी शताब्दि पूर्व हो रही होगी, जब मैंने अमेरिकन पत्रकार-जगत में प्रवेश किया। अन्यथा मैं तथा मेरे साथियों ने यह देख लिया होता कि अमेरिकन समाचार पत्रों का एक युग समाप्त हो रहा है और दूसरा युग प्रारम्भ हो रहा है। वास्तव में, इस नये युग का उदय हो गया था।

एक नए महापथ का मानचित्र बन रहा था। उसकी रचना, संगठन, चित्रण हो रहा था। उसके ऊपर नवयुवक तथा नवयुवतियां बड़ी त्वरित गति से दौड़ कर पत्रकारिता के हृदय तक पहुंच सकते थे—और वहां पहुंच कर स्थायी रूप से बने रहने तथा सफलता प्राप्त करने की निश्चयात्मक आशा कर सकते थे।

मैं उस समय बीस साल से कुछ ही ऊपर था। मेरे नेत्रों का यौवन काल था। सम्भ्रान्त व्यक्तियों की सम्मति में, मेरी दृष्टि में तीक्ष्णता थी, तथा गवेषणात्मक प्रतिभा थी। किन्तु, मुझे यह स्वीकार करते लज्जा आती है कि उस समय मुझे उपर्लिखित महापथ का पता न चला। मुझे शायद ही यह आभास मिला हो कि ऐसे महापथ की रचना हो रही है। मुझे अभी तक स्मरण है कि मै पत्रकारिता के पथ को विषम तथा अविश्वसनीय समझता था। घटनाओं के आकस्मिक सामंजस्य के कारण, मेरे कार्य-क्षेत्र की परिधि में, बड़े बड़े सम्पादकों तथा संवाददाताओं का संयोग हुआ। इनमें कुछ ऐसे नामधारी सज्जन थे, जो चारों ओर विख्यात थे।

मुझे तो याद नहीं आता कि इनमें से किसी एक भी दृष्टि ने उस पर्दे के पीछे देखा हो, जहां नये पथ की रचना हो रही थी। यह हो सकता है कि जिस मार्ग पर चलकर उन्होंने पत्रकार-जगत में ख्याति प्राप्त की थी, उससे वह संतुष्ट न रहे हों। मुझे संदेह है कि वे किसी अन्य मार्ग को सम्भव भी समझते थे, या उस पर अपनी सन्तानों के चलाने का भरोसा कर सकते थे।

(३)

पत्रकारिता के पुराने मार्ग पर चलने वालों में मेरी पत्नी के बहनोई भी थे, हम उन्हें "पाइका" कहते थे, यह नाम इसलिए रखा गया था कि स्वेडेन में पले, फूले तथा स्वेडिश माता पिता की इस संतान ने शायद अपने देश के बराबर ही छापे के टाइपों का प्रयोग आरम्भ किया था। भाग्य ने उन्हें उत्तरीय केन्द्रीय अमेरिका (संयुक्त राज्य) के एक देहात में पटक दिया था। वहीं पर इनका अपना छापाखाना था।

दूसरों के हाथ का लिखा मैटर कम्पोज़ करते करते वे स्वयं संवाद बना कर कम्पोज़ करने लगे। केवल एक दो वाक्य ही बना पाते। प्रायः वे इन वाक्यों को बिना काग़ज़ पर लिखे ही कम्पोज़ कर लेते।

इनमें कोई गम्भीर विचार की बात नहीं होती। इनमें दूर दराज़ का भी स्थायी साहित्य नहीं होता। बस वे केवल रिक्त स्थान की, अनायास ही, पूर्ति मात्र कर देते। इन वाक्यों में केवल वांछित सूचना होती, चाहे वह सूचना आवश्यक न भी हो। और सूचना भी कैसी! देहात के लोगों के आने और जाने के सम्बन्ध में।

अमेरिकन रेलवे स्टेशन को 'डीपो' कहते हैं। हमारे सम्बन्धी ट्रेन के समय डीपो चले जाते। गाँव के हर एकलोग उनको जानते थे, वे उनसे परिचित थे। उनकी दृष्टि एक स्त्री पर पड़ती जो गाड़ी में बैठने जा ही रही है। आइये, हम उसे श्रीमती निस्वत कहें। वे उससे पूछते, या प्रायः बिना उनके पूछे ही वह उन्मुक्त अमेरिकन रीति के कारण, स्वयं ही उनको बतला देती कि कहां जा रही है, किसके पास ठहरेगी, कितने दिन ठहरेगी, किसलिये जा रही है, इत्यादि।

बस उसके मित्र, सम्बन्धी, पड़ोसी, शत्रु-सभी इस समाचार को "पाइका" के साप्ताहिक के आगामी संस्करण में पढ़ लेते। उनकी ज़बान चलने लगती। इस यात्रा पर वे भली, बुरी, उदार, नीच, हर प्रकार की आलोचना करते। असली बात यह थी कि ऐसी स्थानीय तथा निर्जन बातें अथवा संवाद में उनको दिलचस्पी थी।

बहुत दिनों की बात हो गयी। सन् १९०७ के बसन्त में मेरी "पाइका" की पहली भेंट हुई। उस समय वे एक देहाती समाचार पत्र के पूरे सम्पादक जी तथा मालिक थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग अपनी स्पष्ट-वादिता के लिए प्रसिद्ध हैं। उसी स्पष्टवादिता से उन्होंने मुझ से कह दिया कि वे बहुत ही कम पढ़े लिखे व्यक्ति हैं। प्रारम्भिक पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर वे माध्यमिक शिक्षा तक भी नहीं पा सके थे। कालेज की पढ़ाई की बात ही क्या है। किताबों के पढ़ने का भी उन्हें शौक नहीं है। उनके साप्ताहिक पत्र के परिवर्तन में जो समाचार पत्र आते थे, उनको भी शायद ही सरसरी निगाह से देख लेते थे।

किसी ने उन्हें समाचार पत्र के लिए लिखना नहीं सिखाया था। समाचार पत्र निकालने की कला के रहस्य में किसी ने उन्हें दीक्षा नहीं दी थी।

अपने चारों ओर की चीजों को देखने की प्रतिभा तथा देखी समझी वस्तु का वर्णन करने की योग्यता-यही उनकी शक्ति थी। उनमें इन दोनों शक्तियों का पर्याप्त रूपेण विकास हुआ था।

पहले, वे बहुत छोटे छोटे संवाद लिखते थे। ज्यों ज्यों उनमें आत्म-विश्वास बढ़ता गया, वे लम्बे संवाद लिखने लगे। स्वागत समारोहों का वर्णन, मेला, तमाशा, नुमायश, विवाह, खेल-कूद आदि जिस घटना को वे देखते उनका समाचार बनने लगा। समय के साथ ही उनकी महत्वाकांक्षा भी बढ़ने लगी, मुझसे मिलने के कुछ ही समय बाद—स्यात् मेरे साथ से भी इसमें कुछ प्रेरणा मिली हो—वे सम्पादकीय टिप्पणियां भी लिखने लगे। संक्षिप्त और सीधी-सादी भाषा में। उनकी रचना की सादगी के कारण ही वे प्रभावशाली होती थीं। मैं उनकी तीक्ष्ण बुद्धि तथा लगन का बड़ा प्रशंसक था, बड़ा आदर करता था।

सप्ताह शुरू होते ही वे रेलवे के पार्सल (माल) दफ्तर जाते। वहां पर वे उस पार्सल को छुड़ाते जो उनके पास डेढ़ सौ मील दूर से आता था।

पार्सल का आवरण हटाकर वे बड़ी सावधानी से अखबारी काग़ज़ के दस्ते रख देते। मुझे आज भी याद है कि मैंने पहली बार कब उनका यह कार्य देखा था।

काग़ज़ों को देखते हुए मैं चिल्ला पड़ा :

"अरे पाइका, इनमें तो एक ओर छपा हुआ है।"

मेरे स्वेडिश-अमेरिकन रिश्तेदार साहब उत्तर देते :

"ठीक है दोस्त! वरना मुझे मिहनत करके उतना मसाला लिखना भरना पड़ता और विज्ञापन ढूँढ़ना पड़ता इतना काम हो जाने पर भी, दुसरा पन्ना भरना ही क्या आसान काम है, अगर मुझे खाली स्थान भरने के लिए विज्ञापन न मिले तो मैं शेष पृष्ठों को नहीं भर सकता। बहुत से विज्ञापन काफी बड़े हैं। इनके अलावा अदालती सम्मन हैं। इन दोनों को मिला कर शेष आधा स्थान भर जाता है।"

मुझे अपने सम्बन्धी के प्रति सहानुभूति हो गयी। चार पन्ने के अखबार के दो पन्ने तैयार करना हँसी खेल नहीं था। सब कुछ तो उन्हें ही करना पड़ता था। उनके दफ्तर में कोई सहायक नहीं था और बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती थी।

(४)

नगर की पत्रकारिता में भी शायद ही कोई भेद उन दिनों रहा हो। वहां भी ऊपर जैसी हालत थी। कोई भी युवक सोच ले कि उसे लिखना है, या जीविका का कोई साधन चाहिए। वह अपने किसी मित्र या रिश्तेदार के द्वारा किसी सम्पादक के नाम परिचय पत्र प्राप्त कर लेता, या उनके पास पहुँच जाता।

यदि परिचय कराने वाला या सिफारिश करने वाला कोई न मिलता तो वह स्वयं साहस करके सम्पादक के पवित्र मन्दिर में प्रवेश करता। यदि सौभाग्यवश उनके कमरे का दरवाजा खुला रहा तो वह सीधे कमरे में चला जाता और उनके पत्र के लिए काम करने का अवसर मांगता। यदि उससे पूछा जाता कि कोई अनुभव है, तो उसे नकारात्मक उत्तर देना ही पड़ता। पर, वह यह भी दावा करता कि उसे अपने में पत्रकारिता के गुण अन्तर्निहित प्रतीत होते हैं और वह सफल पत्रकार बन सकता है। उसकी तत्परता से स्यात् उस "वृद्ध" को अपने जीवन के प्रारम्भिक संघर्षों की याद आ जाती होगी और वह उस महत्वाकांक्षी को इन शब्दों से प्रोत्साहित करते :

"अच्छी बात है, कुछ लिखो—जो चाहे लिखो—किसी सभा की रिपोर्ट लिखो या इस नगर में किसी नवागन्तुक से भेंट करके लिखो और मेरे पास ले आओ। मैं देखूं कि तुममें कितनी प्रतिभा है।" या सम्पादक महोदय किसी सहकारी को बुलाकर उस युवक के योग्य काम बतलाने का आदेश दे देते।

यदि उस युवक में पत्रकार के सही अंश वर्तमान होते तो कुछ ही समय में वह जान जाता कि समाचार पत्र वास्तव में क्या वस्तु है। उसमें स्थानीय या आम रुचि के विविध प्रकार के समाचार होते, प्रचलित घटनाओं पर आलोचनायें होतीं, तथा शासन सम्बन्धी, विश्व सम्बन्धी, प्रान्त, जिला अथवा नगर सम्बन्धी नीति का विवेचन होता। उसमें ऐसी भी पाठ्य सामग्री होती जिसका किसी घटना विशेष से या घटना क्रम से कोई सम्बन्ध न होता। जैसे, पुस्तकों की आलोचना, शिक्षा, कृषि, उद्योग, कर्मचारी वर्ग, महिला वर्ग, के रुचि की चीजें या किसी सामाजिक पहलू पर लेख होते। पत्र का सम्पादक जितना सजीव होता, वह उतने ही अधिक विविध विषयों पर प्रकाश डालता।

जिस भयंकर गति से किसी दैनिक-समाचार पत्र का उत्पादन होता था, उसके कारण हरेक कर्मचारी को निरन्तर अंगूठे के बल हो खड़े रहना पड़ता था, चाहे किसी के मन में कैसी भी उदारता के भाव क्यों न हों, पर उसे नौसिखुये को सिखाने का बहुत कम अवकाश मिलता था। दो एक इशारामात्र पाकर उसे काम करना पड़ता था, और यदि उसके कान और आँख ठीक से काम कर सकते थे तो वह अपना काम निभा ले जाता था। ज्यों ज्यों वह अपने नित्य के कार्य से परिचित होता जाता था और विशद कार्य के किसी विशेष अंग के प्रति उसको अभिरुचि तथा प्रतिभा का प्रमाण मिलने लगता था, उसे तरक्की मिल जाती थी और जिम्मेदारी का काम उसके सुपुर्द कर दिया जाता था। और इस प्रकार उसे अच्छा वेतन मिलने लगता था। उसे म्युनिसिपल बोर्ड की बैठक या अदालती रिपोर्ट का काम मिल जाता, वह अपराध तथा दन्ड के संवाद बनाता या उसे आज्ञा मिलती कि नगर के तत्कालीन जीवन में घृणा अथवा आदर अथवा आकर्षण के पात्र व्यक्तियों पर छोटी, ठोस व सूचनापूर्ण टिप्पणियां तैयार करे। सफलता से उत्साह बढ़ता था। कभी कभी वह हर्षातिरेक की चोटी से उदासी के गढ़े में गिर पड़ता था। पत्रकारिता के प्रारम्भिक वर्ष का मार्ग कन्टकाकीर्ण होता है। इन दिनों में अन्तर में जलती हुई प्रकाश की धुंधली रेखा के अतिरिक्त मार्ग प्रदर्शन के लिये कोई सहारा नहीं होता, और उस पथ पर चलने में बड़े बड़े कष्टदायक कांटे चुभते हैं।

इसका ज्वलन्त उदाहरण देने के लिए मैं अपने प्रिय मित्र थियोडोर ड्रीज़र के जीवन की संक्षिप्त रूप रेखा देता हूं। यदि संसार में कभी कोई व्यक्ति कलम उठाने के लिए पैदा हुआ था तो थियोडोर ड्रीज़र थे। शब्दों का वे ऐसा मनमोहक गुलदस्ता बना देते जिसके फूलों की तरतीब और रंग अनायास नेत्रों को आकर्षित

कर लेते। वे जब जैसा चाहते, अपने टाइप राइटर को खटखटाकर पाठक के हृदय में इच्छानुकूल भाव उत्पन्न करा देते–पाठक का हृदय उछल पड़ता या डूब जाता। अपनी लेखनी से उन्होंने बड़ा धन कमाया था।

पत्रकार जगत में प्रवेश करने के पहले ड्रीज़र को कुछ ऐसे काम करने पड़े थे जिनसे उन्हें स्वयं ही घृणा थी। उन्होंने मुझे स्वयं बतलाया कि इण्डियाना प्रान्त के वारसा ऐसे छोटे नगर में रहते रहते उनका जी ऊब गया था। उस नगर में इतना आत्म-सन्तोष था कि उन्नति का कोई मार्ग ही नहीं था। वहां से वे देश के सबसे बड़े दूसरे नगर शिकागो में आये। यह बड़ा उत्तेजक अनुभव था। उस छोटे नगर में हरेक व्यक्ति एक दूसरे के मामले में नाक घुसेड़ा करता था। यहां ऐसा न था।

शिकागो में उन्हें केवल यही काम मिला कि किराये पर मकान में रहने का सामान देने वाली एक दूकान की ओर से रुपया वसूला करें। दिन भर बिचारे को दरवाजे दरवाजे भटकना पड़ता। हर प्रकार की औरतें उनके पुकार का जवाब देने आतीं। कोई जवान और सुन्दर होती। कोई अधेड़ और अचपक होती। हरेक की ज़बान पर इस बहुत दिनों से बाकी किराये को न अदा कर सकने का कोई न कोई बहाना होता। और जब वे भुगतान करतीं तो भनभनातीं हुई, भद्दे ढंग से।

इन दिनों उनका हृदय पत्रकारिता के लिये ललचा रहा था। अपनी उत्कंठा में वे यह समझ बैठे थे कि संवादों का संकलन बड़ा आसान काम है। वे कल्पना कर लेते कि मान लो मैंने कोई दुर्घटना देखी। शायद दो ट्राम गाड़ियाँ लड़ गईं। एक का ड्राइवर और दूसरे का कांडक्टर तुरत मर गया। कई यात्री घायल हो गये। कुछ को चिन्ताजनक चोट आई है। अस्पताल की गाड़ी में उठा कर घायल अस्पताल भेजे गये। शायद एक हाथ काटा जाय। किसी को पलस्तर बाँधा जाय। बस, जल्दी चल कर समाचार पत्र के लिये सब कुछ लिख डालना चाहिए, बस, करना केवल यही है कि जो देखा है, उसका वर्णन जितना विस्तृत हो सके, बना दिया जाय।

या वे यही कल्पना कर लेते कि किसी प्रसिद्ध पुरुष या स्त्री से मिलने के लिये जहाज पर या होटल में पहुँचे। वह इटालियन या जर्मन हो सकती है। अंग्रेजी टूटी–फूटी जानती होगी। बातचीत के सिलसिले में उससे बहुत सी सूचनायें मिल जायेंगी। शुरू में उसने ग़रीबी से कैसे युद्ध किया, किससे या कितने से प्रेम किया। हो सकता है कि उसकी सुन्दरता के प्रेम में दो प्रतिस्पर्द्धी लड़ पड़े हों। एक ने दूसरे के पेट में तलवार भोंक दी हो—तब अदालत का दृश्य आया, इत्यादि।

जो कुछ मैंने उनसे सुना, मुझे ऐसा लगा कि यौवन के प्रांगण में प्रवेश के दिनों में ही उनकी कल्पना-शक्ति बड़ी प्रखर रही होगी। पर जब वे वास्तविकता को पहुंचे तो उनके प्रारम्भ के सपनों से विभिन्न परिस्थिति मिली। किसी समाचार पत्र के लिये कहीं भी काम करना इतना आसान नहीं था, जैसा कि उन्होंने सोच रखा था। उसके लिये क्रियाशीलता, चरित्र की दृढ़ता तथा उच्च श्रेणी का अवसरपेक्षी होना आवश्यक था। सम्पाददाता में हरेक कठिनाई को-शीघ्रता पूर्वक हल करने की क्षमता होनी चाहिए।

पर, वास्तविकता और कल्पना में अन्तर पहचानने के पूर्व उन्हें किसी समाचार पत्र से सम्बन्ध पाना ज़रूरी था। एक दिन साहस कर वे एक जगह अपनी प्रार्थना सुना बैठे। यदि मेरी स्मरण शक्ति मुझे धोखा नहीं दे रही है तो वह पत्र था शिकागो का 'ग्लोब'।

भाग्य ने साथ दिया। कुछ हिचकिचाहट के बाद वे रख लिए गये। उन्होंने मुझे बतलाया कि उनकी नियुक्ति का बहुत बड़ा कारण एक यह भी था कि एक उप सम्पादक की लिखी किसी पुस्तक को बेचने

या प्रचार का उन्होंने जिम्मा लिया। इस काम में किताब बेचने में वे सफल हुए। इसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये उस उप सम्पादक ने, उचित अवसर पर, ड्रीज़ल को स्थायी संवाद संकलन कर्त्ताओं में भर्ती कर लिये जाने की सिफारिश कर दी। ड्रीज़ल को अपने कुछ सहयोगियों से स्नेह हो गया। और उनके द्वारा उन्हे अपने काम के बारे में बहुत सी बातें मालूम हो गयी। कुछ से पहले दिन से ही उनको नफरत हो गई और वे भी उतना हो इनसे नफरत करते रहे। ड्रीज़ल को यहाँ का वातावरण दूषित प्रतीत हुआ। उन्हें तो सफलता प्राप्त कर अपनी प्रतिभा से सबको चकाचौंध कर देने की जल्दी थी। इसलिये उनको ऐसा लगा कि गाड़ी इच्छानुकूल आगे नहीं बढ़ रही है। इसलिए ज्यों ही उनको पहला अवसर मिला, उन्होंने शिकागो नगर से छुट्टी ली और मिसूरी प्रान्त के सेन्टलुई नामक नगर में (जिसके विषय में मैं बाद में लिखूंगा) एक बड़े समाचार पत्र में काम करना स्वीकार कर लिया।

यहाँ पर वे ज्यादा प्रभाव प्राप्त कर सके—अधिक अच्छा काम दिखा सके। एक बहुत बड़ी दुर्घटना हो गई थी जिसमें बहुत सी जानें गयी थीं उसका समाचार इन्होने इस ढंग से दिया कि लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होने कई सामाजिक पहलुओं क तह तक पहुँचने का परिश्रम किया। इन खोजों ने उनको मानव समस्याओं पर ऐसा अधिकारपूर्ण ज्ञान दिला दिया जिससे कि आगे चलकर उनकी लेखनी धनी हो गयी। वे अनुभव अभी कई पीढ़ियों तक को लाभ पहुंचाते रहेंगे।

सेन्टलुई की सफलता ने उनकी महत्वाकांक्षा की अग्नि में नयी आहुति डाल दी। इन पत्रकारों के प्रतिकूल, जो संयुक्त राज्य के कतिपय पश्चिमी भागों तक ही डंटे रहना चाहते थे, ड्रीज़ल ने अटलांटिक समुद्र तट जाने का निश्चय किया।

वे न्यूयार्क पहुँचे। यह नगर निस्सन्देह अमेरिकन पत्रकारिता का केन्द्र था। इस घटना के ४३ वर्ष बाद जब मैं यहाँ पहुँचा तो मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ। यह केन्द्र था ही।

यहाँ पर उनको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे तो इस नगर में आशा और गर्व भर कर आए थे। वे यह समझ बैठे कि मैं पक्का लेखक बन गया हूँ। इसलिये न्यूयार्क की पार्क रो नामक सड़क पर, जिस पर प्रायः सभी महान् समाचार पत्रों का दफ्तर है—उनका हुक्म चलेगा और वे जो चाहेंगे, उन्हें प्राप्त होगा।

पर, पार्क रो की अपनी निराली रीति थी और मापदण्ड था। उसने ड्रीज़ल को उनके आंके हुए मूल्य पर लेना अस्वीकार कर दिया। यही नहीं 'उसने एक काम और किया, उन्हें सबसे भीषण तथा निर्दय प्रहार से घायल कर दिया। उसने उनकी उपेक्षा की। उन्होंने अपने को जो आदर्श समझ रखा था उसके प्रति उपेक्षा से बढ़ कर और कौन निर्दय प्रहार होता है। जिस तरह गुब्बारे को जरा सा कोंच कर बच्चा उसमें की सारी हवा निकाल देता है, उसी प्रकार ड्रीज़ल के सीने से गर्व तथा आशा दोनों ही निकल गयीं।

वे बड़े भावुक व्यक्ति थे। इतने दुःखी हुये कि आत्महत्या करने की सोचने लगे। एक बार उनके मन में यह आया कि वे पत्रकारिता के योग्य नहीं हैं, या पत्रकारिता उनके योग्य नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने जो सोचा था, यह बात उसके बिल्कुल विपरीत थी। उस समय तो यह बड़ी सरल वस्तु प्रतीत होती थी। केवल उठकर जीवन के वृक्ष से एक रस भरा फल तोड़ कर चख लेना ही तो था।

मेरी मुलाकात के कुछ वर्ष पूर्व उदासी आल्हाद में परिवर्तित हो चुकी थी। सन् १९०६ में जब मेरी उनकी पहली बोल चाल हुई, वे तीन पत्रिकाओं के प्रधान सम्पादक थे—"डेली नीटर" "डिज़ायनर" और "न्यू आईडिया" के। जिस दफ्तर में मैं उनसे मिला, वह बड़ा सा कमरा था। सुरुचिपूर्ण सजा हुआ, जिस ढंग से उन्होंने मुझ से लेखों का सौदा पटाया—उनमें से एक लेख पर मुझे १२५ डालर (उस समय का ६०० रुपया) मिलने वाला था,—यह स्पष्ट था कि काफी रुपए पर उनका नियन्त्रण था।

उन्हें काफी मोटी तनख्वाह मिलती रही होगी। बहुत कम अनुमान लगाने पर भी शायद ८०० रुपया प्रति सप्ताह तो रहा ही होगा। वे बड़े अच्छे ढंग से रहते थे। जिस कमरे में, जिस भवन खण्ड में वे सपत्नीक रहते थे, मैं उनसे जहां मिलने जाया करता था, वह काफी धनी बस्ती में था। ऊपर वाली मंजिल पर जाने के लिये लिफ्ट लगा हुआ था जिस पर वर्दी पहने एक नौकर था। इन सब चीजों में खर्च होता ही होगा।

(६)

जबकि गत शताब्दि के ८०, ६० के सालों में नवयुवक इस प्रकार के वर्णित लघुप्रवेश द्वार से पत्रकार जगत में प्रवेश कर रहे थे, संयुक्तराज्य में यह भीषण तर्क हो रहा था कि इस कला में प्रवेश करने के लिये विश्वविद्यालय की शिक्षा आवश्यक है अथवा नहीं। एक पक्ष कालेज की शिक्षा को आवश्यक कहता था। उच्च शिक्षा के हिमायती यह दावा करते थे कि पत्रकार को शिक्षा के हर अंग में पारंगत होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। विरोधी दल यह कहता था कि किसी भी जीवन में प्रवेश करने के लिये किताबी कीड़े या कोरे सिद्धांतवादियों से शिक्षा प्राप्त करने से काम नहीं चलेगा। जीवन में प्रवेश करके, उसमें रगड़ खाकर धक्के खाकर, कभी गिर कर, कभी उठ कर ही मनुष्य अनुभव तथा ज्ञान का धनी हो सकता है।

इस दूसरी श्रेणी के विचार वाले अमेरिकनों की आवाज उन दिनों ज्यादा बलन्द थी जब मैंने उस देश में पत्रकारिता प्रारम्भ की। वे लगातार "धक्का खाकर, रगड़ खाकर", तैयार करने वाले विश्वविद्यालय की बातें किया करते थे। उनका कथन था कि बस, ऐसा ही विश्वविद्यालय उचित है। उनकी सम्मति में अन्य प्रकार के विद्यालय, जिनमें सार्वजनिक तथा निजी कोष से ढेरों रुपया खर्च हो रहा था, न केवल निरर्थक थे बल्कि हानिकारक भी थे। वे केवल कल्पना जगत में विचरने वाले—कोरे सिद्धान्तवादी पैदा करते थे।

इस प्रकार के तर्क वितर्क चल रहे थे, उधर देश में परिवर्तन भी जारी था। कालेजों की संख्या बढ़ रही थी। उनके विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही थी। उनके पाठ्यक्रम में विषय पर विषय बढ़ते जारहे थे। नये विषयों के अध्यापक नियुक्त हो रहे थे। नई किताबें लिखी और छापी जारही थीं। जहाँ आवश्यकता थी, वहाँ प्रयोगशाला, कारखाना आदि बनता जारहा था।

कुछ वर्ष पहले उदाहरण के लिये, दाँतों की चिकित्सा जो चाहता, करने लगता। ज्यादातर यह काम नाई करते थे। कुछ पीढ़ी पहले समूची शल्य चिकित्सा का यही हाल था। अब तो लड़के लड़कियाँ विश्व-विद्यालयों में दांत की चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त करने लगे थे। मानव शरीर विज्ञान तथा रोगों के विशेषज्ञ तथा दन्त चिकित्सा के पण्डित यह सब सिखाते पढ़ाते थे। विद्यार्थी इस सम्बन्ध की हरेक शाखा में शिक्षा प्राप्त कर दन्त चिकित्सा में डिग्री हासिल करता—इस पेशे को अपनाने के लिए लैसंस प्राप्त करता।

यही बात खेती के लिये भी थी। कृषि विज्ञान का पूरा पाठ्यक्रम था। कालेज में इस सम्बन्ध में क्रमबद्ध शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा इतनी अच्छी होती कि "किताबी किसान" वास्तविक किसानों की उपेक्षा दूर कर, उनका आदर प्राप्त कर सके।

विद्यालयों में गृह विज्ञान की भी शिक्षा दी जाने लगी। घरेलू काम तथा पाक शास्त्र का भी विज्ञान बन गया था। गृह स्वामिनियां यहां आकर घर गृहस्थी करना सीख रही थीं।

इस सम्बन्ध में सन् १६०८ या १६०६ की एक घटना का जिक्र करूंगा। मैं उस समय इओवा प्रान्त की राजधानी डेसमायने में रहा करता था। इस राज्य में मक्का की बड़ी भारी खेती होती है। यहा पर संयुक्त राज्य अमेरिका का श्रेष्ठ कृषि विद्यालय है। इसे संसार के श्रेष्ठ कृषि विद्यालयों में से एक कहने में अत्युक्ति न होगी। मैं एक सम्पादक से उस कृषि विद्यालय की अपनी यात्रा का वर्णन कर रहा था कि वे बोल उठे:—

"क्या आप वहाँ की मलाई की कुलफी (बर्फ) बनाना सिखाने वाली कक्षा पर एक कहानी लिख सकेंगे?"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्या वे मलाई की बर्फ बनाना भी सिखाते हैं?"

"अवश्य, अभी उन्होंने यह कक्षा शुरू की है। इसीलिए आपसे कहानी लिखने को कह रहा हूं" —सम्पादक जी बोले।

(७)

अभी तक पत्रकारिता की शिक्षा विद्यालयों में नहीं शुरू हो पाई थी।

क्यों!

उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान जिस प्रकार मानव का सहचर तथा सहकारी बन गया था, उसकी किसी ने कल्पना भी न की थी। उसकी समाप्ति के दिनों में इस प्रकार की शिक्षा देने की बात न्यूयार्क के एक समाचार पत्र के स्वामी श्री ज़ोजेफ़ पुलिट्ज़र के दिमाग़ में उठ रही थी। वे सन् १८४७ में हंगरी में पैदा हुए थे। उनके पिता आस्ट्रिया के एक यहूदी थे। माता जर्मन थी। अपनी दरिद्रता के कारण ही वे आगे बढ़े। उसने उनको आगे बढ़ाया। सत्रह वर्ष की उम्र में ही अटलांटिक महासागर पार कर संयुक्तराज्य अमेरिका आये। यहां उस समय चारों ओर रक्त बह रहा था। गृहयुद्ध ने सन् १८६०-६१ में देश के दो टुकड़े कर दिये थे। उत्तर तथा दक्षिण के लोगों को पुनः एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा ने एक बड़ा लम्बा समय लिया तथा बड़ा रक्तपात कराया।

इस समय कोई भी लड़ाई में कूद पड़ता था, ज़ोजेफ़ भी कूद पड़े। सन् १८६४ में युद्ध के अन्तिम दिनों में वे सरकारी घुड़सवार सेना में भरती हो गये।

दूसरे साल युद्ध समाप्त हुआ। लड़ाई के साथ ही उनकी रोज़ी भी चली गई। अब क्या करें?

कुछ समय इधर उधर भटकने के बाद वे महान मिसीसिपी नदी द्वारा सिंचित घाटी पहुंचे। यह शायद उन्होंने इस लिए किया कि "जलों के पिता" के तट पर (पश्चिमी) बसे सेन्टलुई नगर में उन्हें कुछ काम करने का अवसर मिलने की आशा थी। उनकी ऐसी स्थिति वाले के लिए शायद यही स्थान था।

जिन दिनों पुलिट्ज़र मध्य योरुप में चक्कर काटते रहे होंगे, सेन्टलुई में अभूतपूर्व समृद्धि आगई थी। सन् १८४६ में पश्चिम की ओर सोने की खानें मिल गई थीं। नगर की समृद्धि होनी ही थी। पुलिट्ज़र साहसी व्यक्ति थे। अपना सब कुछ बेचबाच कर, जो कुछ दाम मिला, लेकर पेट पालते यहां पहुंचे। थोड़ा लिखना पढ़ना आता था। "वेस्ट लिचे पोस्ट" के सम्पादक बन गये। जिसके सम्पर्क में आते, उसके द्वारा

अपनी बुद्धि तथा भाषा की शक्ति का विकास करने का प्रयास करते और इस प्रकार वे धीरे धीरे पत्रकार जगत के सिरे पर पहुंच गए।

उनकी महत्वाकांक्षाएँ अपने लिये प्राप्त अवसरों से भी आगे थीं। उस पत्र के अर्द्ध-संचालक पद से भी वे सन्तुष्ट न हुए। सन् १८७८ में उन्होंने उसी नगर में अपना दूसरा समाचार पत्र स्थापित किया। जलमार्ग के केन्द्रीय स्थान में स्थित होने के कारण यह नगर काफी बढ़ चुका था। दो तीन परित्यक्त समाचार पत्रों की नींव पर "पोस्ट डिस्पैच" खड़ा हुआ। मध्य योरुप के लोगों की सन्तान यहां (सेन्टलुई आदि नगरोंमें) काफी बसी हुई थी। वे इस पत्र को ज्यादा पसन्द करते। उस समय यह नगर संयुक्तराज्य के छोर पर था। यहां के निवासी पुलिट्ज़र के नर्म प्रजातन्त्रीय सम्पादकीय टिप्पणियों को बड़े चाव से पढ़ते थे। अपनी यहूदी संग्रह बुद्धि के कारण ज़ोजेफ़ पैसा बटोरते गये। सन् १८८३ में उन्होंने न्यूयार्क का दैनिक "वर्ल्ड" खरीद लिया और उसे बड़ा प्रभावशाली पत्र बना दिया।

दो बार राजनीति में प्रवेश करने का भी साहस किया। सन् १८७६ में, संविधान सम्मेलन के सदस्य की हैसियत से, उन्होंने अपने प्रभाव से मिसूरी प्रांत (राज्य) की रचना कराई। सन् १८८५ में वे संयुक्त राज्य की कांग्रेस के 'डेमोक्रेट' दल के सदस्य भी चुने गये। न्यूयार्क नगर के प्रतिनिधि थे। २ वर्ष की अवधि पूरी होने के पहले ही त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने अपनी प्रतिभा को अपने समाचार पत्रों की उन्नति में लगाया। शुद्ध, स्पष्ट, संक्षेप में सभी आवश्यक समाचार देना, ऐसे विषयों पर जिन पर अभी तक दैनिकों में कोई स्थान नहीं मिलता था, चुना हुआ, नपा तौला मसाला देना उनकी विशेषता थी। बुरा काम करने वालों को वे जिन्दा गाड़ देते थे। समाज सेवा करने की चेष्टा करने वालों का ठोस समर्थन तथा प्रोत्साहन करते थे। हर अच्छे काम का समर्थन करते। अभी तक जनता का दृष्टिकोण संकुचित रखा जाता था। उन्होंने अपने पाठकों को व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया।

(८)

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम दस वर्षों में वे अपनी शक्ति की चरम सीमा तक पहुंच चुके थे। उस समय उन्होंने सबको आश्चर्य चकित करने वाली एक बात कही। अपनी विशाल सम्पत्ति में से एक बहुत बड़ी रकम लगाकर वे पत्रकारिता सिखाने वाला विश्वविद्यालय खोलना चाहते थे। आश्चर्य इस काम के लिये दिये गये विशाल धन पर नहीं था यह तो सभी जानते थे कि उनके पास बड़ा पैसा है। आश्चर्य यह था कि एक ऐसा आदमी जिसने कभी कालेज में शिक्षा नहीं प्राप्त की, जिसने बिना समाचारपत्र कला सीखे इस दिशा में इतनी गति प्राप्त की—वही इस कार्य के लिये विश्वविद्यालय की शिक्षा को आवश्यक समझ रहा है।

कई वर्ष बाद जब मुझे इस दान का पता लगा, मुझे यह चीज़ बहुत पसन्द आई। मैंने सोचा कि जब पुलिट्ज़र इस परिणाम पर पहुंचे कि प्रत्येक पत्रकार को इस विषय में विद्यालय की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए तो यह बात अवश्य गम्भीर विचार के योग्य है।

मुझे ऐसे बहुत से पत्रकार मिले जो इस विचार से सहमत नहीं थे। उनका कथन था कि जिस लघु प्रवेश द्वार से वे तथा कई पीढ़ियां से लोग इसमें प्रवेश कर चुके हैं या कर रहे हैं, वही उचित है और उचित रहेगा।

यह विचित्र सामंजस्य था कि जिस कोठे पर मैं तथा मेरी पत्नी रहती थी, वह कोलम्बिया विश्वविद्यालय को धारण करने वाली ऊँची भूमि के ठीक नीचे था। वहां एक दूसरा ही झगड़ा खड़ा था। उसके अध्यक्ष निकोलस बटलर ने पुलिट्ज़र के विचार तथा ४० लाख रुपये के दान (१० लाख डालर) का सहर्ष स्वागत किया। यह दान पत्रकारिता की शिक्षा स्थापित करने तथा चलाने के लिये था। पर, वे दानदाता की शर्तों को मानने को तैयार न थे।

पुलिट्ज़र की शर्त थी कि कार्य के सुचारु संचालन के लिये एक कमेटी बना दी जाय जिसमें कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के अतिरिक्त दो अन्य विश्वविद्यालयों के अध्यक्ष भी शामिल किये जायं। पर कोलम्बिया विश्वविद्यालय के अध्यक्ष का कहना था कि मुझे अन्य विश्वविद्यालयों के अध्यक्ष से कोई शिकायत नहीं है। पर, मैं अपने विश्वविद्यालय के घरेलू मामले में बाहरी आदमी नहीं लेने वाला हूं।

इस प्रकार दो विपरीत संकल्प हो गये। दोनों ही अपने विचारों में दृढ़ थे। वर्षों तक दोनों ही बिना किसी तर्क या विरोध के अपनी आज्ञा पालन कराने के आदी थे। अतएव सहिष्णुता का लचकीलापन उनमें रह नहीं गया था।

इस विचार संघर्ष से चिनगारियां निकलीं। आकाश में वज्रनाद होने लगा।

मामला उलझा पड़ा रहा। हल हुआ सन् १६११ में पुलिट्ज़र की मृत्यु के उपरान्त। निकोलस बटलर (अध्यक्ष) की शर्तों पर ही उनका रुपया (वसीयत किया हुआ) कोलम्बिया विश्वविद्यालय को मिल गया और पत्रकार कला की डिग्री परीक्षा की शिक्षा प्रारम्भ हुई।

इस बीच में अन्य विश्वविद्यालय भी सो नहीं रहे थे। कई ने इनकी शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया था। अभी और कितनों ने इसकी पढ़ाई शुरू की है। काफ़ी समय से, पत्रकार जगत का प्रवेश द्वार विश्वविद्यालय हो गया है।
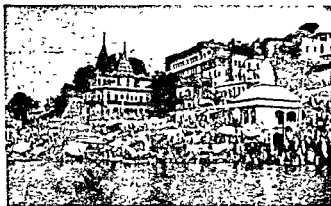
मणिकर्णिका घाट, काशी
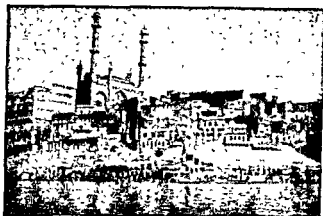
पंचगंगा घाट, काशी
यह घाट श्री सम्पूर्णानन्द जी को बहुत ही प्रिय है

कविता का भविष्य

श्री राम धारीसिंह 'दिनकर'

हिन्दी के तीन महाकवियों की प्रतिभा से चमत्कृत हो कर कोई एक चौथा कवि बोल उठा,

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत-सम जहँ-तहँ करहिं प्रकाश ॥

जब मनुष्य कोई बड़ा आश्चर्य देखता है, तब वह सोचने लगता है कि आश्चर्य की रचना करने वाली कला का यह चरम-चमत्कार है। इससे बड़ा अब और क्या होगा ? प्रस्तुत दोहे के रचयिता ने भी इसी भाव से अभिभूत हो कर यह सूक्ति कही होगी जिसका लक्ष्य कविता नहीं, प्रत्युत, कवि की संभाव्य असमर्थता की व्यंजना है।

फिर उर्दू में हाली आये और सब कुछ को देख-सुन कर उन्होंने घोषणा कर दी,

शायरी मर चुकी जिन्दा नहीं होगी यारो।

किन्तु, कविता के सौभाग्य से रवीन्द्रनाथ और इकबाल, दोनों ही महाकवि, हाली और हिन्दी के इस दोहाकार के बाद जन्मे और अपनी कृतियों से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि कविता की भूमि अभी भी उर्वर है तथा उसके हृदय से प्रकाश के फव्वारे अभी भी फूट सकते हैं।

यह तो हुई अपने देश की बात जहाँ वैज्ञानिकता के व्यापक प्रचार के बहुत पहले ही लोगों को कविता के कदम डगमगाते दिखायी पड़े। किन्तु, जिन देशों में वैज्ञानिक सभ्यता ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है, वहाँ के कवि और काव्य-प्रेमी आलोचक तो आज, सचमुच ही, बेचैन हैं कि कविता की सत्ता कैसे अक्षुण्ण रखी जाय और जनता के भीतर कैसे यह विश्वास जमाया जाय कि कविता का रसास्वादन भी मनुष्य के चौकोर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यक है।

काव्य कला के सामने आज दो प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हैं। एक बाधा तो यह है कि मनुष्य के संस्कार बड़े ही वेग से रूपान्तरित हो रहे हैं और कल्पनासेवी सम्प्रदाय के लिए इस प्रगति के कदम से कदम मिला कर चलना जरा कठिन हो रहा है। मानव-जीवन के वृत्त में पड़नेवाले विभिन्न उपकरण यानी पेड़, पौधे, पर्वत, पशु, नदी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र आदि को कविता अपने भीतर भली भांति पचा चुकी थी और जीवन के प्रसंग में उनकी बहुविधि व्याख्या करने में उसे कोई खास मशक्कत नहीं होती थी। किन्तु, अब रेल, मोटर कार, पुतलीघर, वायुयान, अणुबम तथा एलेक्ट्रोन्स और प्रोटोन्स भी जीवन के वृत्त में एकबारगी घुस पड़े हैं और इन नवागन्तुकों ने मिलजुल कर ऐसा कोलाहल मचा रखा है कि न तो कवि को ही यह सुविधा प्राप्त है कि एकान्त में बैठ कर वह इनके साथ अपना रागात्मक सामंजस्य स्थापित करे और न जनता ही उसे फुर्सत में मिलती है कि कवि उसके साथ बैठ कर इस सामंजस्य की दिशा निर्धारित करे। सभी दौड़ रहे हैं। सभी व्यस्त

हैं। विज्ञान का चक्र जोरों से घूम रहा है और उसके साथ ही मनुष्य की बुद्धि भी चक्कर खा रही है। कवि किसको देखे और किससे बातें करे? यह तो सिर्फ हृदय से बातें कर सकता था, मगर, मानव का हृदय भी आज बुद्धि की गुलामी कर रहा है। अखाड़ा विज्ञान के हाथ में है और विज्ञान अपने औद्धत्य में किसी से कुछ बात करने को तैयार नहीं है। इस स्थिति से आजिज आ कर इंग्लैंड के एक कवि ने कहा कि विज्ञान में जो गर्जन है उसे चुराये बिना हमारा काम नहीं चलेगा। मगर, यह चोरी तो सभी के सामने करनी होगी क्योंकि सारी दुनिया ही आज विज्ञान का पहरेदार बन गई है।

दूसरी बाधा, बहुत कुछ, पहली ही बाधा का स्वाभाविक परिणाम है। जब कविता और जीवन के बीच विज्ञान का कोलाहल और संस्कृति के रूपान्तरित होने का रोर छा गया और इस कोलाहल में कविता की सत्ता विलीन होने लगी तब, स्वभावतः ही, कवि के व्यक्तित्व पर भी इस प्रक्रिया का अनिष्टकारी प्रभाव पड़ा और लोग सोचने लगे कि जैसे ईश्वर और धर्म पर प्रश्न के बड़े-बड़े चिन्ह लटक गये हैं, उसी प्रकार, शायद कवि का आदर भी जनता के भ्रम के ही कारण था।

कवि ईश्वर और धर्म के बहुत समीप रहा भी था। अतएव, दोनों के साथ वह भी दंडित किया जा रहा है। जिन लोगों ने ईश्वर और धर्म का बहिष्कार किया, वे कवि का भी बहिष्कार कर देते, किन्तु उन्हें एक बात सूझ गई कि ईश्वर और धर्म के समान कवि निराकार और बिलकुल अनुपयोगी चीज नहीं है। उसे रक्त, मांस और चेतना भी होती है। अतएव, निर्दिष्ट दिशा की ओर उसे निरत करके उसका थोड़ा-बहुत उपयोग किया जा सकता है।

किन्तु, जिन लोगों ने ईश्वर और धर्म का बहिष्कार नहीं किया, सिर्फ श्रद्धा और तिरस्कार के बीच उन्हें त्रिशंकु बना कर डोलने को छोड़ दिया है, उनके बीच का कवि भी त्रिशंकु की तरह ही डोल रहा है।

संसार के बहुसंख्यक देशों में प्राचीन विश्वास की परम्परा हिल गई है, किंतु नया विश्वास अभी अपनी जड़ें नहीं जमा सका है। परिणामतः, अधिकांश देशों के लोग अभी यह निर्णय ही नहीं कर पाये हैं कि ईश्वर, धर्म और कविता से वे कोई काम लेंगे अथवा इन्हें त्याग ही देंगे।

ईश्वर, धर्म और कविता को एक साथ गिनने का कारण यह है कि भिन्नता के होते हुए भी इन तीनों के बीच एक प्रकार की मौलिक समता रही है। कहते हैं कि कविता का जन्म धर्म की गोद में हुआ था। किंतु इससे अधिक उपयुक्त तो यह कहना होगा कि धर्म का उदय कविता की वृत्ति से हुआ। कविता विस्मय से उद्भूत हुई और तब उसने मनुष्य में जिज्ञासा को प्रेरित किया और जिज्ञासा से ईश्वर की कल्पना और धर्म की परम्परा आरम्भ हुई।

मनुष्य के भीतर जो एक सूक्ष्म आध्यात्मिक व्यक्तित्व है उसी ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजते हुए कविता का आश्रय लिया और इसी जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए कविता प्रादुर्भूत हुई। मस्तिष्क में जो गुण हैं, बुद्धि में जो चमत्कार हैं, वे मनुष्य के स्थूल जीवन को सजाते, संवारते और व्यक्त करते हैं। किंतु, मनुष्य के भीतर वाला मनुष्य इनकी पकड़ में नहीं आता। उसे पकड़ने के लिए भावना का जाल और हृदय की जंजीर चाहिए। और अनन्तकाल से मनुष्य अपने इस आध्यात्मिक व्यक्तित्व को हृदय की भावनाओं से अभिव्यक्त करता आया है। अतएव, ईश्वर, धर्म, और काव्य ये तीनों ही मनुष्य के भीतरवाले मनुष्य को प्रसार देते रहे हैं। तो क्या जिस प्रकार ईश्वर और धर्म गौण होते जा रहे हैं, उसी प्रकार कविता को भी गौण होना

पड़ेगा ? और अगर किसी दिन मनुष्यों ने मिल कर ईश्वर और धर्म को आखिरी बन्दगी दे दी तो क्या उस दिन कविता को भी मनुष्य से विदाई ले लेनी पड़ेगी ?

तो फिर मनुष्य के भीतर वाले मनुष्य का क्या होगा ? क्या उसकी सत्ता है ही नहीं ? अथवा इतने दिनों से हम जो अपने सूक्ष्म व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के नाम पर विभिन्न ललित कलाओं का आश्रय ले रहे थे वह कोई रोग था जिससे मनुष्य मुक्ति पाने जा रहा है ?

नवयुग के नबी और मसीहा ऐसे प्रश्नों का सामना करना नहीं चाहते, यह और भी दुर्भाग्य की बात है। और इन तमाम असंगतियों के बीच कविता जारी है। अगरचे उसके कदम धीरे धीरे उठते हैं, मगर, जो अटल है, उसके अस्तित्व को उसने स्वीकार कर लिया है और विज्ञान के नगर में वह उसका गर्जन सीखने को आ पहुंची है।

मगर, समाज के हृदय में प्रवेश करने की राह उसे नहीं मिल रही है; अथवा यों कहिये कि हृदय पर खड़ी होकर वह मनुष्य के मस्तिष्क को अपने सामने झुकाने में असमर्थ है। जीवन का जो एक नया महल तैयार हो रहा है, उसमें मनुष्य सभी विद्याओं से सहायता ले रहा है। सिर्फ एक कविता ही है जिसकी सहायता की उसे कोई जरूरत महसूस नहीं होती। परिणामतः, कविता और कवि, दोनों ही उपेक्षा के पात्र हो रहे हैं।

प्रशंसा और प्रोत्साहन, ये कवि-प्रतिभा के आहार हैं। किन्तु, प्रशंसा कौन करे ? और प्रोत्साहन कौन दे ? हिन्दुस्तान में इन दोनों की प्राप्ति पहले दरबारों से होती थी। किन्तु, बहुत दिन हुए कि दरबार उजड़ गये और जहाँ पहले राजा और नवाब थे, वहाँ अब जनता आसीन है। और जनता को यह अधिकार तथा गौरव तब मिला जब विज्ञान ने उसकी भावनाओं में एक विचित्र प्रकार की हलचल मचा रखी है।

हमारे देश में हमारी स्वामिनी अशिक्षित है, यह बात तो है ही। मगर, जो लोग शिक्षित और सुसंस्कृत हैं, उनका क्या हाल है ? बी० बी० सी० के माध्यम से अभिनव अंगरेजी कविताओं का व्यापक प्रचार करने की चेष्टा आज कई वर्षों से चल रही है। और यहाँ हिन्दुस्तान में तो कवि-सम्मेलनों और मुशायरों की बहुत बड़ी माँग है। किन्तु, परिणाम में हम क्या देखते हैं ? क्या अभिनव कविता का इंग्लैंड या हिन्दुस्तान में कोई वास्तविक प्रचार हो रहा है ? तालियों की गड़गड़ाहट और महज सिर हिलाने को हम कविता के लोकप्रिय होने का प्रमाण नहीं मान सकते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि समाज में फैली हुई अन्य विद्याओं से लोग जो प्रेरणा ग्रहण करते हैं, वह प्रेरणा वे कविता से लेते हैं या नहीं ? अखबार वाले अपने मत की पुष्टि में राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों के अनुभवों का प्रमाण देते हैं, किन्तु, कवि की अनुभूति का अवतरण देकर अपने पक्ष की पुष्टि करने की आवश्यकता वे नहीं समझते। पार्लियामेंटों और विधायिका-सभाओं में सदस्य जब बोलने लगते हैं तब उन्हें भी उद्धरणों की आवश्यकता होती है। किन्तु, ये उद्धरण साहित्य के कोष से नहीं लिये जाते। यहाँ तक कि जो राजनीतिक दल (जिसमें राजनीति के, प्रायः, सभी दल सम्मिलित हैं) साहित्य को ढोल बनाकर अपना प्रचार करते हैं, वे भी जब गंभीरता से अपने पक्ष की स्थापना करने लगते हैं, तब उन्हें साहित्यकार की उक्ति और अनुभूति के उद्धरणों की आवश्यकता नहीं होती।

ऐसी आलोचनाएँ सुन कर समाज का संचालन करने वाले लोग कुपित होकर कह बैठते हैं कि यह पद चाहते हो तो जीवन के सान्निध्य में आओ। हम फूल-पत्ती और चिड़िया-चुनमुन की चर्चा किसलिए करें ?

किन्तु, क्या कवि जीवन के सान्निध्य में नहीं है ? क्या हमारी रचनाओं के भीतर जीवन की आर्द्रता और उसका दाह मौजूद नहीं है ? क्या हम जो कुछ सोच या लिख रहे हैं वह समाज के काम की चीज नहीं है ?

दर-असल, कारण कुछ और है। संसार बड़े वेग से उपादेयता की ओर मुड़ा है और उपादेयता की परिभाषा भी नये स्थूल जीवन से बाँध दी गई है। आनन्द उपेक्षित हो गया है और सारी प्रमुखता सुखों को दी जा रही है। दो रोटियां मनुष्य की दोनों आंखों के अत्यन्त समीप आकर खड़ी हो गई हैं। इतना समीप कि उनसे आगे मनुष्य कुछ देख ही नहीं सकता। जो नौकरी दिलवाये, जो व्यवसाय में वृद्धि का कारण हो और जो खेतों की उर्वरा-शक्ति को तेज करे, आज मनुष्य सिर्फ उसी विद्या की कामना से पीड़ित हो रहा है। हृदय से हृदय को मापने और मन को मन से थाहने की वृत्ति का लोप हो गया है और आदमी के हाथ में आज उपयोगितावाद का एक स्थूल गज मौजूद है जिससे वह शरीर ही नहीं, बल्कि, आत्मा को भी मापने की कोशिश कर रहा है।

उससे मनुष्य के सूक्ष्म जीवन की चर्चा मत करो क्योंकि सूक्ष्म जीवन तो गज की माप में आयेगा नहीं।

उससे यह मत कहो कि रोटियों में जो मजा है वैसा ही मजा भाव-चिन्तन में भी आता है, क्योंकि यह बात उसकी समझ में नहीं आयेगी।

उससे यह भी मत कहो कि जिस दुनिया पर सोच-सोच कर राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान के पंडित नई-नई बातों को ईजाद किया करते हैं, उस दुनिया का एक और पक्ष है जिस पर चिन्ता करने वाले लोगों की उक्ति गीत, कविता, उपन्यास और नाटक कहलाती है; क्योंकि तुरत ही वह कह उठेगा कि यह तो निरी कविता की बात है।

कविता का एक बुरा अर्थ भी है, जैसाकि एक बुरा अर्थ राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान का भी है। और इन पंक्तियों का क्षुद्र लेखक उन लोगों में से है जो विषयों के इन बुरे अर्थों से घबड़ाते हैं तथा जो कच्ची भावुकता से पीड़ित इस महान् देश को कविता की अवस्था से निकाल कर विज्ञान की अवस्था में पहुँचाना चाहते हैं। अच्छे अर्थ में विज्ञान सुस्पष्टता का द्योतक होता है। विज्ञान वह कला है जिससे मनुष्य हर चीज को प्रमाण के साथ उसके सही रूप में समझना सीखता है। विज्ञान अतिरंजन का विरोधी और भावुकता का शत्रु है। वह मनुष्य को सत्य से दूर जाने देना नहीं चाहता।

किन्तु, कविता भी अतिरंजन और कोरी भावुकता को दुर्गुण मानती है और सत्य से दूर तो वह कभी जाती ही नहीं।

देखो ये हैं हरी-हरी घासें,
मानों, ये हैं बड़ी-बड़ी गाछें।

यह कविता नहीं है—कविता है—

रूखी री यह डार वसन वासन्ती लेगी।

कविता कोई हवाई चीज नहीं है। योगी, वैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्री सत्य की खोज करने के लिए जितनी गहरी समाधि लगाता है, उतनी गहरी समाधि लगाये विना कवि भी सत्य को नहीं पा सकता। किन्तु, कवि और वैज्ञानिक के सत्यों में भेद है। विज्ञान स्थूलता की कला है। वह एक चीज से दूसरी चीज की दूरी नापता है और हर चीज को अपनी काठ की उँगलियों से छू कर यह बतलाता है कि वह कड़ी या मुलायम है। किन्तु, कविता वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का मूल्य ढूंढ़ती है; वह उनके उन पक्षों का विश्लेषण करती है जो गणित की भाषा में व्यक्त नहीं किये जा सकते। और चूंकि बुद्धि भी गणित को छोड़कर और भाषा समझ नहीं

सकती, इसलिए कविता, अपने विश्लेषण का परिणाम बुद्धि नहीं, बल्कि, हृदय के सामने निवेदित करती है, क्योंकि हृदय उन संकेतों को समझ सकता है जिनके माध्यम से कवि अदृश्य और अनिर्वचनीय का वर्णन करता है।

ऐसी अवस्था में, निरी कविता कहकर जो लोग कविता को आसानी से बर्खास्त कर देना चाहते हैं, उन्हें यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए। आखिर किस गुण या दुर्गुण के कारण कविता इस अनादर के साथ बर्खास्त कर दी जायगी? कविता का प्रधान गुण उक्ति या वर्णन का सौन्दर्य है। कविता में शब्दों की लड़ी लड़ी संगीत से पूर्ण होती है और उसके भीतर एक मोहक चित्र होता है जो आनन्द के प्रवाह में मनुष्य के मन को बहा ले जाता है। जो लोग कठोर वस्तुवादी हैं, वे कहते हैं कि यह आनन्द एक प्रकार की मदिरा है जो हमें अपने नशे से मतवाला बनाकर हमारा ध्यान जीवन की ठोस घटनाओं और क्रियाओं से अलग ले जा कर हमें कल्पना में निमग्न कर देती है; हमें उस दुनियाँ में भटकने को मजबूर करती है, जो सची नहीं है, जहाँ रोटी कमाने का काम नहीं चल सकता, जहाँ निन्नानवे को सौ में परिणत करने का कोई उपाय नहीं है।

मैं अपने को वस्तुवादी मानता हुआ भी वस्तुवादियों की बहुत सी झड़पें झेल चुका हूं। किन्तु, आज भी मुझे यह शंका ग्रसित किये हुए है कि अगर सौंदर्य को हम कविता का पहला गुण नहीं मानें तो फिर उसका और कौन गुण प्रथम स्थान पर रखा जा सकता है। फूल, चाँद, नदी, वन, पर्वत, जलप्रपात, तारे और आकाश इनका भी पहला गुण सौन्दर्य ही है। हम मानते हैं कि प्रकृति के इन विविध उपकरणों का कोई न कोई वैज्ञानिक उपयोग भी है या कालक्रम में हो सकता है। किन्तु, मनुष्य को वे इन उपयोगों के कारण प्यारे नहीं हैं। प्रिय तो वे सिर्फ इसीलिए हैं चूंकि उनमें सौन्दर्य है। और बच्चों के बारे में हमारा क्या विचार हो सकता है? क्या माँ–बाप उन्हें इसलिए प्यार करते हैं कि वे बड़े होने पर उन्हें कमा कर खिलायेंगे? तो फिर जवाहरलाल जी दिल्ली भर के बच्चों को बुलाकर अपना समय क्यों बर्बाद करते हैं?

एक लेखक ने अभी हाल में कविता की तुलना सुन्दरियों से की है। कविता की तरह स्त्रियां भी सुन्दर होती हैं। किन्तु, सुन्दर कविता से परहेज करने वाले लोग सुन्दर स्त्रियों की उपेक्षा नहीं करते और न कभी वे यह कहते हैं कि स्त्रियों को सौन्दर्य-परिहार के लिए प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि उनकी रूप-मदिरा से समाज के कर्मठ लोग 'ठोस घटनाओं' से विमुख हो रहे हैं। यह ठीक है कि यदाकदा नारी–सौन्दर्य का प्रभाव वैयक्तिक शैथिल्य अथवा वैराग्य का कारण हुआ है, किन्तु, उसे हम नियम नहीं, अपवाद ही कहेंगे। सच तो यह है कि जिस प्रकार, पुरुष और नारी के अङ्गों में अभिव्यक्त सौन्दर्य सच्चा और मूल्यवान है, उसी प्रकार पुरुष और नारी के द्वारा विरचित काव्य से फूटने वाला सौन्दर्य भी सच्चा और मूल्यवान होता है।

मनुष्य हर चीज को इसलिए प्यार नहीं करता चूंकि वह उपयोगी होती है। चीजें एक साथ ही प्यारी और उपयोगी हो सकती हैं, किन्तु, पहले उपयोग और पीछे प्यार, यह क्रम दुनियाँ में नहीं देखा जाता। फूल देवता पर चढ़ाये जाते हैं और उनसे इत्र और सेंट भी निकाली जाती है। मगर, हम फूलों को सिर्फ इसीलिए नहीं चाहते क्योंकि वे हमें इत्र और सेंट देते हैं।

एक बात और है कि वस्तुओं का सौन्दर्य–तत्व उनके स्थूल उपयोग से एक भिन्न गुण है। बहिन, बेटी, माता, पत्नी, मित्र और समाज की सदस्या के रूप में स्त्रियों का भी उपयोग है। किंतु, इस उपयोग से स्त्रियों के सौदर्न्य का क्या सम्बंध हो सकता है? बेटे तो कुरूप और रूपवती, दोनों ही प्रकार की नारियों के

होते हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि नारियों का सौन्दर्य हमारे उपयोग की चीज है और उस सौन्दर्य से हम इसीलिए प्रभावित होते हैं चूंकि वह उपयोगी है?

किंतु, एक भिन्न दृष्टि से देखने पर सौन्दर्य भी उपयोगी समझा जा सकता है। फूल, नदी, पर्वत, बच्चे कविता और नारी, सभी के सौन्दर्य में एक अलक्षित प्रभाव है जो हमारे भीतरी जीवन को पूर्ण करता है। प्रत्येक प्रकार के सौन्दर्य को देख कर हमारे हृदयों मेंएक विशिष्ट भांति की अनुभूति उत्पन्न होती है जिससे हमारा जीवन समृद्ध होता है। सुन्दरता का प्रभाव सिर्फ सनसनीवाला हलका आनन्द नहीं है, प्रत्युत्, सौन्दर्य को देख कर हम अपने स्तर से कुछ ऊँचा उठते हैं और हमारे भीतर जो विस्मय की आनन्दमयी अनुभूति जगती है वह हमें एक अपर लोक में पहुंचा देती है। इस प्रकार, सौन्दर्य के उपयोग से मनुष्य की आत्मा विस्तृत होती है तथा उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को फैलाव मिलता है।

प्रश्न है कि अभिनव मनुष्य उस सूक्ष्म जीवन की सत्ता स्वीकार करता है या नहीं, जिसे हम "आत्मा" अथवा "आभ्यन्तर व्यक्तित्व" कह कर व्यक्त करते हैं। अगर वह इस आन्तरिक व्यक्तित्व को मिथ्या कल्पना मानता है तो निश्चय ही अन्य सभी चीजों की तरह कविता भी उनकी रोटी का साधन, उपकरण और शृंगार बन कर रह जायगी। किन्तु, यह मनुष्य के मानने और नहीं मानने का सवाल नहीं है। मनुष्य के भीतर एक कोई और मनुष्य है जो अभावों में भी संतुष्ट और समृद्धियों के बीच भी भूख से व्याकुल रहता है। उसका आहार रोटी और दाल नहीं, बल्कि, फूल, नदी, पर्वत, भाव और विचारों का सौन्दर्य है। जीवन की परिधि में जो भी उपकरण प्रवेश करते हैं, उनका एक उपयोग तो स्थूल मनुष्य करता है और दूसरा वह सूक्ष्म मनुष्य जो स्थूल के भीतर निहित है। कहते हैं, देवता ग्रास नहीं, गन्ध के प्रेमी होते हैं। विज्ञान स्थूल मनुष्य का ग्रास है। सूक्ष्म मनुष्य खोज रहा है कि उस की गन्ध कहाँ है। और सूक्ष्म मनुष्य को समाधान देने के लिए या तो कविता को विज्ञान को आत्मसात् करना होगा अथवा कविता की पकड़ में आने के लिये विज्ञान को ही संशोधन स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि सूक्ष्म के अनशन से स्थूल की आयु बढ़ती नहीं, क्षीण होती है।

हिन्दी और हिन्दी वालों का कर्तव्य

श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

संविधान परिषद ने जिस ढंग से हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है और उसे मूर्तिरूप देने में जितने प्रतिबन्ध लगाये हैं, उनसे यही जान पड़ता है कि हिन्दी का राष्ट्रभाषा पद अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया गया है और प्रस्तावक ने अपने भाषण में भी स्पष्ट कर दिया था कि उनके मत से अंग्रेजी अपने वर्तमान स्थान से हट नहीं सकती। इसीलिये हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद ग्रहण की तैयारी करने को १५ वर्ष का दीर्घकाल दिया गया है। वास्तव में प्रस्तावक और उनके समर्थकों की इच्छा यही थी और है कि कहने को तो हिन्दी राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली जाय, पर व्यवहार में वह न लायी जाय। और तो क्या हिन्दी प्रदेशों में भी जहाँ वह शिक्षालयों और न्यायालयों में बढ़ रही थी, वहाँ से भी उसके पैर पीछे हटाने को कोई बात उठा नहीं रखी गयी। और उस स्थिति का समर्थन पशुबल से किया गया है। इसी को कहते हैं बहुमत का अत्याचार।

परन्तु हम हिन्दीभाषियों और हिन्दी के पक्षपातियों को हताश न होना चाहिये। चालीस वर्ष पहले कौन समझता था कि लार्ड मारलो जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे वह स्वराज्य भारत को प्राप्त होगा। भविष्यवक्ताओं को संसार में कमी नहीं होती, पर विरले ही किसी की वाणी सत्य सिद्ध होती है। इसलिये दूने उत्साह से हमें अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। जिनकी भाषा हिन्दी नहीं है, उनमें हिन्दी का जो काम शिक्षण और परीक्षण का चल रहा है, वह तो जारी रखना ही चाहिये। परन्तु अधिक शक्ति और श्रम हिन्दी को श्रीवृद्धि में करना चाहिये। गत ५० वर्षों में हिन्दी की उन्नति हुई है सही पर वही पर्याप्त नहीं है। हमें यह न भूलना चाहिये कि कविता छोटी कहानियां और उपन्यास ही साहित्य सम्पत्ति नहीं है, उनके बाहर विशाल क्षेत्र पड़ा है जिसका उपयोग करना चाहिये।

हिन्दी की जैसी उन्नति होनी चाहिये नहीं हुई है इसका कारण हमारे शिक्षित वर्ग की उपेक्षा है। संस्कृत के विद्वानों ने भाषा इस योग्य ही नहीं समझी कि उसके द्वारा अपने पाण्डित्य को जनता तक पहुँचावे और अंग्रेज़ी पढ़े लिखे विद्वानों की अंग्रेज़ी के सिवा किसी भाषा में लिखने की प्रवृत्ति ही नहीं हुई। परन्तु समय ने पलटा खाया है और दोनों श्रेणियों के विद्वानों का ध्यान इधर गया है यह सन्तोष की बात है। फिर भी अभी जैसी चेतना उनमें उत्पन्न होनी चाहिये, नहीं हुई है। इसके लिए उनमें आन्दोलन का प्रयोजन है। इस लेखक के मत से एक ऐसा सम्मेलन होना चाहिए जिसमें संस्कृत के अध्यापक, अंग्रेजी शिक्षा की विविध शाखाओं के अध्यापक और हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं के प्रतिनिधि निमन्त्रित हों और परामर्श कर यह निश्चय करें कि कौन किस विषय की पुस्तक लिखेगा। इस प्रकार एक वर्ष में उच्चकोटि के कम से कम एक हजार ग्रन्थ तैयार हो जांय। वैयक्तिक रूप से अथवा संगठित संस्था के रूप से जो कार्य हो रहा है, वह ज्यों का त्यों चलता रहे। यह सम्मेलन काशी में किया जायगा तो सुभीता होगा।

हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले सम्मेलन प्रादेशिक सम्मेलन वा ज़िला सम्मेलन न होंगे, हिन्दी के छओं प्रदेशों के उत्तर प्रदेश, बिहार, महाकोशल, मध्यभारत, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश और पूर्वी पंजाब के होंगे। इसलिये सबके प्रतिनिधियों का समागम आवश्यक है। एक दूसरा सम्मेलन विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों और अध्यापकों का होना चाहिये, जिससे निश्चय हो सके कि उच्च शिक्षा के लिये कितना साहित्य उपलब्ध है और कितना तथा कैसा साहित्य निर्माण होना चाहिये। इसी प्रकार तीसरा सम्मेलन सभी हिन्दी प्रदेशों के शिक्षा मन्त्रियों का होना चाहिये जिसमें यह तय हो कि इस साहित्य निर्माण कार्य में कौन कितना और कैसी सहायता देगा। इन सम्मेलनों से हम जान सकेंगे कि हिन्दी की श्रीवृद्धि के कार्य मे हमारी गति कितनी तीव्र अथवा मन्द होगी। प्रथम सम्मेलन का आयोजन हिन्दी साहित्य सम्मेलन अथवा काशी नागरी प्रचारिणी सभा को और दूसरे का डा० अमरनाथ झा को तथा तीसरे का श्री सम्पूर्णानन्द को करना चाहिये।

इन सम्मेलनों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन को काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सहयोग से अथवा स्वतंत्र रूप से हिन्दी पुस्तकों का महत् सूचीपत्र बनाना चाहिए। जिससे जान पड़े कि हिन्दी के किस विषय का कितना साहित्य है कौन ग्रन्थ मुद्रित है और कौन अमुद्रित है व हस्त लिखित है तथा कौन प्राप्य है और कौन अप्राप्य इत्यादि। अन्य आवश्यक और ज्ञातव्य बातें भी उसमें हों। इस ग्रन्थ से लोगों को हिन्दी की वर्तमान साहित्य संपत्ति का ज्ञान होगा और तदनुसार वे ग्रन्थ निर्माणकार्य करेंगे। कभी कभी ऐसा होता है कि हम किसी ग्रन्थ का भाषान्तर यह जाने बिना करने बैठ जाते हैं कि इसका भाषान्तर पहले हो चुका है। इस प्रकार शक्ति समय और धन का अपव्यय होता है। इससे बचने के लिये और अपने घर में क्या है और क्या नहीं यह जानने के लिये ऐसे सूचीपत्र का होना कितना आवश्यक है यह सुज्ञों से छिपा नहीं है। बाबू घनश्यामदास जी बिड़ला ने उच्च शिक्षा के उपयोग में आने वाले ग्रन्थों को हिन्दी रूपान्तर अथवा स्वतंत्र हिन्दी ग्रन्थों के निर्माण के लिये स्व० महामना मालवीय जी को ५० हजार रुपये दिये थे। पर हमें नहीं मालूम कि कौन ग्रन्थ निकले और कौन नहीं। सूची से हम यह जान सकेंगे।

पुस्तक सूची बनाने में पिलेमारी अवश्य है पर पंडिताई नहीं। कुछ बुद्धिमान पुरुषों को यह काम सौंपा जा सकता है। यह दो रूपों विषयानुसार और कर्तानुसार हों तो बहुत अच्छा। परन्तु यदि ऐसा न हो सके तो विषयानुसार तो अवश्य होना चाहिए। इससे हमें ज्ञात हो जायगा कि अमुक विषय पर कोई पुस्तक है या नहीं और है तो कैसी। हस्तलिखित पुस्तकों की सूची न भी हो, तो विशेष हानि नहीं, क्योंकि अधिकांश में वे कविता पुस्तकें होंगी और सम्प्रति हमारे उपयोग में न आवेंगी। इस पुस्तक सूची का निर्माण नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी ऐकेडमी के सूची पत्रों के आधार पर होगा। प्रकाशकों का भी सहयोग इसमें लेना होगा। अभिप्राय यह कि यथासाध्य यह हिन्दी की वर्तमान स्थिति का प्रतिबिम्ब होना चाहिए।

इसके साथ ही दो डिक्शनरियां बननी चाहिए। हिन्दी में डिक्शनरियों की कितनी कमी और कितनी आवश्यकता है यह शिक्षकों और पत्रकारों से अधिक कोई जान नहीं सकता क्योंकि दोनों को भाषान्तर करना कराना पड़ता है। विद्यार्थियों के उपयोग के लिये अनेक डिक्शनरियां बनीं पर सब अधूरी ही सिद्ध हुईं। मथुराप्रसाद मिश्र की एक डिक्शनरी थी जिसमें अंगरेजी शब्दों के अर्थ रोमन हिन्दी और रोमन उर्दू में दिये हुए थे। वह अपने समय की सबसे अच्छी डिक्शनरी थी। ४५ वर्ष पहले तो खोजने खाजने से वह मिल भी जाती थी, पर अब तो मिलती ही नहीं। मिलने से नयी डिक्शनरी तैयार करने में उससे सहायता ली जा सकती है। आज की आवश्यकता की पूर्ति वह भी नहीं कर सकती, परन्तु अंगरेजी हिन्दी डिक्शनरी ही पर्याप्त

नहीं है हिन्दी अंगरेजी डिक्शनरी भी चाहिए। पादरी बेट ने एक हिन्दी अंगरेजी डिक्शनरी निकाली थी। ३७, ३८ वर्ष हुए इन्डियन प्रेस वालों ने इसका परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया था, पर वह भी अब अप्राप्य है। फोर्ब्स, प्लेट, फैलन, आदि ने उर्दू की अच्छी डिक्शनरियां निकाली थीं। पर वे अब कहीं नहीं मिलतीं। हिन्दी के प्रचार और शिक्षा के लिये इन डिक्शनरियों की अनिवार्य आवश्यकता है।

वैज्ञानिक शब्दावली निर्माण का काम महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डा० रघुवीर कर रहे हैं। पर इनके संग्रहों के प्रकाशन के बाद भी डिक्शनरियों के बिना हमारा काम न चलेगा। आपटे की संस्कृत अंग-रेजी और अंगरेजी संस्कृत डिक्शनरियां अच्छी हैं। पर ६५ साल की पुरानी हैं। फिर भी बाद में कोई ऐसी ही नहीं बना सका। इसके सिवा हमें हिन्दी डिक्शनरियां चाहिए। गत ५० वर्षों में बहुत सा साहित्य कार्य हिन्दी में हुआ पर अच्छी डिक्शनरी नहीं बनी, जिसके बिना विद्यार्थियों के अध्ययन अध्यापन, कार्य में बाधा पड़ती है।

अन्तिम पुस्तक जिसका निर्माण वाछनीय है, वह हिन्दी अभिधान है। हम जानते हैं कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी शब्द सागर प्रकाशित किया है पर हमें तो शब्द महा सागर चाहिए। हम चाहते हैं कि प्रस्तावित अभिधान में शब्दों की व्युत्पत्ति अवश्य रहे। और उसमें साहित्यिक शब्द ही नहीं बोल चाल में व्यवहृत हिन्दी शब्दों को भी स्थान मिले। एक देशी शब्द भी रहें, चाहे वे परिशिष्ट रूप में ही रखे जाय। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिन्हें आप गांव में ही सुन सकते हैं, शहरों में नहीं। यदि इनका स्मारक अर्थात् कोष न बना तो फिर कहीं पता भी नहीं लगेगा। किसी अर्थ में कहीं कोई शब्द और कहीं कोई शब्द प्रयुक्त होता है जिसे हम लौकी कहते हैं, वही बनारस में लौवा और दिल्ली अलीगढ़ की ओर घीया कहाता है जिसे मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश में बैंगन या भन्टा कहते हैं, वही बुलन्द शहर की ओर कहीं बताऊं कहाता है। जिसे हम लोग खपड़ैल कहते हैं इन्दौर में वह कवेलू कहाता है। और भी बैसवाड़े, अवध तथा ब्रज और बुन्देलखंड में ऐसे कितने ही शब्द मिलेंगे, जिनके अर्थ भी शहरी साहित्यिक नहीं जानते। क्या इन्हें लुप्त होने देना चाहिए।

पाली, प्राकृतिक के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं से भी अनेक शब्द लिये जा सकते हैं। शब्द और इनके अर्थ संग्रह का काम कुछ देश कालज्ञ लोग ही कर सकते हैं। पुराने शब्दों और उनके अर्थों के अज्ञान से ही हिन्दी ने ठेटपन छोड़कर संस्कृत का पल्ला पकड़ा है। ठेट हिन्दी की पहली पुस्तक उदयभान चरित या रानी केतकी कहानी लिखने में सैयद इनशा अल्ला खां को ही कम प्रयास न करना पड़ा होगा। हरिऔध जी को "ठेट हिन्दी का ठाट" लिखने में जो बंगला उपन्यास का अनुवाद है बड़ा प्रयत्न करना पड़ा, यह निश्चित है। आज तो प्रयत्न करके भी पूरा उतारने वाले नहीं मिल सकते साराश, हिन्दी की मूल सपत्ति ठेट शब्द हैं, उनका उद्धार अवश्य होना चाहिये। यह कार्यक्रम हिन्दी साहित्य की उन्नति में बड़ा सहायक होगा, ऐसी आशा है।

हिन्दी-जगत का एक खतरा

लेखक और प्रकाशक किधर ?

श्री रावी

आज जबकि हमारी राष्ट्रिय सरकार, दूसरी उलझनों के बीच भी, साक्षरता के प्रचार के लिये उत्सुक है और जबकि पिछली लड़ाई के बढ़े हुये समाचारों ने और व्यवसायी वर्ग के पास बढ़े हुये पैसों ने साक्षरता को थोड़ा-बहुत आगे बढ़ाया भी है, प्रकाशित साहित्य की माँग बढ़ चली है और आगे और भी तेज़ रफ्तार के साथ बढ़ने वाली है।

कागज़ और छापेखानों की समस्या आज नहीं तो कल हल होगी और साक्षरता की श्रेणी में बढ़ती हुई जनता अक्षर का रस माँगेगी।

रामायण, भागवत, सुखसागर और 'कल्याण' का प्रचार बढ़ेगा—लेकिन मुख्यतया इसी अर्थ में कि जो लोग अभी इनके केवल सुनने वाले हैं वे पढ़ने वाले भी हो जायँगे; इनसे लाभ उठाने वालों की संख्या बहुत कम बढ़ेगी। और 'किस्सा तोता मैना' 'घूँघट वाली' 'दिलजला डाकू' 'सस्ता कोकशास्त्र' 'रसभरी रातें' 'खूनी फव्वारा' 'खूनी माशूका' और 'अक्ल पर पत्थर' का प्रचार वेग से बढ़ेगा, क्योंकि अधिकांश नई पढ़ी जनता की रुचि का स्तर स्वभावतया ऐसा ही कुछ है। इस स्तर का निश्चय करने के लिए किसी वाद-विवाद की नहीं, इस प्रकार के साहित्य के प्रचार और बिक्री को देखना ही यथेष्ट है। दिल्ली या बनारस की किसी एक फलती-फूलती थोक फ़रोश दूकान का खाता इस सम्बन्ध में बहुत कुछ बता सकता है।

अगर नई पढ़ी-लिखी जनता की इस 'अकृत्रिम' माँग और उस माँग की पूर्ति की कुछ देखरेख न की गई तो जनसाधारण की रुचि और जन साधारण का चरित्र किधर को जायगा ? राष्ट्र की संस्कृति और विकास की दिशा और दशा क्या होगी ?

"दशा बहुत खराब हो सकती है, लेकिन आपकी आशंकायें बहुत कुछ निर्मूल हैं। देश में अच्छे लेखकों और प्रकाशकों का काम काफ़ी फैल रहा है, नई अच्छी प्रकाशन-संस्थायें काफ़ी खुल रही हैं, उनके आगे ओछे साहित्य का प्रचार नहीं पनप पायेगा।" मेरे एक पुस्तक-व्यवसायी मित्र का कहना है।

अप्रिय सत्य के सामने आदमी इसी तरह किसी न किसी प्रमाद के बहाने आँखें बन्द किये रहना चाहता है, वह सामने पड़े हुये ढेर को तौलने से कतराता है।

जिन प्रकाशन-संस्थाओं की बात मेरे मित्र ने ऊपर कही है, वे भारतीय जन साधारण की प्रकाशन-संस्थाएं नहीं; कुछ थोड़े से शहरी शिक्षितजनों के काम की प्रकाशन संस्थाएं हैं। इन प्रकाशन संस्थाओं और इनके प्रकाशित साहित्य की पहुँच भारत की साक्षर जनता के ५ प्रतिशत में भी नहीं है।

और भारत में जनसाधारण तक पहुँचने वाली प्रकाशन-संस्थायें भी हैं। तीर्थों के स्नान पर्वों में, गावों के मेलों और साप्ताहिक हाटों में और कस्बों के बाजारों में आप उन पुस्तकों को देख सकते हैं जो बड़ी तादाद

में बिका करती हैं। ये पुस्तकें जनसाधारण के प्रकाशन-गृहों का प्रकाशन होती हैं और तभी आप उनका प्रसार किसी न किसी सीमा तक गांव-गांव में देख सकते हैं। निश्चय ही, ये सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली, साहित्य सम्मेलन या इन्डियन प्रेस, प्रयाग, ज्ञानमण्डल काशी, गीता प्रेस गोरखपुर, पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय या नेशनल इनफर्मेशन एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड बम्बई के प्रकाशन नहीं होते।

जन साधारण की ये व्यापक प्रकाशन-संस्थायें ऊंचे शिक्षित और शिक्षक वर्ग की निगाहों तक न पहुँच कर अपना काम करती हैं। ये जन साधारण को वही कुछ देती हैं जो जन साधारण की रुचि और मांग होती है। ये जनता को सस्ता और 'रुचिकर' साहित्य देती हैं और इस पर भी अपने बुकसेलरों को ५० से लेकर ७५ प्रतिशत तक कमीशन भी देती हैं।

जन साधारण की एक ऐसी ही प्रकाशन-संस्था के अध्यक्ष ने मुझे बताया था कि हिन्दुस्तान भर में उनके एजेण्टों की संख्या बारह सौ है और इन बारह सौ में से दो सौ ऐसे हैं जो बराबर दौरा करते रहते हैं। और वे अपनी कोई पुस्तक पांच हजार से कम नहीं छापते। उनकी पुस्तकों की कीमत एक आना और छः पैसे से लेकर आमतौर पर चार आने तक होती है।

भारत की हिंदी भाषी जनता बहुत अपढ़ है, यह तो सभी जानते हैं; लेकिन जितनी जनता कुछ पढ़ी-लिखी है उसका और उसकी आवश्यकता का हमारे साहित्यिक प्रकाशकों को अनुमान नहीं है और न उन तक पहुँच का उनके पास अभी तक कोई साधन है।

हमारे जन-साधारण की अक्षर-ज्ञान पाने पर पहली रुचि क्या होगी, इसकी खोज करने का दर्द-सर उठाना कौन पसन्द करेगा? लेकिन जो कुछ मैंने अपनी गर्दिशों में अध्ययन किया है—और कलकत्ता और मसूरी से लेकर अन्तर्वेद के छोटे से छोटे गाँव तक, और रईसों और ताल्लुकेदारों के नौजवान लड़कों से लेकर गांव के 'अक्षर-ज्ञानी' चरवाहे तक को मैंने उस निगाह से देखा भाला है*—उस सब के आधार पर मैं कुछ अधिकार के साथ कह सकता हूं कि हमारे इतने दिनों से परतन्त्रता में अशिक्षित रहे आये देश की स्वतन्त्र जन-रुचि आशाजनक नहीं है। इधर की राजनैतिक जाग्रति ने अवश्य उसमें कुछ उजले रंग का मिश्रण कर दिया है, लेकिन यह एकदम अपर्याप्त है।

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि हमारी रुचि और नैतिक विकास के सामने एक बड़ा भारी खतरा झूल रहा है। इस खतरे की प्रगति में सबसे अधिक हाथ बटाने वाला वह प्रकाशक और लेखक वर्ग है जिसकी चर्चा समाचार पत्रों में नहीं आती और जिसकी संख्या और व्यापकता हमारे साहित्यिक प्रकाश में आये हुये लेखकों और प्रकाशकों की संख्या और पहुँच से कहीं अधिक है।

हमारा लेखक-वर्ग क्या है, पहले इसे देखिये। हिन्दी के लेखकों को साधारणतया छः श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

१. वे जो स्वतन्त्र रूप से लेख या पुस्तकें लिखते हैं और प्रकाशकों के हाथ उनका सौदा करके अपनी जीविका कमाते हैं और जिनके पास जीविका का कोई दूसरा साधन नहीं है।

२. वे, जो सम्पादक या लेखक के रूप में किसी पत्र-संचालक या पुस्तक-प्रकाशक की नौकरी करके जीविका कमाते हैं और किसी दूसरे पेशे में हाथ नहीं डालते।

---

* मेरी उन दिनों की डायरी 'बुकसेलर की डायरी' का कुछ अंश सन ४२ के 'विशाल भारत' में और पूरी पुस्तक इन्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है।

३. वे, जो किसी विषय-विशेष के ज्ञाता और अधिकारी होने के कारण अपने विषय पर लोकहित के लिये लिखते हैं। बड़े बड़े विद्वान, वैज्ञानिक और शिक्षक इस वर्ग में गिने जा सकते हैं।

४. वे, जो दूसरे पेशों या नौकरियों की तरह, आवश्यकता पड़ने पर लेखक के पेशे में भी हाथ डाल कर आंशिक रूप में या समय समय पर इसके द्वारा गुज़ारा कर लेते हैं।

५. वे, जिनकी जीविका का साधन दूसरा होते हुए भी अपने मनोरंजन के लिए समय समय पर कुछ लिख देते-हैं और प्रकाशित कराने का सुभीता होने के कारण प्रकाशित भी करा लेते हैं।

६. वे, जिनमें कुछ लिखने या काट–छांट कर जोड़ने–जुटाने की योग्यता होती है और जिन्हें किसी लोभ या दबाव के कारण लेखक बनना पड़ता है।

हमारे लेखक वर्ग के लिए पहला खतरा ऊपर कहे पांचवें और विशेष कर छठे प्रकार के लेखकों से हैं।

पांचवें प्रकार के लेखक आमतौर पर धन–साधन–सम्पन्न व्यक्ति होते हैं। वे जो कुछ भी लिखते हैं, अपने पैसे से या अपने किसी स्वजन प्रकाशक के पैसे से छपा लेते हैं। उनके साहित्य में अश्लील, उत्तेजक या फिर बिलकुल प्रेरणा–हीन कृतियों की विशेषता होती है। पाठक जनता के हित–अहित का ध्यान और उसके प्रति किसी तरह की ज़िम्मेदारी का अनुभव वे नहीं करते। समाज का भंडाफोड़, सिनेमा जगत के दोष दर्शन आदि के 'पवित्र' उद्देश्यों को लेकर वे जनता को 'साहित्य–रस' का पान कराते हैं। ऐसे लेखकों की संख्या और उनके प्रदत्त साहित्य की मात्रा अभी अधिक नहीं है।

छठे प्रकार के लेखक आमतौर पर उन सस्ते प्रकाशकों के रिश्तेदार या पड़ोसी होते हैं जो अर्द्ध-शिक्षित ग्रामीण जनता के लिए बड़ी मात्रा में साहित्य का प्रसव करते हैं। ये लेखक आमतौर पर इन प्रकाशकों के बनाये हुए लेखक होते हैं और उनके छापने के लिए दुअन्नी या चवन्नी प्रति पृष्ठ के हिसाब से पारिश्रमिक लेकर पुस्तकें लिखते हैं। ऐसे लेखक किसी छोटी–सी पसरहट की दूकान के मालिक भी हो सकते हैं, साबुन–बीड़ी के एजेन्ट भी हो सकते हैं और किन्हीं लालाजी के मुनीम या स्वयं प्रकाशक महोदय की किताबें बेचने वाले व्योपारी भी हो सकते हैं। इनकी संख्या और इनके उत्पन्न किये हुए साहित्य की मात्रा अन्य सभी श्रेणियों के साहित्य और साहित्यकारों से अधिक है।

इस पर विश्वास करने और कराने के लिए आपके और मेरे पास अभी कोई आंकड़े नहीं हैं। फिर भी आप तब तक इसे एक सम्भावना के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

पांचवें प्रकार के लेखक अपनी कृतियों द्वारा विचार और संस्कृति की विकासोन्मुखी धारा के विपरीत बहने वाली धारा का पोषण करते हैं। वे जिम्मेदार लेखक वर्ग की दिशा में उसके प्रयास और उस प्रयास के परिणाम पर रोक लगाते हैं। वे जिम्मेदार लेखक वर्ग के नैतिक रूप में ही नहीं, आर्थिक रूप में भी प्रतिद्वन्दी हैं, क्योंकि वे अपनी सहज–ग्राह्य और सहज-प्रिय रचनाओं द्वारा पाठक–वर्ग का ध्यान और पैसा अधिक आसानी से खींच लेते हैं।

छठे प्रकार के लेखकों से जिम्मेदार लेखक वर्ग (पहली और दूसरी श्रेणी के लेखकों) को सबसे बड़ा आर्थिक खतरा है। व्यवसाय के क्षेत्र में इनकी होड़ में सामने ठहरना जिम्मेदार लेखकों और उनके प्रकाशकों के लिए कठिन है। हिन्दी का पुस्तक व्यवसाय—आप इनके प्रकाशित साहित्य की मात्रा को तौलकर देखिये—इन्हीं के हाथ में है। ऊपरी कोटि का लेखक इनके बराबर सस्ता लिख नहीं सकता, ऊपरी कोटि का प्रकाशक इनके बराबर सस्ता और अधिक छाप और बेच नहीं सकता। इसीलिए ज़िम्मेदार लेखक और प्रकाशक अभी चौड़े बाज़ार में नहीं आ सकते; उनके लिए जगह खाली नहीं है। निम्न वर्ग के लेखकों की संख्या तेज़ी से बढ़ने

वाली है, वह आसानी से बढ़ाई जा सकती है। कोई भी हिंदी मिडिल तक पढ़ा हुआ और पैसे का जरूरतमंद आदमी ऐसा लेखक हो सकता है, क्योंकि बहुत से सस्ते, व्यापक प्रकाशकों को ऐसे लेखकों की जरूरत रहती है। यह खतरा और भी भयंकर इसलिए है कि इसे खतरे के रूप में नहीं पहचाना जाता। इस खतरे का एक मात्र उपाय, मेरी समझ में, अच्छे प्रकाशकों और लेखकों के साहित्य का व्यापक प्रसार ही है।

लेखकों के लिए दूसरा, अधिक सूक्ष्म और इसलिए अधिक व्यापक खतरा स्वयं अपने आप से है।

लेखकों के लिए वह अधिक व्यापक खतरा अपने आप से इसलिए है कि वे अपने मार्ग पर समुचित प्रगति के साथ और अक्सर आँखें खोलकर नहीं चलते।

चलती सड़क पर ठीक रफ्तार से और फिर आंखें खोलकर न चलने में क्या खतरा है, यह सभी जानते हैं।

हमारा लेखक प्रायः यह नहीं सोचता—(साहित्यकार जगत के उन थोड़े से गुरुजनों को, जिन पर ये बातें लागू नहीं होतीं, छोड़कर शेष के लिए ही मैं कह रहा हूं)—कि वह क्या लिखता है, कैसा लिखता है, कैसे लिखता है, किस उद्देश्य से लिखता है, कितना लिखता है और उसके लिखने का उसके पाठकों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

प्रत्येक लेखक ऊपर के प्रश्नों का कुछ न कुछ उत्तर दे देगा, लेकिन क्या उसका उत्तर सुनिश्चित और सुनिर्धारित ही होगा ? इसमें बहुत सन्देह है।

नीचे लिखे कुछ और प्रश्नों के उत्तर अपने आपको देने के लिए मैं अपने लेखक वर्ग को निमंत्रित करना चाहता हूं :

१—आप क्यों लिखते हैं ?—लोगों में कुछ अच्छी भावनाएं, अच्छे विचार उत्पन्न करने के लिए ?—उन्हें कुछ उपयोगी सूचनाएं देने के लिए ?—कुछ सीख उपदेश देने के लिए ?—उनके मनोरंजन और दिल बहलाव के लिये ?—या केवल धन कमाने के लिए ?—या बिना किसी बाहरी उद्देश्य के केवल अपने भीतर उठने वाली भावनाओं और कल्पनाओं की स्वान्तः सुखाय' तृप्ति के लिए ?—या किसी और उद्देश्य से ?

२—क्या आप जानते हैं कि जो कुछ आप लिखते हैं उसका आपके पाठकों पर कैसा प्रभाव पड़ता है ? हितकर या अहितकर ?—स्थायी या चलता हुआ ?—उस प्रभाव का उनके जीवन और चरित्र से क्या सम्बन्ध होता है ? वे आपकी रचनाओं को अधिक पसन्द करते हैं या कम ? आपकी रचनाएँ जिन पाठकों के काम और पसन्द की हो सकती हैं, क्या वैसे यथेष्ट संख्यक पाठकों तक वे पहुंच जाती हैं ? नहीं पहुँचती तो क्या उनके उन तक पहुंचने का कोई उपाय हो सकता है या नहीं ? आपके लिए अपने लेखों की प्रवृत्ति और दिशा में किसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकता या अवकाश तो नहीं है ? आप जिन विषयों पर लिखते हैं क्या वे ही आपके लिए सर्व-श्रेष्ठ और सुलभ-तम हैं ?

३—लेखक के रूप में आप अपनी अभीष्ट मंजिल पर पहुंच गये हैं या अभी मार्ग में ही हैं ? आप और भी अधिक अच्छी रचनाएँ देने की आशा करते हैं या नहीं ? आप अपनी निजी मौलिकता पर ही संतुष्ट हैं या अध्ययन पर ही निर्भर रहते हैं ? आपका अध्ययन और मनन किसी दिशा-विशेष में जारी है या नहीं ? या आपके पास लिखने के लिए यथेष्ट भण्डार पहले से ही पूरा भरा हुआ है ? क्या आप अपनी अध्ययन और मनन-सम्बन्धी प्रगति के लिए कुछ निश्चित और नियमित प्रयत्न करते हैं और उसकी देख-रेख रखते हैं ? आपके लेखन का यदि कोई विशिष्ट विषय है तो वह क्या है ? उसकी स्पष्ट रूप-रेखा आपके सामने है ? उस पर आप अपना यथेष्ट समय और श्रम लगाते हैं ? आप अपनी लेखन प्रगति के सम्बन्ध में पूर्णतया सन्तुष्ट हैं या निराश या

सामान्यतया आशावादी ? दूसरे विषयों और उनके लेखकों और विचारकों के प्रति आपकी सादर सहयोग सहानुभूतिपूर्ण धारणा है या उदासीन अथवा कुछ विरोध-पूर्ण ?

४—आपके लेखन कार्य में आर्थिक संकीर्णता बाधक तो नहीं होती ? लेखन से आपकी आय यथेष्ट हो जाती है या नहीं ? यदि नहीं होती तो क्या आप उसका कारण बता सकते हैं ? इसका कोई उपाय सोचने और करने की चिन्ता में आप हैं या इस सम्बन्ध में आप अपनी संकीर्णताओं पर सन्तोष करके चुप बैठे हुए हैं ? क्या आप आवश्यकता और सुविधा होने पर धनोपार्जन के लिए किसी दूसरे क्षेत्र में जाना पसन्द कर सकते हैं ? अपने लेखक पद में आपको किसी विशेष गौरव या आत्म-सम्मान का अनुभव होता है या नहीं ? लोक-सेवा में अपना कोई विशेष उत्तरदायित्व और लोक-यश में अपना कोई विशेष भाग आप समझते हैं या नहीं। राष्ट्रीय शिक्षण के यन्त्रजाल—अपने समाज के स्कूलों-कालेजों और विविध विद्यालयों के नियुक्त शिक्षकों की तरह आप भी लोक शिक्षण में अपना कोई निर्दिष्ट और कम से कम उतना ही महत्वपूर्ण स्थान देखते हैं या नहीं ? अपने लेखों की भाँति अपने पाठकों की भी कोई कम-अधिक आत्मीयता पूर्ण कल्पना आपके मन में रहती है या नहीं ?

एक शब्द में, आप अपने आपको और अपने काम को किसी निश्चित सीमा तक जानते; और अधिकाधिक जानने की ओर अग्रसर होते हैं या नहीं ?

ऊपर के प्रश्न कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका निश्चित उत्तर देना हमारे लेखक वर्ग के लिए कठिन हैं, और जो इनके कुछ निश्चित रूप में उत्तर दे भी सकते हैं उनके उत्तरों का आशा-जनक होना तो अवश्य ही कठिन है।

मैं कहना चाहता हूं कि हमारे लेखक वर्ग ने अभी अपने आपको और अपने काम को बहुत कम जाना है और जानने की ओर ध्यान ही बहुत कम दिया है।

तो क्या यह न-जानकारी भी उनके लिए कोई बड़ा खतरा है ?

अगर स्कूलों-कालेजों की पढ़ाई पढ़ाने की कला और उत्तरदायित्व को न जानने वाले अध्यापकों के हाथों से सौंप देने में कोई खतरा नहीं है; अगर राष्ट्र का स्वास्थ्य अप्रमाणित अपरीक्षित वैद्यों-हकीमों के हाथ में छोड़ देने में कोई खतरा नहीं है; अगर किसी चढ़ी हुई नदी की नौका को निर्दिष्ट दिशा और दिशा-नियंत्रण का ज्ञान न रखने वाले नौजवान मल्लाहों के हाथों में थमा देने में कोई खतरा नहीं है तो लोक-शिक्षण और मानसिक पोषण का नियन्त्रण, संगठन और कानून की सीमाओं से बाहर का यह भार अव्यवस्थित और अर्द्ध-जाग्रत साहित्यकारों के हाथ में रहे आने में भी कोई खतरा नहीं है।

और यदि इसके विपरीत बात ठीक है तो साहित्य रूपी अन्न से पलने वाली सामाजिक चेतना अथवा समाज के लिए; और समाज से भी पहले साहित्यकारों के लिए यह एक बड़ा खतरा है। यह हो सकता है कि यह खतरा महीनों और वर्षों में रंग दिखाने वाला खतरा न होकर दशाब्दियों और शताब्दियों में रूपवान होने वाला खतरा हो, लेकिन यह जीवन और मृत्यु का खतरा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यहाँ तक पाठकों और लेखकों की बात हुई। अब प्रकाशकों की बात लीजिए। साहित्यिक प्रकाशकों को उनकी परिस्थिति के अनुसार तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

१—वे, जिन्हें अपना प्रकाशित साहित्य बाजार में खपाना कठिन प्रतीत होता है, जिनकी पुस्तकें उनकी अपनी या कुछ दूसरे सहयोगी बुकसेलरों की अलमारियों में प्राय: बन्द रहती हैं, जिन्हें अच्छे लेखकों और यथेष्ट पाठकों का सम्पर्क प्राप्त नहीं और जिनका व्यवसाय घाटे पर चल रहा है।

२—वे, जिन्हें प्रचार की कला आती है और जो किसी तरह अपनी पुस्तकें छपाकर अपना गुज़ारा चला ले जाते हैं, जिनका उद्देश्य साहित्यिक सुरुचि–कुरुचि की ओर से उदासीन रहकर केवल पैसा कमाना है।

३—वे, जो अपने प्रकाशन-द्वारा धनोपार्जन के साथ साथ सत्-साहित्य का प्रचार करना चाहते हैं, जिन्हें पूँजी और व्यवस्था का सहयोग प्राप्त है और जो साधारणतया सफल प्रकाशक कहे जाते हैं।

हिन्दी जगत में साहित्य के नैतिक और व्यावसायिक अंगों की ओर जो उदासीनता और अव्यवस्था चल रही है उससे इन तीनों प्रकार के प्रकाशकों को बड़ा खतरा है।

यह बात सुनने में विचित्र सी प्रतीत होती है। पहले प्रकार के प्रकाशकों के लिए खतरा है, यह स्वीकार किया जा सकता है, दूसरे प्रकार के प्रकाशकों को भी नैतिक दृष्टिकोण से एक तरह के पतन की ओर जाने के कारण खतरे में कहा जा सकता है, लेकिन तीसरे प्रकार के प्रकाशकों को भी कोई खतरा है, यह स्वीकार करना साधारणतया कठिन हो सकता है।

लेकिन मेरी निश्चित धारणा है कि सबसे बड़ा खतरा तीसरे प्रकार के प्रकाशकों के लिये ही है।

तीसरे प्रकार के प्रकाशकों के—उनका प्रकाशन चाहे बड़े पैमाने पर हो चाहे छोटे पर—सामने ही अपनी व्यावसायिक उन्नति के साथ साथ साहित्यिक सुरुचि के प्रचार का भी ऊँचा उद्देश्य है। उनका उद्देश्य ही एक अच्छे, समृद्ध और लोकोपयोगी प्रकाशक का उद्देश्य है; उनके सामने का कार्य ही दोहरा, दूरव्यापी, दुरूह और दुर्गम है। वे ही ज़िम्मेदार प्रकाशक हैं।

लोकरुचि और लोक-उपयोग का कुछ साहित्य प्रकाशित करके यदि वे उसका इतना प्रचार और उससे इतनी आय कर लेते हैं कि वे अच्छी तरह खाते-पीते चल सकें, और अपनी उतनी खुशहाली से वे संतुष्ट हो रहते हैं तो उनकी वह सफलता एक आदर्श और समृद्ध प्रकाशक की सफलता नहीं है। उनके सामने प्रचार विस्तार और लोकसेवा का जितना बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है उसे यदि वे अपनी व्यक्तिगत संतुष्टि और आवश्यकता की पूर्ति के कारण बिना पूरा मँझाये ही छोड़ देते हैं तो यह उनकी हीनता और कर्तव्य विमुखता है और उनके विकास और जीवन के लिये एक खतरे का सूचक है।

खतरा इस प्रकार कि यदि वे साहित्यिक व्यवसाय के क्षेत्र में पूरा और व्यापक काम करने के लिए प्रस्तुत नहीं होंगे और अपनी निश्चित आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति से संतुष्ट हो रहेंगे तो उन्हें आगे, एक चौथी श्रेणी के, अधिक पूरा और व्यापक काम करने वाले प्रकाशकों के लिए स्थान देना पड़ेगा, और फलतः उनकी आर्थिक कमाई और समाई को भी संकुचित होना पड़ेगा और वहाँ से उनके जीवन के लिए भी खतरे का सूत्र-पात हो सकेगा।

जीवन की दौड़ में खतरा केवल गिर जाने या बैठ रहने वाले के लिये ही नहीं होता; उसके लिये भी होता है जो काफ़ी तेज़ नहीं चल पाता और दूसरों के मुकाबले पीछे रह जाता है। जिसका लक्ष्य जितना ऊँचा होता है उसकी असफलता भी उतनी ही घातक होती है।

इस प्रकार यह खतरा हर श्रेणी के प्रकाशकों के लिये है।

छोटी पूँजी और गिरे हुये व्यवसाय वाले असफल प्रकाशकों को अपनी परिस्थिति से तो खतरा है ही, उनकी व्यवसाय-नीति से दूसरे प्रकाशकों को भी खतरा है, क्योंकि अपने व्यवसाय को जीवित रखने के लिये वे अपने सह-धन्धियों के विरुद्ध चोरी के बाज़ार भावों से काम न लें, यह बहुत कठिन है। ऐसे प्रकाशकों के प्रचलित किये हुये गुप्त कमीशन, उधार-छूट और थोक परिवर्तन की प्रणालियाँ खुले बाज़ार के लिये बहुत घातक हो सकती हैं।

धन-ग्राही प्रकाशकों की प्रगति—वह अभी चाहे कितनी ही सफल दीखती हो—जागते हुए लोक-जीवन के विरुद्ध है। लोक-जीवन के स्वाभाविक विकास के मुकाबले में उसे आज नहीं तो कल ठिठकना ही पड़ेगा। उनका माल ऊपरी चमक दमक वाले कमज़ोर और अनुपयोगी माल की तरह है और उसे एक दिन बाज़ार में गिरना ही पड़ेगा। उनकी नीति ही उनके लिये घातक सिद्ध होगी। लेकिन जब तक ऐसे प्रकाशकों का व्यवसाय जीवित है तब तक इनसे दूसरे प्रकाशकों को बड़ा खतरा है। इनके सामने व्यावसायिक मुकाबले में ठहरना और पनपना दूसरों के लिये अत्यन्त कठिन है। पुस्तक व्यवसायी एजेंटों और बुकसेलरों पर पहला अधिकार इन्हीं का होता है क्योंकि ये जितना कमीशन उन्हें दे सकते हैं उतना दूसरे प्रकाशक नहीं दे सकते; फलतः उनकी पुस्तकें अधिक बिकती हैं। उनकी पुस्तकें उन्हें दूसरे प्रकाशकों की तुलना में सस्ती भी पड़ती हैं। अधिक कमीशन, अधिक बिक्री, सस्तेदाम—*ये तीनों बातें एक दूसरे पर आश्रित होती हैं।*

तीसरे प्रकार के, साहित्यसेवी प्रकाशकों की बात पहले ही कही जा चुकी है।

और प्रकाशक-जगत के लिये सबसे बड़ा खतरा—यदि यहाँ पर भी इस शब्द का प्रयोग मैं कर सकता हूं—चौथे प्रकार के प्रकाशकों से होगा, जो आगामी युग की देन होंगे, जिनका उद्देश्य साहित्य द्वारा नये राष्ट्र और नई मानवता का निर्माण होगा, लोक-कल्याण ही जिनका स्वार्थ होगा, निरंतर आगे बढ़ना ही जिनकी व्यावसायिक सीमा होगी। ऐसे प्रकाशक वर्तमान प्रकाशकों में से भी निकल सकते हैं और कुछ नये भी इस क्षेत्र में आ सकते हैं।

इस चौथे प्रकार के प्रकाशकों के प्रादुर्भाव के आसार दिखाई देने लगे हैं।

वर्तमान परिस्थिति को समझने और सम्हालने के लिए नीचे लिखी समस्याएँ हमारे सभी प्रकाशकों के लिए विचारणीय हैं, क्योंकि ये कम या अधिक उन सबकी समस्याएँ हैं।

१—अच्छे लेखकों से सम्पर्क तथा उनके संतोषजनक और संतोषपूर्ण सहयोग का अभाव। उनसे उनकी उच्चकोटि की रचनाएँ निकलवाने की अक्षमता, उनका यथेष्ट प्रतिकार—सत्कार कर सकने की असमर्थता।

२—यथेष्ट ग्राहकों तक पहुँच और तदनुकूल संख्या में पुस्तकों की खपत का अभाव।

३—नये और विविध व्यापक विषयों में जनरुचि को जगाने में असमर्थता।

४—समुचित रूप में पुस्तकें सस्ती प्रकाशित करने की असमर्थता।

५—विक्रेताओं और एजेण्टों से सफल और सुगम व्यापारिक सम्बन्धों का अभाव।

इन समस्याओं पर विचार करने का स्थान इस लेख में नहीं है, और यह अकेले इस लेख के लेखक के बूते का विषय भी नहीं है। इन पर विचार करके कुछ व्यावहारिक कदम उठाना जागरूक प्रकाशन संस्थाओं और प्रकाशकों का काम है। लोक-हित, अध्यवसाय, व्यवसाय-साहस, और व्यवसाय-कौशल के साथ साथ *'मेरा ही मठा बिक जाय' की भावना को छोड़कर संगठित सहयोग की भावनाओं को* लेकर चला जाय तभी सफलता हो सकती है।

हिन्दी के समर्थ प्रकाशक तथा अन्य साहित्य प्रेमी समृद्धजन क्या इस ओर अभी से ध्यान देकर कुछ ठीक काम का कदम उठाना पसन्द करेंगे?

कालपी स्थित
महर्षि वेदव्यास
की तपोभूमि
का एक दृश्य

तपोभूमि का
पश्चिमीय भूभाग

विदेश में हिन्दी तब और अब !

श्री रामनारायण मिश्र

सन् १६२६ के जुलाई महीने की बात है। उस समय हम लोग कुछ मित्रों के साथ लन्दन में थे। वहाँ एक दिन म्युनिसिपैलिटी की एक कन्या पाठशाला देखने पंडित श्रीराम वाजपेयी और स्वर्गीय एएड्रूज़ दुबे के साथ मैं भी गया। उस समय भूगोल की पढ़ाई चल रही थी। कई देशों के नक्शे लटक रहे थे। प्रसंगवश भारत की ओर संकेत करके हम लोगों ने कहा—'यह है हमारा देश !' तुरन्त एक छोटी सी लड़की खड़ी हो गई और बोली—'नानसेन्स, इण्डिया हमारा है, तुम्हारा नहीं।' यह सुनकर हमारा सिर नीचा हो गया।

दादाभाई नैरोजी 'ब्लैकमैन'

उस समय भारत गुलाम था। जो भारतीय योरप जाते उनकी भेष-भूषा-भाषा अंग्रेजी रहती। 'रंग काला पर बोलते अंगरेजी'—अंगरेजों के समान। लार्ड साल्सबेरी ने तो सार्वजनिक सभा में दादाभाई नैरोजी को जब वे पार्लमेण्ट की सदस्यता के उम्मेदवार थे, 'ब्लेकमैन' कह दिया था। स्वतन्त्र देश के निवासी समझते हैं कि गुलाम देश की अपनी कोई संस्कृति नहीं और सदा विजयी विजित को सभ्य बनाता है। जब हम लोग योरप गये थे तब वहां के लोगों की यही धारणा थी। पर अब वे दिन गये।

भारतीयों की भी कोई भाषा है ?

डेनमार्क (वहां के लोग 'दानमार्क' कहते हैं) में एक शिक्षा-सम्मेलन था। उसमें हम लोग प्रतिनिधि होकर गये थे। उसकी राजधानी कोपेनहेगन (जिसको वहां के लोग केबनएव्न् कहते हैं) म्युनिसिपैलिटी ने इस सम्मेलन के प्रतिनिधियों को जो संसार के प्राय: सभी देशों से गये थे—१४ अगस्त को मानपत्र दिया और जलपान कराया। मानपत्र के उत्तर में प्रत्येक देश के कुछ सज्जनों ने अपनी-अपनी भाषा में धन्यवाद दिया। वहां विचित्र-विचित्र भाषाएं सुनने में आयीं। हम भारतीयों में भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग थे, जिनमे अंगरेजी बोलने के पक्ष में अधिक थे। वे कहते थे कि हमारे देश की भाषा वहां समझेगा कौन ? उन्हें बतलाया गया कि चीनी, जापानी, अरबी, फारसी और योरप की अनेक भाषाएं कितने लोगों ने समझी होंगी। अन्त में मुझसे कहा गया कि मैं भारतीयों की ओर से हिंदी में धन्यवाद दूं। बोलना तो दो-ही-तीन मिनिट था पर ज्योंही प्लेट फार्म से उतर कर मैं अपनी कुर्सी की तरफ चला कि एक महिला ने मुझे एक चिट दिया जिसमें लिखा था कि उत्सव के बाद मुझसे मिलना। बाद में जब मैं अपनी कुर्सी पर आ बैठा तब मेरे पड़ोसी ने जो फिनलैण्ड देश का निवासी था और टूटी-फूटी अंगरेजी बोलता था, मुझसे पूछा कि क्या आपकी भी अपनी कोई भाषा है ? उसके मन में यह बैठा हुआ था कि अंगरेजों की बदौलत हमने भले मानसों की तरह कपड़ा पहनना और सभ्यता की प्रतीक अंगरेजी भाषा बोलना सीखा है।

'भारतेन्दु' के जरमन मित्र

जलपान के समय वह महिला मिली, जिसने चिट दिया था। वह जरमन थी और हिन्दी जानती थी। उसके स्वर्गीय पिता पादरी थे और गाजीपुर के पुराने जरमन हाई स्कूल के (जिसका नाम अब सि-एन्-बी स्कूल है) प्रिन्सिपल थे। वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्र थे। उसने आगज़बर्ग नगर का अपना पता लिख दिया। वहां जाकर हम उससे मिले।

जरमन महिला द्वारा भारतेन्दु-रचना का पाठ

इस जरमन महिला ने हमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बहुत से ग्रंथ दिखलाये। महिला ने इन ग्रंथों की बहुत सुन्दर जिल्द बंधवा रखी थी। हम लोगों के कहने पर उस महिला ने एक पुस्तक से दस-पन्द्रह पंक्तियां भी पढ़कर सुनायीं। जरमन महिला की पढ़ने की गति बुरी न थी, पर उच्चारण स्पष्ट और शुद्ध न था।

डेनमार्क की सभा में सर्वप्रथम हिन्दी

डेनमार्क के उक्त सम्मेलन में हमें तीन ऐसे हिन्दुस्तानी मिले, जो डेनमार्क और स्वीडन में बस गये थे। वहीं उनमें से दो ने विवाह कर लिया था। उन्होंने हम से कहा कि उस देश में पहले कभी किसी सभा में हिन्दी नहीं बोली गयी थी, यद्यपि इन प्रवासी मित्रों ने यह स्वीकार किया कि हमारी मातृभाषा हिन्दी नहीं तथापि वे मेरे हिन्दी बोलने पर हृदय से प्रसन्न थे।

अमेरिका में हिन्दी-विद्यालय हो

भारत अब स्वतन्त्र हो गया है। इसलिए हिन्दी को संसार की गौरवशाली भाषाओं में अग्रगण्य स्थान दिलाना हमारा परम कर्तव्य है। माननीय पण्डित जवाहरलाल नेहरू का इस सम्बन्ध में उद्योग बहुत ही प्रशंसनीय है। उन्होंने इस वर्ष अमेरिका जाते हुए भारतीय विद्यार्थियों के सम्मुख हिन्दी में भाषण किया और उनसे कहा कि अपनी भाषा को उन्नत और समृद्ध बनाओ। वाशिंगटन में भारतीय बालकों के समारोह में बैठकर उन्होंने, जब उनकी बात सुनी, तब कहा कि यहां हिन्दी भाषा के शिक्षण के लिए एक विद्यालय खुलना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ हिन्दी को स्वीकार करे

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान कार्यालय के सचिवालय के भारतीय कर्मचारियों से मिलकर पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने पूछा कि उनमें से कितने हिन्दी जानते हैं? सभी ने कहा कि हम हिन्दी जानते हैं। इस पर एक अधिकारी ने सूचना दी कि इस बात पर विचार हो रहा है कि हिन्दी को संसार की संघ द्वारा स्वीकृत भाषाओं में स्थान दिया जाय। ज्ञात हुआ है कि नेहरू जी ने भी इस सम्बन्ध में आवश्यक वार्ता की है।

भारतीय विधान द्वारा 'हिन्दी' मान्य

हर्ष की बात है कि भारतीय विधान-परिषद् ने 'हिन्दी' शब्द को मान्यता प्रदान की है, यद्यपि उसको व्यवहार में लाने की नीति के सम्बन्ध में, देश में बड़ा असन्तोष है। बिहार, संयुक्तप्रान्त, मध्य प्रदेश और रियासतों के विलयन पर जो नये प्रान्त राजपूताना, मध्यदेश आदि में बने हैं, यदि दृढ़तापूर्वक हिन्दी में काम जारी रखने में अटल रहेंगे, तो इसका प्रभाव न केवल भारत के अहिन्दी प्रान्तों पर बल्कि विदेश पर भी पड़ेगा।

विदेशी दूतावासों में हिन्दी

भारत स्थित विदेशी दूतावासों में तथा लन्दन-अमेरिका आदि के भारतीय दूतावासों में विदेशी कर्मचारी आजकल हिन्दी सीख रहे हैं। हिन्दी सिखलाने में श्री जगदीशचन्द्र अरोड़ा ने अमेरिका में प्रशंसनीय कार्य किया है। इंग्लैण्ड के एक विश्वविद्यालय में श्री केशरीनारायण शुक्ल हिन्दी के प्रधानाध्यापक नियुक्त किये गये हैं और हिन्दी प्रचार की दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं। फीजी, मौरीशस, ट्रिनिडाड के लोग हिन्दी सीखने के लिए प्रयत्नशील हैं, पर सोचना यह है कि हम भारत में बैठे हुए क्या कर रहे हैं। सच्ची बात तो यह है कि हमारे हृदय में अपनी भाषा के प्रति प्रेम अभी पूरी तरह से पैदा नहीं हुआ है। अब भी अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग आपस में ७५ प्रतिशत पत्र व्यवहार अंगरेजी में ही करते हैं। हिन्दी में जो पत्र लिखते भी हैं उनके लिफाफे पर पता अंगरेजी में रहता है। आपस में मातृ-भाषा बोलते हुए भी अंगरेजी के शब्दों का प्रयोग करते चलते हैं। इस सम्बन्ध में यहां एक मनोरंजक घटना का उल्लेख अनुपयुक्त न होगा।

श्री सम्पूर्णानन्द पर जुर्माना

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की एक दिन प्रबन्ध समिति की बैठक थी। श्री सम्पूर्णानन्द जी अध्यक्ष की कुर्सी पर विराजमान थे। उन दिनों बातचीत में जो सदस्य जितने अंगरेजी शब्दों का प्रयोग करते थे, उन्हें प्रत्येक ऐसे शब्द के लिए चार आना जुर्माना देना पड़ता था। इस जुर्माने से हमारे माननीय शिक्षा मन्त्री भी मुक्त नहीं किये गये।

अंगरेजी का मोह त्यागें

विदेश में हिन्दी को स्वतन्त्र राष्ट्र के अनुरूप स्थान तो मिलेगा ही पर स्वदेश में हमें जागरूक होना है। अंगरेज गये पर अंगरेजी पीछे छोड़ गये हैं। 'भारत छोड़ो' की भांति हमें 'अंगरेजी छोड़ो' का भी नारा लगाना होगा। हमारे प्रिय मित्र स्वर्गीय बाबू शिवप्रसाद गुप्त, जिन्होंने अपने जीवन काल में हिन्दी की अनन्य भक्ति का अद्‌भुत परिचय दिया था, कहा करते थे कि हिन्दी प्रेमी सज्जन और संस्थाएं वास्तव में उर्दू विरोधी हैं—"अंगरेजी से उन्हें अब भी मोह है।" इसे दूर करना है। आसाम प्रान्त में खसिया भाषा की कोई लिपि नहीं है। सैकड़ों बरस से मारवाड़ी और बंगाली खसिया लोगों के सम्पर्क में आ रहे हैं, पर वे उनको अपनी लिपि प्रदान न कर सके। अंगरेजों ने थोड़े ही दिनों में वहां रोमन अक्षरों का प्रचार कर डाला। प्राइमरी स्कूलों में खसिया बालक अपनी मातृभाषा का ज्ञान रोमन अक्षरों द्वारा प्राप्त करते हैं।

विदेशों में भारतीय हिन्दी के लिए लालायित

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी सेवक मण्डल की एक योजना बनायी थी। श्री सम्पूर्णानन्द ने उसके प्रति शुभ कामना प्रकट की थी। विचार यह था कि कुछ स्वयंसेवक लंका, बाली, जावा आदि स्थानों में जाकर वहां के प्रवासी भारतीयों को हिन्दी सिखलायें कारमानी मुसलमान भारत के बाहर जाकर उर्दू का प्रचार करते हैं पर मेरे पास उन स्थानों से कई मित्रों के पत्र आकर पड़े हैं, जिनसे प्रकट है कि वहां के भारतीय तथा अन्य लोग हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि सीखने के लिये लालायित हैं।

देखें, वह दिन कब आता है, जब हिन्दी सेवक मण्डल स्वतन्त्र भारत का संदेश लेकर संसार पर यह प्रकट कर सकेगा कि हिन्दी ने मृत्युञ्जय पद प्राप्त कर लिया है। मैं वही दिन देखने के लिए जी रहा हूं।

हमारे लोक गीत

श्रीगौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

भारतवर्ष ग्रामों का देश है, हमारे ८५ फीसदी भाइयों का निकटतम सम्बन्ध कृषि और ग्रामों ही से रहता है।

जनपदीय भाषाओं तथा बोलियों का हमारे साहित्य में जो महत्वपूर्ण स्थान है, उसे समस्त हिन्दी-भाषा-भाषी और ऐतिहासिक तत्वान्वेषी भली प्रकार जानते हैं, साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन करने से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। इधर हमारी साहित्य की बढ़ती हुई प्रगति में ग्राम-साहित्य कुछ समय से उपेक्षित सा रहा था। उसको अपनाने का कोई सम्मिलित उद्योग नहीं किया गया यही कारण है कि हमारा शब्द-भण्डार संकीर्ण और साहित्य अपूर्ण प्रतीत होता है। हमारा देश अब स्वतन्त्र है और हिंदी को राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त हो चुका है इससे हम सब पर कितने ही प्रकार से गुरुतर दायित्व आ जाता है। प्राचीन साहित्य की खोज और रक्षा के साथ ही साथ हमारा इस ओर भी ध्यान जाना नितान्त आवश्यक है।

ग्राम-साहित्य द्वारा निरक्षरता निवारण का कार्य सुविधापूर्वक आगे बढ़ सकता है। ग्रामीण कहानियाँ, मुहावरे गीत और शब्द एकत्रित करके हम भाषा-भारती का भण्डार भरने के साथ ही साथ अपने ग्रामवासियों का भी बहुत कुछ हित कर सकते हैं।

हमारे लोक गीत युग परम्परा से सामाजिक जीवन का आभास दिया करते हैं उनमें बनावट और पाखण्ड तो होता ही नहीं। नई स्फूर्ति, नए भाव और नग्न सत्य को सीधी सादी भाषा में हम लोक गीतों ही में पा सकते हैं। हमारे ग्रामीण भाई वाक्य-विन्यास, शब्दों की गठन और भावों की प्रौढ़ता भले ही इन गीतों में न तलाश करते हों और न उनकी आलोचना और प्रत्यालोचना ही वे कर पाते हों किन्तु उनकी सरसता, सरलता और मिठास के कारण जो तन्मयता वे प्राप्त करते हैं वह शिक्षित समुदाय शायद ही अपने विशाल कवि सम्मेलनों में पा सकता हो। हमको वर्ष और महीनों में कभी कवि सम्मेलन का सुअवसर मिलता होगा किन्तु ग्राम-जीवन का प्रत्येक प्रभात गीतों ही से प्रारम्भ हुआ करता है। प्रत्येक ऋतु, पर्व और काल वहाँ गीतमय ही है, हमारे ग्राम-वासियों के सुख-दुःख के ये साथी हमारे लोक-गीत जब अब तक जीवित रह कर कठिन समय पार कर चुके हैं तब यह आशा रखनी चाहिए कि वे युग परम्परा तक जीवित ही रहेंगे और उनके आश्रय से हमारा कृषक समुदाय उत्तरोत्तर लाभ उठाता रहेगा। संतोष की बात है कि शिक्षित समुदाय भी उनकी उपयोगिता स्वीकार करके उनकी ओर आकर्षित हुआ है। हमारे लोकगीतों की विजय का यह स्पष्ट चिह्न है।

नगर के कोलाहल मय जीवन से दूर पाठक हमारे साथ गाँवों की ओर चलें जहाँ ऊँचे ऊँचे वृक्षों की छाया में कर्मठ किसान और भोलेभाले ग्राम वासी अपनी समस्यायें सुलझाने में व्यस्त रहा करते हैं। और जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य से नेत्र सफल और हृदय आनन्द विभोर हो उठता है जहां ऊषा से भी कुछ पूर्व कोमल कण्ठों

मनोहर गीत सुनाई दिया करते हैं। देखिए यह गीत जिसे अभी अभी आप सुन रहे हैं, चक्कियाँ पीसते हुए वियाँ गा रही हैं, इसे बारामासी कहते हैं। यथा:—

चैत मास जब लागो सजनी, बिछुरे कुंअर कन्हाई।
कौन उपाय करौं जा ब्रज में, घर अँगना न सुहाई।
फिर बैशाख मास में सजनी, गरमी जोर जनाई।
पलक सिजरियन नींद न आवे, घर नहँ कुंअर कन्हाई।
जेठ मास जब लागे सजनी, चहुँदिश पवन झकोरें।
पवन के ऊपर अगन बरत है, अंग अंग पर डोलें।
आषाढ़ मास जब लागे सजनी, सब दिश बादल छाये।
मोरें और पपीरा बोले, दादुर बचन सुनाये।
साउन मास सुहावन मईना, झमक झमक घन बरसें।
कान कुंअर की बिछुरन पर गई, देखन कौं जी तरसें।
मादौं मास भयंकर मईना, दिस दिस नदियाँ बाढ़ीं।
अपुन तो ऊधौ पार उतर गए, हम जमुना–तट ठाँड़ीं।
क्वाँर मास की छुटक चाँदनी, बाढ़े सोच हमारे।
आवत देखे भर भर नैना, जात न काउ निहारे।
कातिक मास धरम के मईना, कौन पाप हम कीनें।
हम सी नार अनाथ छोड़ कें, कुब्जा कौं सुख दीनें।
अगन मास आगम के मईना, चलौ सखि ब्रज में बसिये।
कै हँसिये ब्रजलाल राउ सों, कै जमुना जल धँसिये।

—इत्यादि

दूसरी ओर से दूसरा गीत दो कोमल कण्ठों से निकल कर वायुमण्डल गुंजा रहा है यह बिलवाई गीत। ननद भौजाई की रसमयी बातों का आनन्द गीत ही में देखिए:—

अनबोलें रहो ना जाय,ननद बाई बीरन तुमाये अनबोला।
गइया दुआउन तुम जइयो, उतै बछड़ा कौं दइयो छोर,
भुजाई मोरी, बीरन हमाये तब बोले —अनबोलें
गइया दुआउन हम गये ते, हमने दओ तो बछड़ा छोर,
ननद बाई बीरन तुमाये नईं बोले —अनबोलें
एरी एहो भुजाई मोरी, रसुइया तपन तुम जइयो,
उनै परस जिमइयो बड़ो थार, भुजाई मोरी,
बीरन हमाये तब बोलें। —अनबोलें
अरी एहो ननद बाई, रसुइया तपन मैं गई ती,
परस जिमाओ उनै थार, ननद बाई बीरन तुमाये नईं बोले
अनबोलें रहो ना जाय, ननद बाई बीरन तुमाये अनबोला।

तीसरी दिशा से चक्की की मधुर ध्वनि के साथ ही साथ सुनाई पड़ रहा है कि हे रघुवीर ! रथ को रोकिये, हम भी आपके साथ बनवास के लिए चलेंगे, गीत ही में रथ का वर्णन, बुनाव की व्याख्या, रथ में बैठी हुई सीता जी और रथ को हाँकने वाले स्वयं रघुवीर तक का उल्लेख है :—

रथ ठाँड़े करौ रघुवीर
तुमायें संगे रे चलौं बनवासा कौं।
तुमाये काये के रथला बने, काये के डरे हैं बुनाव;
चन्दन के रथला बने हैं, औ, रेसम के डरे हैं बुनाव;
तुमायें को जो रथ पै बैठियो, औ' को जो है हाँकन हार।
रानी सीता जू रथ पै बैठियो, राजा राम जू हाँकन हार।

आइए इस नवयुवक किसान के पीछे पीछे चलें। वह गा रहा है :—

प्यारे मोहना, फेर बजा दो बीना।
अन्न बिना इक दुनियाँ तरसै, जल बिन तरसै मीना;
पुरुष बिना इक तिरिया तरसै, निस दिन बदन मलीना।
प्यारे मोहना, फेर बजा दो बीना।
भोर भये चिरई उठ बोली, सूरज से लवलीना;
हमने राम कौ कहा बिगारौ, छोटो कन मोय दीना।
प्यारे मोहना, फेर बजा दो बीना।

एक वृद्ध कृषक अपने खेत की मड़ैया पर बैठा हुआ अलाप रहा है:—

अरे अरे मनुआँ, मनवा ओ रे ! सबसें करलं चिनार।
काल कलौं पंछी रम जैहे, तेरे ऊपर जमहै नईं घास;
खाले, पीले, दे ले, ले ले, और करले भोग विलास।
सब सें हिल ले, मिल ले, और करले तीरथ पिराग;
मटिया, कुमरा ना लैहे, तेरी पूंछ है न कोऊ बात।

उक्त गीतों को ख्याल और दिनी कह कर गाँव वाले गाते और अभूतपूर्व तन्मयता प्राप्त करते हैं, उन का क्षेत्र केवल अपने तक ही सीमित नहीं उन्हें अपने खेत के साथ ही साथ पशु पक्षियों का भी ध्यान है वे तीर्थ यात्रा, धर्म कर्म और लोक परलोक को भी कभी नहीं भूलते।

जिस ऋतु में नागरिक समुदाय कृत्रिम हवा पानी पाकर भी ऊबता और उष्णता में अकुलाता हुआ जान पड़ता है उन दिनों भी गाँवों में नीम, आम, महुआ और बर के बड़े पेड़ों पर झूला डालकर वहाँ का युवक समुदाय मस्ती में झूम झूम कर राछरे, सैरे और मंगादा गाकर आनन्द मनाया करता है, उनकी कल्पनाओं की उड़ान निम्न लिखित गीतों में देखिए। सावन का महीना है बहिन को लिवाने के लिए भाई उसकी ससुराल में पहुँचता है उसकी जेवनार के लिए उसकी बहिन अपनी सास से पूंछती है कि आज रसोई क्या बनाना ठीक है उसकी सास कहती है कि कोदों का भात और बटरा की दाल बनालो तब बहिन कहती है कि सास रानी अपने कोदों और बटरा को रहने दो लाँची के चावल और रज मूंगा की दला बनाऊँगी।

सुनौ सासो, मोरे बीरन आए, उनें कहा रचौं जेउनार।
कुदई पसा लेव कोदन की, और बटरा की दार;
रहन दो सासो कुदई कोदन की, औ रहन दो बटरा की दार।
चाँउर पसा लेव मैं लाँची के, और रज मूँगा की दार।
अपने बीरन कौं देंउ जिमाय,
साउन कजरियाँ जबईं जे बैहैं, अपनी बहिन कौं ल्यांय लिवाय।

× × ×

रित आई मोरे बालम ! लीला रँगाव ।
चार जे महना, लगे गरमी के, बाँस कटा के बिजनयाँ बनाव। रित आई०—
चार जे महना लगे बसकारे, टूटी उसरिया कौं जल्दी छवाव। रित आई०—
चार जे महना लगे जड़कारे, रुईया धुना कें रजइया भराव।
रित आई मोरे बालम ! लीला रँगाव ।

× × ×

बखरी में लगा लेउ, बेला अनार ।
कौना लगा लये, बेला चमेली, कौना लगा लये अनार;
कछिया लगा लये, बेला चमेली, मलिया लाल अनार ।
काये सें गोड़ो, बेला चमेली, काये सें लाल अनार;
खुरपी से गोड़ो, बेला चमेली, कुदरन लाल अनार ।

× × ×

साउन महना नीको लागै, गैंउड़ैं भई हरयाल।
साउन में भुँजइयाँ बै दियौ, भादों में दियौ सिराय;
ऐसो है कोउ भइया धरमी, बहिनन कौं लियो है बुलाय।
आसौं के साउना घर के करौ, आगे के देहैं खिलाय;
सोने की नादें दूद भरी, सो भुँजइयाँ लेउ सिराय।

× × ×

कार्तिक मास का पावन महीना लगते ही स्त्रियों का समूह जिस भक्ति भाव से भगवान कृष्ण के गीत गा कर गङ्गा यमुना, नदी और तालाब पर स्नान करके व्रत रख कर तपस्या करता है वह एक बार फिर हमें अपने सुखद अतीत की स्मृति दिला देता है, मधुर गीत उनमें श्रद्धा भक्ति भाव भरते हैं और जन समुदाय में स्फूर्ति, ब्रज-भूमि के लिए वे कहती हैं:—

सखी री ब्रज देखौ नीक बनौं ।
जा ब्रज की नर नारीं साजी, छोटौ, बड़ौ, सुनौ;
गैर गोबरधन, बंशी बट नौं, फूलौ कुसुम घनौं।
कलस खम्म दूल्हा इक मंदिर, सोभा का बरनौं;
भाँत भाँत के तने चँदोवा, भारी पाल तनौ।

वृन्दावन की लीला देखी, अन्तरधन अपनो;
कृष्ण राधका जपें जुगत सें, जीवन है सपनो।

× × ×

सखी री, मैं तो भई न ब्रज की मोर।
कहाँ रहती, काहा चुनती, काना करती किलोल;
वन में रातो, वन फल खाती, वनई में करती किलोल।
उड़ उड़ पंख गिरैं धरनी में, बीनें जुगल किसोर;
मोर पंख की मुकुट बनाश्रो; बाँदे नन्दकिसोर।
सखी री, मैं तो भई न ब्रज की मोर।

× × ×

उठो मोरे हरि जू भये भुनसारे, गौअन के पट खोलो सकारे।
जागो हरिजू जगावैं जसोदा, जागो हो मथुरा के वासी;
उठके कन्हैया प्यारे गौएँ दोईं, जो नौं राधा दुहनियाँ ल्याई।
काये को गडुआ कायेकी दातुन, काये को जल भर ल्याई जसोदा;
सोनेको गडुआ अम्फ़ाफारेकी दातुन, जमुना को जल भरल्याई जसोदा।
दातुन करो मोरे कुञ्जविहारी, दातुन करो मोरे कृष्ण मुरारी;
जमुना को नीर सुगंध उपटनो, अंग उबट स्नान कराये।

× × ×

गौत्रों को दुहने का कार्य भगवान् कृष्ण हो ने किया था या नहीं इसकी विवेचना करना यहाँ अनावश्यक है जसोदा जी उनको जगाती हैं और गो सेवा की उन्हें याद दिलाती हैं। जब तक गौत्रों से दूध दुहा जाता है तब तक सोने के लोटे में यमुना जल और दातुन राधिका जी लेकर आ जाती हैं। दास दासियों से सेवा लेने की कल्पना करना भी वे अपराध मानते हैं।

स्थानाभाव के कारण टेसू, मामुलिया, हरिजू, भिंझिया और नारे सुअटा के गीतों को दे सकना संभव नहीं किंतु गाँवों में माघ फाल्गुण से चैत तक जिस गीत से कृषक-समुदाय उत्साह, नवजीवन और आनन्द प्राप्त करता है उसकी चर्चा नितांत आवश्यक है। जिनको गांवों के स्वाँग देखने और इन गीतों के सुनने का अवसर मिल सका हो वे भली प्रकार इस कथन का समर्थन ही करेंगे। नाटक, नौटङ्की, रहस लीला और सिनेमा में उन्हें इतना आनंद नहीं मिलता जितना आनंद वे चौकड़याऊ, साखी की फाग और स्वाँग गाने में पाते हैं। उन गीतों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

साखी की फाग

(तुकान्त)

तुपक लछारी बाँदियो, जो बाँअन बल होय;
कर में बोंड़ा राखियो, कउँ सर बदले की होय।
सिपाई यार बैरी के दाव बचायें रइयो।
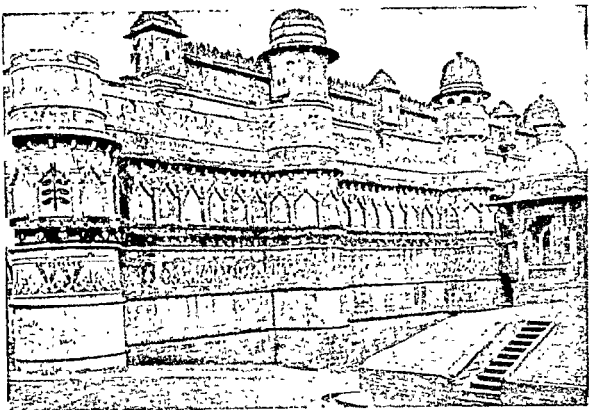
महाराज मानसिंह तोमर द्वारा निर्मित मानमंदिर (ग्वालियर) के भित्ति-चित्र और पत्थर की कारीगरी
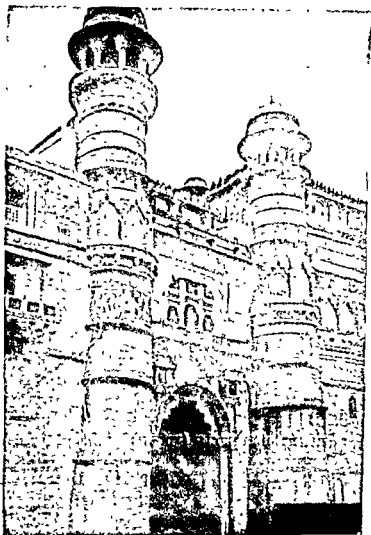
मानमंदिर (ग्वालियर) की विशाल हथिया पौर

मरबौ भलौ विदेस कौ, जाँ अपनौ ना कोऊ,
पशु पंछी भोजन करैं, नगर न रोवैं कोऊ।
मन रे। जीरा सरीसे पाउने।
कपटी मित्र न कीजिए, ज्यों आपू के फूल;
ऊपर लाल गुलाल हैं, नेचें विष के मूल।
यार रस की क्यारिन विष बये रे।

(अतुकान्त)

कजली बन में दौ लगी, जर रये चन्दन रूख;
उड़ जा पंछी देस कौं, क्यों जरत हमाये संग।
पंछी फेर जनम हूएँ न रे।
फल खाये ते प्रेम सौं, रये तुमायी छाँय;
अब का उड़ हैं देस कौं, हम जरें तुमाये साथ।
बिरछा वे पंछी जानो न रे।
खेत तो बइए कपूर के, कसतूरी के बाग;
बाँय तो गइए सपूत की, और निभा ले जाय।
निभा लो बारे की प्रीत बुढ़ापे नों।

फाग (छन्दयाऊ)

रित बसन्त सोभित भई, मईना फागुन लाग;
गोपिन कौ लख प्रेम प्रभु, खेलत भये ब्रज फाग।
खेलत फिरत फाग गिरधारी, सखा भीर लै भारी।

भारी है भीर, उड़ता अबीर; गावत अहीर, सब दै ताला;
बाजत मृदंग, ढप झाँझ संग, डारत हैं रंग, गोपी ग्वाला।
पिचकारी भरमारी,
उड़त गुलाल चहूं दिश छाई, रँग गये अटा अटारी;
खेलत फिरत फाग गिरधारी, सखा भीर लै भारी।

ब्रज बीथन बीथन मची, रँग केसर की कीच;
सखिन छेंक नँदलाल कौं, दीनो रंग उलीच।
रँग दश्रो उलीच, ग्वालन के बीच, गिरधर कौं खींच लै गईं जाई;
काजर गराय, दीनो लगाय, चूनर उड़ाय, रईं मुसक्याई।
बेंदी भाल सँभारी,
करन लगीं सिंगार जनानो, हँस हँस कैं दै तारी;
खेलत फिरत फाग गिरधारी, सखा भीर लै भारी।

ये लोक गीत युग परम्परा से गाए और सुने जा रहे हैं और प्रत्येक नई शताब्दी और पीढ़ी में आबाल, वृद्ध और नव युवकों की ज़बानों पर सुन्दर सुलभ संस्करण प्राप्त करते जाते हैं। इन गीतों की रचना में कितने ही

गीतकारों का हाथ रहा है, उनसे हम परिचित नहीं। किन्तु इसी शताब्दी में सर्वश्री पढ़ीस जी, गङ्गाधर व्यास, और ईसुरी ऐसे गीतकार होगए हैं, जिनके गीतों के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा जा सकता है।

ईसुरी ने विविध विषयों पर फागें गाई हैं किन्तु उनका सर्वोत्तम विषय है प्रेम, प्रेम कला का प्रतिरूप है। इसलिए प्रेम को अध्ययन का एक अच्छा विषय कह सकते हैं।

छायावाद की सजनी के बहुत पूर्व उन्होंने रजउ शब्द की कल्पना की, उसका व्यवहार किया और इतने गीत गा डाले कि आज भ्रम सा हो रहा है कि आखिर ये रजऊ कौन थीं ? और उनका ईसुरी से क्या सम्बन्ध था ? प्रेमिका के चित्रों को जिस स्वाभाविकता से उन्होंने प्रदर्शित किया है वह सुनकर आश्चर्य चकित होकर रह जाना पड़ता है यद्यपि अपने ही गीतों में उन्होंने स्वयम् स्पष्टीकरण कर दिया है कि:—

देखीं रजउ काउ ने नैया, कौन बरन तन मैयाँ।

× × ×

नइयाँ रजउ काउ घर में, विरथाँ कोऊ भर में।

उदाहरणार्थ कुछ गीत देखिए:—

प्रेमिका के घर की देहरी बनने की अभिलाषा प्रेमी को प्रेरित करती है और उसकी अपने शरीर से कहीं अधिक विशेषताएँ बतलाता हुआ प्रेमी कहता है कि विधाता ऐसा स्वर्ण–संयोग क्यों न उपस्थित किया जिससे आते और जाते हुए मुझे अपनी प्रेमिका की चरण-रज प्राप्त कर सकने का तो सुअवसर मिलता ही रहता:—

बिधना करी देह ना मेरी, रजउ के घर की देरी।
आउत जात चरन की धूरा, लगत जात हर बेरी।
लागो आन कान के यँगर, बजन लगी बजनेरी।
उठन चात अब हाट 'ईसुरी' बाट बहुत दिन हेरी।

प्रेमी के दर्शनों की प्यासी प्रेमिका कहती है कि यदि मेरा प्रेमी छल्ला बनकर मेरी उँगलियों में रहता होता तो कितना अच्छा होता, जब मैं मुँह पोंछती तो वे गालों से सहज ही में लग जाते, जब मैं आँखो में काजल देती तो उनके अपने आप दर्शन हो जाते, मैं जब जब घूँघट सँभालती तब तब वे सम्मुख उपस्थित होते और इस प्रकार उनके लिए तरसना न पड़ता:—

जो कउँ छैल छला हो जाते, परे उँगरियन राते।
मौं पोंछत गालन कों लगते, कजरा देत दिखाते।
घरी घरी घूँघट खोलत में, नजर सामने राते।
मैं चाहत ती लख में बिदते, हात जाईं कौं जाते।

प्रेम–पंथ का खटका कैसा होता है इसे भुक्तभोगी भली प्रकार जानते होंगे, छुहारे से भी अधिक और क्या कोई दुबला पतला होगा, हड्डी के ढाँचे पर चमड़ा ही चमड़ा रह गया है और वह भी इतना पतला, रक्त और माँस विहीन, कि आप मकड़े की जाली की भाँति हड्डियाँ देख लें।

जो तन हो गओ सूक छुँआरो, बैसईं हतो इकारो।
रै गई खाल हाड़ के ऊपर, मकरी कैसो जारो।
तन भओ बाँस, बाँस भओ पिंजरा, रकत रओ ना सारो।
कहत ईसुरी सुन लो प्यारी, खटका लगो तुमारो।

प्रेमी को आशा और निराशा के झूले में प्रायः झूलना पड़ता है कंचन-काया और मन-हीरा की क्या दशा होती है इसे इस पंथ के पथिक ही भली प्रकार अनुभव करते हैं:—

जब सें भई प्रीति की पीरा, सुखी नई जौ जीरा।
कूरा माटी भओ फिरत है, इतै उतै मन-हीरा।
कमती आ गई रकत माँस की, बही दृगन सें नीरा।
फूँकत जात बिरह की आगी, सूकत जात सरीरा।
ओई नीम में मानत 'ईसुर' ओई नीम को कीरा।

शरीर का क्या ठीक, इसका भरोसा ही क्या, वृक्ष की डाली से जब पत्ता पृथ्वी पर गिर पड़ता है तब वह फिर डाल में नहीं लगा करता। पशु के चमड़े की तो पनैयाँ (जूते) बन जाया करती हैं किन्तु मनुष्य शरीर तो जलकर मिट्टी में मिल जाता है उसको चिड़ियाँ तक नहीं खातीं:—

तनको तनक भरोसो नइयाँ, राखे लाज गुसइयाँ।
तरुवर पत्र गिरत धरनी में, फिर ना लगत डरइयाँ।
जर बर खाक मिलै माटी में, फिर ना चुनत चिरइयाँ।
जा नर देही काम न आवे, पशु की बनें पनइयाँ।

× ×

इक दिन होत सब ई को गौनो, होनो और अनहोनों।
जानें परत सासरे साँसउँ, बुरो लगे चाय नोनों।
जा ना बात काउ के बस की, हँसी मचै चाय रोनों।
राखो चायें जौ नौं 'ईसुर' दयें इनई भर सोनों।

× ×

नइयाँ ठीक जिंदगानी को, बनो पिण्ड पानी को।
चोला और दूसरो नइयाँ, मानुस की सानी को।
जोगी, जती, तपी, सन्यासी, का राजा रानी को।
जब चायें ले लेउ 'ईसुरी' का बस है प्रानी को।

× ×

बखरी रईयत है भारे की, दई पिया प्यारे की।
कच्ची भींत उठी माटी की, छाई फूस चारे की।
बे बंदेज बड़ी बेवाड़ा, जेई में दस द्वारे की।
किवार किवरिया ऐकउ नइयाँ, बिना कुची तारे की।
'ईसुर' चाये निकारो जिदना, हमें कौन उवारे की।

उक्त गीतों के अतिरिक्त और भी कितने ही प्रकार के गीत हैं जो समय समय पर ऋतुओं और अवसर के अनुकूल गाए जाते हैं जैसे जन्म होते ही सोहर के गीत, मुण्डन, यज्ञोपवीत और विवाह के गीत, अनाज बोते समय, अनाज काटते समय, दिनरी, राछरे, रावला, सैरे और मंगादा इत्यादि। अपने अभावों तथा रोगों में भी वे ग्राम गीतों द्वारा ही चित्त की शांति प्राप्त करते हैं।

लोक-प्रतिमा के प्रतीक हमारे ये लोक-गीत उत्तरोत्तर नवजीवन प्रदान कर भाषा भारती का भण्डार भरते रहें, यही आँतरिक अभिलाषा है।

साहित्य में प्रगतिशीलता

श्री मन्मथनाथ गुप्त

कुछ लोगों के निकट प्रगतिशील साहित्य एक हौवा हो चुका है। इसका नाम लेते ही वे ऐसे मुँह बिचका देते हैं मानो यह कोई गर्हित विषय है जिसका साहित्यिकों के सभ्य समाज में उल्लेख नहीं होना चाहिए था। यह परिस्थिति काफी मजेदार है क्योंकि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक श्री प्रेमचंद केवल प्रगतिशीलों की व्याख्या के अनुसार ही प्रगतिशील थे ऐसी बात नहीं, वे स्वयं भी अपने को प्रगतिशील कहने लगे थे। १९३६ में *अखिल भारतीय प्रगतिशील संघ का जो प्रथम अधिवेशन हुआ था*, वे उसके सभापति थे। उन्होंने इस पद से गर्जना की थी...

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हम में गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं......"

यह तो प्रेमचन्द द्वारा प्रगति की परिभाषा हुई, हम इस पर बाद को आयेंगे कि प्रगतिशीलता क्या है और क्या नहीं, पर यहाँ पर प्रारम्भ के तौर पर इस बात को समझ लेना जरूरी है कि प्रगतिशील होना, या प्रगतिशीलता का तकाजा करना उतना बड़ा पातक नहीं है जैसा कि कुछ साहित्यकारों ने प्रचार कर रखा है।

प्रगतिशीलता के विरुद्ध यह जो वातावरण उत्पन्न हुआ है, उसके कारण को भी ढूँढना पड़ेगा क्योंकि ऐसा किये बगैर हम प्रगतिशीलता को उसके उचित उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ न होंगे। प्रगतिशीलता पार्टीबन्दी से परे की चीज है, पर भारतवर्ष में कई ऐतिहासिक कारणों से इसको एक *अंश तक* कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक करके देखा गया था। यही इसके लिए बुरा साबित हुआ।

जैसा कि होता आया है कम्युनिस्ट पार्टी के लिये यह स्वाभाविक था कि वह जिस भी क्षेत्र में जो भी आन्दोलन चले, उसको अपने दल के लिये काम में लगाने की चेष्टा करे, पर इसका अर्थ यह नहीं कि प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कम्युनिस्ट पार्टी का आन्दोलन है। प्रेमचन्द किसी पार्टी के नहीं थे, पर वे इस समय तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक बने हुये हैं। इस कारण प्रगतिशील साहित्य से इस आधार पर बिदकना कि वह कम्युनिस्ट साहित्य है बिलकुल ऊलजलूल बात है, और ऐसा करके हम कम्युनिस्टों को ख्वामख्वाह वह महत्व देते हैं जो किसी भी तरह उनको प्राप्य नहीं है। यह तो एक विश्व-आन्दोलन है।

यहाँ पर एक बात यह साफ कर दी जाय कि मैं इस लेख में भारतीय कम्युनिस्ट दल के विरुद्ध कोई फैसला सा नहीं दे रहा हूं। कम्युनिस्ट दल एक राजनैतिक दल है, राजनैतिक सहीपन की कसौटी पर ही उसका ठीक मूल्य कूता जा सकता है, और इस लेख में इस विषय पर वाद विवाद खड़ा करना मेरे लिए अनुचित होगा। मेरा केवल इस अवसर पर वक्तव्य इतना ही है कि प्रगतिशील साहित्य किसी पार्टी विशेष की सम्पदा नहीं है। हरि का भजै सो हरि का होई; जो प्रगतिशील उद्देश्यों को साहित्य में अपनी जान में या *अनजान में बल पहुँचाता है, उसकी विरोधी प्रवृत्तियों को क्षीण करता है, वही प्रगतिशील साहित्यिक है, चाहे*

यह कम्युनिस्ट हो तो, चाहे वह सोशलिस्ट हो तो, चाहे कांग्रेसी हो या कुछ भी न हो तो भी। प्रगतिशील दृष्टिकोण को बल पहुँचाने के लिए सबसे पहिले इसी बात का स्पष्टीकरण ज़रूरी है।

प्रेमचन्द ने उसी भाषण में कहा था—"हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फंस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

"परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन बहलाने की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएं नहीं ढूँढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।"

हमारे लेख के उद्देश्य के लिए इस पहलू का इतना ही स्पष्टीकरण यथेष्ट है, पर जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की बात छिड़ गई, तो एक बात और साफ कर दी जाय। द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर जब समाजवादी रूस पर फैसिष्टवादी हिटलर ने अकारण आक्रमण कर दिया, तो यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी ने ६ महीने बाद जनयुद्ध का नारा दिया। इस नारे के अनुसार कुछ कहानियाँ, कविताएं आदि हिन्दी, बंगला में लिखी गईं। कहा जा सकता है कि यह साहित्य कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्य था, पर इसे प्रगतिशील कदापि नहीं कहा जा सकता, सच तो यह है कि इन कहानियों, कविताओं को साहित्य में ही स्थान नहीं मिल पाया।

भारतीय जनता जिसमें कांग्रेसी, क्रांतिकारी, सोशलिस्ट सभी शामिल थे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ जीवन मरण संग्राम में लिप्त थी, पर कम्युनिस्टों तथा रायिस्टों के द्वारा कृत्रिम गर्भाधान की प्रक्रिया से उत्पादित इस साहित्य में भिन्न ही नारे दिये गये। ऐसी कहानियों, कविताओं को सही रूप से साहित्य में स्थान नहीं मिला। आज उसका कहीं भी पता नहीं है।

मैंने ऊपर के ऐतिहासिक उदाहरण को इस बात को प्रमाणित करने के लिए पेश किया कि प्रगतिशील साहित्य कोई बन्दर नहीं है कि कोई दल अपनी थीसिस बदलने के साथ ही उसको जैसे चाहे तैसा नाच नचावे। यहीं पर हम चलते हुए इस बात को भी नोट कर लें कि इसी नाच नचाने की जिद के कारण ही बहुत से बड़े प्रगतिशील साहित्यिक कम्युनिस्टों से या तो हट गये, या तो मुँह से उनके साथ एक हद तक बने होने पर भी उनका साहित्य यहीं से उनसे मुक्त हो गया। कई क्षेत्रों में तो ऐसे साहित्यिकों पर इसकी प्रतिक्रिया इतनी खराब हुई कि वे रहस्यवाद, अश्लीलता, हालावाद आदि के चक्कर में फंस गये। इस ऐतिहासिक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशीलता को किसी दल के पहिये के साथ बांध कर चलाने की चेष्टा

साहित्य के सम्बन्ध में यह कल्पना कि वह एक मदमत्त करी है, चाहे जिधर भूम जाय बहुत सी थोथी बात है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो सभी देशों में साहित्य अपने आदिम काल से कुछ दूसरा ही उद्देश्य सिद्ध करता रहा है। सभी सभ्यताओं में आदिम साहित्य धार्मिक ढंग के थे, और उनका उद्देश्य था एक आदर्श के नाम पर यथापूर्व या समाज जैसा है, उसे उस रूप में कायम रखना था। संगठित धर्मों के उदय के पहले जो कबीले का काव्य था, उसमें भी कबीले को कायम रखने की बात ही होती थी। प्रेम भी कबीले के ढंग से होता था। सबका सब कबीला साहित्य तथा धार्मिक साहित्य प्रचार साहित्य है।

यहाँ तकतो सब ठीकहै, पर जब हमारे सामने मृच्छकटिक, शकुन्तला, मेघदूत, डेकामेरान, हैमलेट, रोमियो जूलियट मर्चेंएट आफ वेनिस आदि पुस्तकें आतीहैं, याने ऐसे साहित्य का उदय होताहै जिसे धार्मिक साहित्य नहीं कहा जा सकता, तब हम से पूछा जाता है कि यह साहित्य क्या है? इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसे साहित्य की व्याख्या अपेक्षाकृत कठिन है, पर ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार के साहित्य में भी वे ही नियम क्रियाशील थे जिनका पहले उल्लेख किया गया है, मेघदूत यद्यपि एक विरही की गाथा है, पर उसका विरह है। शकुन्तला एक धार्मिक कहानी का ही रोमैंटिक रूप है। शेक्सपियर के नाटकों में बहुत से उपादान हैं, कुछ क्रांतिकारी उपादान हैं, कुछ अपरिवर्तनवादी उपादान हैं। इनका स्पष्टीकरण एक ब्योरेवार आलोचनामें ही हो सकता है। किसी भी लेखक को लीजिये, वह कितनी भी उड़ान भरे, पर उसका एक आधार होता है। और यह आधार जिन विचारों से बना है, उनके साथ एक विशेष सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना मिली हुई है।

तो क्या मेघदूत में भी मनोरंजन के अलावा और कोई बात नहीं है? मैं यह नहीं कहता पर यह मनोरंजन क्या चीज़ है इसका तो विश्लेषण किया जाय। क्या मनोरंजन के साथ एक व्यक्ति के अन्य सारे विचारों का कोई सम्बन्ध नहीं है? मनोरंजन कहिये, अनुभव का विनिमय कहिये या रस की सृष्टि कहिए, इनके साथ हमारे संस्कारों तथा विचारधाराओं का गहरा सम्बन्ध है। परकीया प्रेम उच्च वर्ग के साहित्य का एक प्रधान उपजीव्य इस कारण रहा है कि इन्द्र से लेकर सब शोषक वर्गों के सदस्यों का यह एक प्रधान कार्य रहा है।

अतएव साहित्य की सामाजिक व्याख्या कोई कपोल कल्पना नहीं। अवश्य इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जिस रचना में प्रगति का जितना प्रचार होगा, वह उतना उत्तम साहित्य होगा। नहीं इसके लिये ज़रूरी यह है कि कोई रचना साहित्य होने के साथ ही प्रगतिशील भी हो, तभी वह उत्तम के पर्याय में परिगणित होगी। जो लोग कला, कला के लिए इस प्रकार के नारे देते हैं, उनको यह स्मरण रखना चाहिये केवल सोवियट रूस के कलाकार ही नहीं आधुनिक युग के सबसे ऊँचे अधिकांश साहित्यिक जैसे इब्सेन, शा, गैल्सवार्दी आनातोल फ्रांस, रोम्यां रोलां, टाल्सटाय, चेकाफ, अप्टन सिंक्लेयर, सिंक्लेयर लुइस, रवीन्द्रनाथ, शरत, प्रेमचन्द अधिकांश रूप में प्रगतिशील विचारों को लेकर चले, और उनके साहित्यों में किसी न किसी विचार का प्रचार किया गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह माना पर म्विद मोपासां कौन से विचार लेकर चले, तो क्या वे साहित्यकार नहीं थे?

इसका उत्तर यह है कि वे साहित्यकार अवश्य थे, पर उनका अधिकांश साहित्य पलायनवादी किस्म का है। जब फ्रेंचमैनों के सामने बड़ी बड़ी समस्याएँ थीं तब केवल अपनी प्रतिभा का व्यय व्यभिचार लीला के वर्णन में करना उचित नहीं था। पर यह समझना गलत होगा कि ये अर्द्ध अश्लील कहानियाँ सामाजिक व्याख्या से बरी हैं। जिस प्रकार न्युटन के पहले भी माध्याकर्षण का नियम क्रियाशील था, और ऐसे लोगों तथा चीज़ों पर भी क्रियाशील है जो उस नियम से सर्वथा अपरिचित हैं, उसी प्रकार साहित्य की सामाजिक
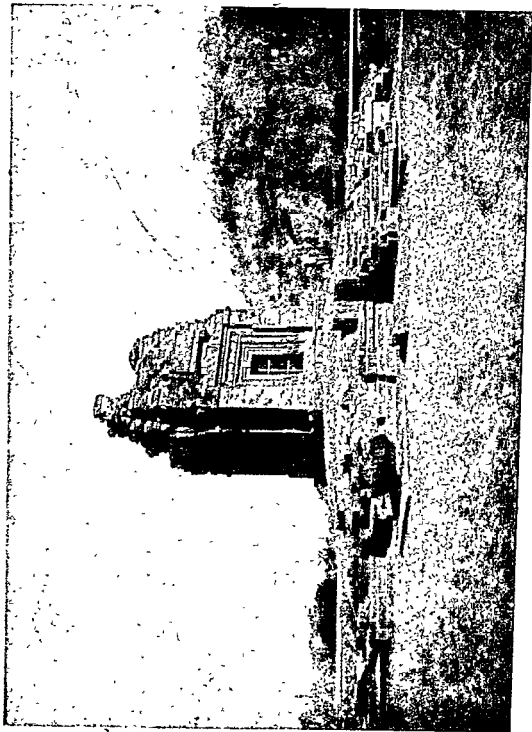
देवगढ़ का विष्णुमंदिर

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

कबीर की सामाजिकता

श्री रामकुमार वर्मा

उपनिषद् काल से लेकर हिन्दी के धार्मिक काल तक भारतीय दर्शन का यह प्रमुख दृष्टिकोण रहा है कि आत्मा और परमात्मा के वास्तविक रूप को समझ कर उनके पारस्परिक सम्बन्ध में जीवन के सच्चे आनन्द की अनुभूति प्राप्त की जाय। ईशावास्योपनिषद् के—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुन्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

अर्थात् 'जगत में जो कुछ भी है वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है, अर्थात् उसे भगवत् स्वरूप अनुभव करना चाहिए। उसके त्याग मात्र से तू अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा मत कर।' इस भावना से लेकर गोस्वामी तुलसीदास के—

'सिया राम मय सब जग जानी,
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।'

तक हमारे भारतीय चिन्तकों ने इसी सत्य की स्थापना की है। इस दृष्टिकोण में ईश्वर की सत्ता इतनी व्यापक मान लीगई है कि संसार का प्रत्येक कण उसकी शक्ति से स्थिर है और उसके मूलाधार में एक ही सत्य है। संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है वह विविध नाम रूपों से भले ही अलग जान पड़े किन्तु उसके मूल में एक ही सत्ता है इसीलिए ईशावास्योपनिषद् में इन नाम रूपों के परित्याग के अनन्तर जो कुछ भी शेष रहता है उसी के उपभोग की बात कही गई है जो इन नाम रूपों के भेद को दूर कर देते हैं। उनके लिए संसार की सभी वस्तुएँ एक ही रंग में रँगी हुई ज्ञात होती हैं। इसीलिए तो तुलसीदास ने कहा है—

'निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध।'

इस परम्परा को व्यावहारिक रूप देने में सबसे पहले संत कबीर का नाम आता है। उन्होंने अपनी सामाजिक दृष्टि के निर्माण में इस आध्यात्मिक दृष्टि का ही आश्रय लिया है जो हमारे भारतीय दर्शन में शताब्दियों से निखरती चली आरही है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कबीर ने अपने धार्मिक पक्ष के चिन्तन को सामाजिक दृष्टि से चरितार्थ किया है।

जिन्होंने कबीर की बानी पढ़ी और समझी है वे यह सरलता से जान सकते हैं कि कबीर ने युगों से चली आने वाली धार्मिक रूढ़ियों को जड़ से उखाड़ दिया और सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। जहां उन्होंने धार्मिक पक्ष में मूर्ति और अवतारवाद का खण्डन किया वहां सामाजिक पक्ष में उन्होंने जाति-भेद वर्ग-भेद और छुआछूत की घोर निन्दा की। इन दोनों पक्षों में एक गहरा सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध जान लेना कबीर के सामाजिक सिद्धांतों के दृष्टिकोण को समझ लेना है।

वेदान्त और सूफ़ीमत में ब्रह्म या हक़ की एक सी स्थिति है। वेदान्त में ब्रह्म समस्त प्राकृतिक अनुबंधों से रहित होकर सर्वोपरि है और सर्वोपरि होते हुए भी वह सृष्टि के कण-कण में वर्तमान है। अर्थात् वह संसार में परिव्याप्त होते हुए भी संसार से परे है। जिस प्रकार बहुरंगी पंखों वाला पक्षी अनेक बार जल में डूबकर भी अपने पंखों के रंग नहीं खोता वरन् जल से वह उन्हें और भी निखार लेता है, उसी प्रकार सर्वोपरि ब्रह्म संसार के कण-कण में समा कर भी अपनी सर्वोपरि सत्ता को और भी महान् बना लेता है। सूफ़ीमत में हक़ की संज्ञा ज़ात और सिफ़त से व्यक्त होती है इसे 'लाहूत' और 'नासूत' कह लीजिए। 'लाहूत' से हक़ की विशेषता खल्क से ऊपर रहने की है और 'नासूत' से खल्क के ज़र्रे ज़र्रे में मौजूद रहने की है।

लोका जानि न भूलौ भाई
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।
अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा,
ता नूर थे सब जग कीया कौन भला कौन मंदा।
ता अला की गति नहीं जानी गुरि गुड़ दीया मीठा;
कहै कबीर मैं पूरा पाया सब घटि साहिब दीठा।

इन दोनों दृष्टिकोणों से कबीर ने अपने ब्रह्म या राम को संसार से अलग भी माना है और संसार में वर्तमान रहने वाला भी। जब राम ने संसार की हर एक वस्तु के बनाने में अपनी सत्ता रक्खी है तब फिर वस्तुओं और जीवों में भेद कैसा? नाम रूप की पहिचान तो मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए बना ली है और यह नाम रूप हमेशा बदलने वाला है; कभी स्थिर नहीं रह सकता। जब हमारा शरीर ही एक सा नहीं रहता, हम ही बदल जाते हैं, तब संसार की वस्तुओं के बदलने में संदेह कैसा? इसी शरीर में हम बालक थे, युवक हुए, प्रौढ़ हुए और वृद्ध हुए। कभी बच्चे, कभी जवान, कभी अधेड़ और कभी बुड्ढे के नामों से पुकारे गये। सब नाम और रूप स्थिर कैसे कहे जा सकते हैं? जिसे हम पेड़ कहते हैं वह कुछ दिनों में एक ठूंठ रह जाता है, वही बढ़ई के घर लकड़ी बन जाता है, उसी से मेज़, कुर्सी और आल्मारी बनी। इनके टूटने फूटने पर उसे 'अंगड़–खंगड़' कहा, जलाने के बाद कोयला और फिर राख। एक ही वस्तु कितने रूपों और नामों में परिवर्तित हुई, इसी लिए संसार में नाम रूप को महत्व नहीं दिया जा सकता। इस नाम रूप के आधार पर यदि हम आपस में लड़ाई झगड़ा करें तो इससे हमारी बुद्धि की हीनता ही ज्ञात होती है। इन समस्त नाम रूपों में ब्रह्म की जो सत्ता है, उसी को मानना चाहिए।

इस धार्मिक तत्व में ही कबीर ने सामाजिक या साम्प्रदायिक दृष्टि रक्खी है। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण शूद्र, गरीब अमीर, राजा भिखारी आदि में क्या भेद है? धन–सम्पत्ति या सुविधा–असुविधा के दृष्टिकोण से ही तो नामों के भेद हुए हैं और यह धन–सम्पत्ति या सुविधा–असुविधा तो परिस्थिति और समाज ने अपने विचारों से बना रक्खी है। वह प्रत्येक युग में बदल सकती है, लेकिन मनुष्य तो मनुष्य ही रहेगा। ऐसा तो नहीं होता कि राजा की तीन आंखें हों और भिखारी की सिर्फ एक ही या राजा के खून का रंग लाल हो और भिखारी के खून का रंग हरा या पीला। राजा या रंक, हिन्दू या मुसलमान कोई भी हो वह मनुष्य है उसके हृदय में समान रूप से प्रेम और घृणा को स्थान मिलता है। ठंड या गरमी का उसे समान रूप से अनुभव होता है। शैशव, यौवन और वृद्धावस्था उसके शरीर में एक सा परिवर्तन करती है। आंसुओं की

धारा और हँसी एक समान कष्ट और सुख का परिचय देती है। एक ही तत्व ने उनका निर्माण किया है और इसी रूप में हमें उनका आदर करना चाहिए। गाय चाहे लाल हो या पीली उसका दूध तो हमेशा सफेद ही रहेगा। चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो या शूद्र उसके रक्त का रंग तो लाल ही है क्योंकि अन्तत: उसका निर्माण एक ही तत्व से हुआ है। इसी प्रकार ब्रह्म एक है सिर्फ नामों का भेद है। कोई उसे राम या केशव कहता है कोई रहीम या करीम। केवल शब्दों से उस ब्रह्म का रूप कैसे बदल सकता है! आपका पुत्र आपको बाबू जी कहता है, और आपका भतीजा आपको चाचा जी। क्या आप बाबू जी और चाचा जी साथ साथ नहीं हैं? अवश्य हैं, यदि आपका पुत्र चाचा कहने के कारण अपने भाई को मार डाले या आपका भतीजा बाबू जी कहने के कारण अपने भाई को मार डाले तो आप दोनों को क्या कहेंगे? इन्हीं नामों के संबंध में महात्मा कबीर कहते हैं।

हमारै राम रहीम करीम कैसो अलह राम सति सोई,
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई।
इनकै काजी मुला पीर पैकंबर रोजा पछिम निवाजा,
इनकै पूरब दिसा देव द्विज पूजा ग्यारसि गंग दिवाजा।
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू दहूंठाँ राम खुदाई,
जहाँ मसीति देहुरा नाँही तहाँ काकी ठकुराई।
हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरु कनराई,
अरध उरध दस हूं दिस जित तित पूरि रह्या राम राई।
कहै कबीरा दास फकीरा अपनी रहि चलि भाई,
हिन्दू तुरक का करता एकै ता गति लखी न जाई।

इस प्रकार कबीर ने समाज को जाति भेद से ऊपर उठाने की बात कही है। प्रत्येक संत और महात्मा ने इसी सत्य को समझ कर जातियों के पारस्परिक प्रेम की बात कही है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने तो इसी सत्य की घोषणा करते हुए संकीर्ण साम्प्रदायिकता की बलि–वेदी पर अपने प्राण न्योछावर कर दिए।

यही सत्य कबीर ने घोषित किया। हिन्दू और मुसलमान में परस्पर प्रेम भाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने धर्म के आचारों और उसकी रूढ़ियों को तोड़ा। इन्हीं आचारों और रूढ़ियों ने अनेक धर्मों की जड़ जमाई है और सारी मानव जाति को विविध प्रकारों के धर्मों में बांट कर आपस में विरोध उत्पन्न कर दिया है। वे हिन्दुओं से कहते हैं—

जीवत पितर न मानै कोई मुएं सराध कराहीं,
पितर भी बपुरे कहु किउ पावहिं कऊआ कूकर खाहीं।
मो कउ कुसल बतावहु कोई,
कुसल कुसल करते जग बिनसै कुसल भी कैसे होई।

माटी के करि देवी देवा तिसु आगे जीउ देहीं,
ऐसे पितर तुम्हारे कहीअहि अपना कह्या न लेहीं ।
सरजीउ काटहिं निरजीउ पूजहिं अन्त काल कउ भारी,
राम नाम की गति नहीं जानी भै डूबे संसारी ।
देवी देवन पूजहिं डोलहिं पारब्रह्मु नहीं जाना,
कहत कबीर अकल नहीं चेती विषया सों मन माना ।

इस पद में कबीर ने सच्चे राम और परब्रह्म को पहिचानने का आदेश दिया है। इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों से कहा—

मुलां करिल्यौ न्याव खुदाई,
इहि विधि जीव का भरम न जाई।
सरजी आनै देह बिनासै माटी बिसमिल कीता,
जोति सरूपी हाथ न आया कहौ हलाल क्या कीता ।
कुकड़ी मारै बकरी मारै हक हक हक करि बोलै,
सबै जीउ सांई के प्यारे उबरहुगे किस ओलै ।
दिल करि पाक पाक नहीं चीन्हां उसदा खोज न जाना,
कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन माना ।

इस प्रकार कबीर ने मुसलमानों के भी समस्त बाह्य आचारों का खंडन कर एक ही ब्रह्म को पहिचानने का आदेश दिया। जब हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं है तो ब्राह्मण और शूद्र में कैसे भेद हो सकता है? उन्होंने कहा—

गरभ वास महि कुल नहिं जाती,
ब्रहम बिन्दु ते सभु उतपाती ।
कहु रे पंडित बामन कब के होए,
बामन कहि कहि जनमु मत खोए ।
जो तूं ब्राहमणु ब्रहमणी जाया,
तउ आन बाट काहे नहीं आया ।
तुम कत ब्राहमण हम कत सूद,
हम कत लोहू तुम कत दूध ।
कहु कबीर जो ब्रहमु बीचारै,
सो ब्राहमणु कहीयतु है हमारै ।

कबीर ने धर्म और समाज के वास्तविक रूप को पहिचानकर एक ऐसे विश्वधर्म की स्थापना की जिसमें केवल एक ईश्वर है और उसकी ज्योति से उत्पन्न संसार के समस्त जीव हैं। उनमें नाम रूप का भेद भले ही हो, मिट्टी के रूप-बाहुल्य का भेद ही क्यों न हो किन्तु सब में एक ही तत्व की प्रधानता है, सब उसी स्वर्ण के बने हुए आभूषण हैं। आकार, नाम भले ही जुदा जुदा हों लेकिन सब में समान रूप से स्वर्ण वर्तमान है। कबीर का समाज और सम्प्रदाय मनुष्य है और कबीर की सामाजिकता मानवता है, उन्होंने इसी भाव को एक पद में कितनी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है—

हम तो एक एक करि जाना,
दोई कहै तिनहीं कौं दोजग जिन नाहिंन पहिचाना।
एकै पवन एक ही पानी एक जोति संसारा,
एक ही खाक घड़े सब भांडे एक ही सिरजनहारा।
जैसे बाढ़ी काष्ट ही काटै अगिनि न काटै कोई,
सब छटि अंतरि तू ही व्यापक धरै सरूपै सोई।
माया मोहे अर्थ देखि करि काहे कूं गरवाना,
निरभै भया कछू नहीं व्यापै कहै कबीर दिवाना।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि जिस ऐक्य और पारस्परिक सहानुभूति की बात आज से साढ़े चार सौ वर्ष पहले संत कबीर ने कही थी वही बात आज भी उतनी ही सत्य है और आज हम अपनी नवीन राष्ट्रीयता के निर्माण में महात्मा कबीर के दृष्टिकोण से लाभ उठा सकते हैं।

संगीत और समाज

श्रीभगवानदास माहौर

संगीत और जीवन

जीवन और कला का सम्बन्ध नित्य और अविच्छेद्य है। कला के विकास को देखकर ही हम जीवन के उच्च या नीच स्तर का निर्णय कर सकते हैं। जिस जीवन में हम कला के उच्चतर विकास को देखते हैं उसे हम उच्चतर जीवन कहते हैं और जिसमें कला का विकास नहीं हुआ होता है उसे हम निम्न स्तर का जीवन कहते हैं।

मनुष्येतर प्राणियों में भी कला और कला प्रियता पाते हैं। कला का हमें यहां व्यापक अर्थ अभीष्ट है। मकड़ों का प्रणय नृत्य, मोर का नृत्य आदि पशुकला के उदाहरण हैं। हम देखते हैं कि 'कला' की ये सभी अभिव्यक्तियां जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध होती हैं, वे निरुद्देश्य नहीं होतीं प्रत्युत प्रयोजनपूर्ण होती हैं; 'कला कला के लिए' ही वे नहीं होतीं प्रत्युत कला जीवन के लिये है इसको ही वे सूचित करती हैं।

मानव समाज में तो हम कला को मानव जीवन के प्रारम्भ से ही अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध पाते हैं। मानव समाज कभी भी कलाहीन नहीं था, ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक काल में मानव समाज का कलाहीन कोई काल नहीं था, यह मानने के लिए हमारे पास ऐतिहासिक कारण है और प्रमाण भी है। गुहा मानव की कला कृतियों के हमें उत्कृष्ट नमूने प्राप्त हुए हैं। गुफाओं की दीवारों पर चित्र के रूप में अभिव्यक्त होने के पूर्व ही गुहा मानव की वाणी के द्वारा गीतरूप में उसकी कला अभिव्यक्त हुई होगी। यह इतनी स्वाभाविक बात है कि इसके विषय में विवाद के लिए विशेष अवकाश नहीं होना चाहिए।

यह निर्विवाद माना जा सकता है कि मनुष्य जब से मनुष्य के रूप में आया है नृत्य और गीत के रूप में उसकी कला सदा उसके साथ रही है। मनुष्य ने मनुष्य होने के बहुत काल बाद गीत और नृत्य कला विकसित नहीं की है; इसके विपरीत यह मानना अधिक समंजस है कि मनुष्य के मनुष्य रूप में विकसित होने के साथ साथ ही गीत और नृत्य कला का भी विकास होता रहा है। मनुष्य की उत्क्रान्ति के इतिहास में जिसे मानव अभिजनं प्रीमाटीज़ (Primates)कहा जाता है उसको जब हम मानव होमो सेपीन्स (Horno Sapins) के रूप में विकसित हुआ पाते हैं तो उस समय में वह नृत्य और गीत कला विहीन नहीं था। यदि हम स्पष्ट शब्द विहीन स्वरों के उतार चढ़ाव को 'गायन' या ऐसी ही कोई संज्ञा दे सकें तो हम कह सकते हैं कि मनुष्य में संभाषण और गायन का साथ ही साथ विकास हुआ है। यह मानने के लिए भी अवकाश है कि शायद काफी स्पष्टता से बोल चाल सकने के पूर्व ही मनुष्य गा सकता रहा होगा, वह अपनी वाणी का एक कच्चे प्राथमिक रूप में स्वर और लय से युक्त उपयोग करता होगा। स्वर और लय का होना ही तो संगीत का लक्षण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत सदा मानव जीवन, मनुष्य के सामाजिक जीवन में रहा है और सभी मानवीय कलाओं में संगीत गायन और नृत्य प्रमुख और सबसे पहले अभिव्यक्त होने वाली कला रही है। अन्य कलाओं की भांति व्यापक रूप में यह भी जीवन के लिए रही है, संकुचित अर्थ में केवल कला के लिए ही

नहीं। कला और जीवन का नित्य सम्बन्ध मान कर ही हम कला के विकास को समझ सकते हैं। कला के इतिहास का आधार जीवन का इतिहास ही हो सकता है। जैसे जैसे मानव जीवन विकसित होता गया उसके साथ साथ जीवन की आवश्यकताओं और अनुभूतियों के अनुरूप ही कलाओं का विकास हुआ है। यही बात संगीत के विषय में भी है जो मनुष्य की सब से प्राचीन कला है। अभी भी असभ्य या अर्द्धसभ्य सामाजिक जीवन में रहने वाली जो मानव जातियां हमें मिली हैं, या जिनका ऐतिहासिक वर्णन हमें विश्व साहित्य में प्राप्त हुआ है उनकी कला की प्रयोजन पूर्णता स्पष्ट ही दिखती है। उनके नृत्य एक प्रकार से उनके जीवन संघर्ष की उपयोगी बातों की ही अभिव्यक्तियां होती हैं, और वे उनके जीवन यापन में सहायक भी होती हैं। जब नृत्य के विषय में हम यह स्पष्ट ही देखते हैं तो उनके संगीत में भी—जो नृत्य का अभिन्न साथी है—यही बात होना चाहिए। यह दूसरी बात है कि उनका संगीत हमारे सुविकसित संगीत के अभ्यस्त कानों को कर्ण कटु और केवल शोरगुल और ही प्रतीत हो और उनके नृत्य केवल उछल कूद लगें। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वे उस विशिष्ट मानव जीवन की सांगीतिक अभिव्यक्तिया और वे भी प्रयोजनपूर्ण अभिव्यक्तियां हैं।

युग विशेष के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति ही युग विशेष की कला में होती है। वह युग विशेष की वैयक्तिक और सामूहिक आवश्यकताओं, अनुभूतियां—हर्ष, शोक, उत्साह, आशा, भय आदि को अभिव्यक्त करती है। यह बात ध्यान में रखने की है कि भिन्न भिन्न युग विशेषों में वैयक्तिक आवश्यकतायें और अनुभूतियां भी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही होती हैं अतएव भिन्न भिन्न युगों की कलाओं में तदनुरूप भिन्नता पाई जाती है। जीवन की परिस्थितियां, उसका रूप, और उसकी आवश्यकतायें और विशिष्ट अनुभूतियां एक सी नहीं रहतीं, उनमें उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। अतएव जीवन को कलात्मक अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन और उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। कला क्योंकि जीवन से अविच्छेद्य रूप में सम्बद्ध होती है अतएव वह भी कभी एक सी ही नहीं रह सकती, उसके रूप में भी परिवर्तन और विकास, अर्थात् प्रगति अपरिहार्य और अभीष्ट भी हैं।

संगीत और प्रगति

कला के साथ प्रगति उसी प्रकार संश्लिष्ट है जैसे जीवन के साथ। कला की प्रगति के नियम भी जीवन की प्रगति के भांति ही द्वन्द्वात्मक हैं। कला की उत्तरोत्तर प्रगति का इतिहास भी मानव प्रगति के इतिहास की भांति क्रान्तियों का इतिहास है। जिस प्रकार सामाजिक जीवन की एक अवस्था में उसके भीतर पहले से ही विद्यमान उसके विरोधी तत्वों के उत्तरोत्तर विकसित होते जाने से और अन्ततः इस विरोध के पूर्ण विकसित हो जाने से एक क्रान्ति होती है और सामाजिक जीवन एक उच्चतर भूमिका प्राप्त करता है, यही प्रकार कला की प्रगति में भी होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार हम जीवन में उत्थान पतन पाते हैं उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी उत्थान पतन होता है। कला के एक रूप का उत्थान, फिर उसके विरोध का विकास, फिर उस रूप का पतन और उसके स्थान में एक नवोत्थान—यही कला की प्रगति का भी क्रम होता है।

समाज की भौतिक परिस्थितियों की ही अभिव्यक्ति और उनका ही प्रतिबिम्ब समाज के मानसिक व्यापार में होता है। अन्य ललित कलाओं की भांति जीवन की भौतिक सामाजिक परिस्थितियों के अनुरुप ही संगीत का भी विकास हुआ है। वास्तु और मूर्ति निर्माण कला में भौतिक सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्बित होना हम स्पष्ट ही देख सकते हैं। चित्र कला में भी यह दिखता है और साहित्य में तो यह बहुत ही स्पष्टता से व्यक्त होता है। संगीत का आधार स्वर-लय रूप अति सूक्ष्म है अतएव यह बात उसमें इतनी स्पष्टता से प्रकट नहीं दिखती। परन्तु सूक्ष्म परिदर्शन से युग विशेषों के संगीत की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से समीक्षा करने से हम
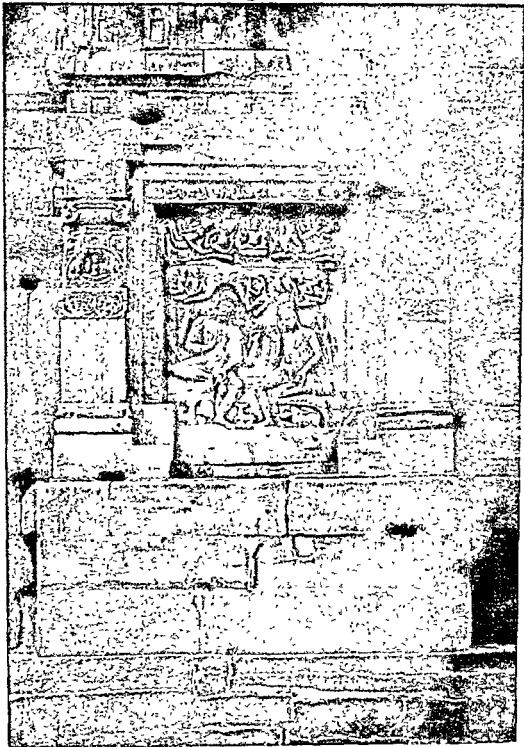
नर-नारायण तपश्चर्या

विष्णुमंदिर का पूर्व की ओर का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

देख सकते हैं कि युग विशेष का संगीत उसकी विशिष्ट सामाजिक और भौतिक परिस्थितियों, आवश्यकताओं और अनुभूतियों के अनुरूप ही होता है।

संगीत के इतिहास की आवश्यकता

प्रगति और विकास की ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संगीत के एक समंजस इतिहास लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है। यह इतिहास हमें सांगीतिक प्रगति के नियमों को समझाने में सहायक होगा और आगे की प्रगति का मार्ग प्रशस्त करेगा। वास्तविक प्रगति के लिये यह आवश्यक होता है कि अभीतक की गति का सिंहावलोकन कर लिया जाय तथा उसके मूल सिद्धान्तों को भली भांति समझ लिया जाये। पूर्व अतिक्रान्त पथ का ज्ञान प्राप्त किए बिना तथा उस पथ गति के नियमों को समझे बिना जो गति होगी वह 'प्रगति' न होकर 'अधोगति' भी हो सकती है। जिस प्रकार अन्य विज्ञानों और राजनीति आदि की प्रगति के विषय में सिद्धान्त व्यवस्था या शास्त्रज्ञान और पूर्वेतिहास का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है उसी प्रकार सांगीतिक प्रगति के लिए भी उसका प्राचीन और तात्कालिक शास्त्रज्ञान (Theory) और उसके अब तक के इतिहास का ज्ञान होना भी नितान्त आवश्यक है। यहां भी शास्त्रज्ञान और व्यवहार की परस्पराश्रयता की बात उतनी ही सत्य है जितनी की अन्य विषयों में। बिना शास्त्र-ज्ञान के व्यवहार यहां भी अन्धा है और बिना व्यवहार के शास्त्रज्ञान पंगु।

वैदिक संगीत तो हमारे लिये, कुछ प्राथमिक रूप में ही सही, परन्तु फिर भी कुछ न कुछ, वेद के सस्वर पाठ में सुरक्षित है। शास्त्रों में जिसे गान्धर्व या मार्ग संगीत कहा गया है, जिसे गंधर्व किन्नर प्रयुज्य मोक्ष हेतुक कहा गया है, उसकी कोई रूपरेखा हमारे सामने सुलभ नहीं है। इस सम्बन्ध में बहुत गहरे और श्रम साध्य अनुसन्धान की आवश्यकता है। बाद के जाति-संगीत-प्रबन्ध वस्तु, रूपक रूप संगीत का भी अच्छा ज्ञान आज मिलता नहीं है। प्राचीन ग्रंथों में स्वर ताल लिपि का प्रयोग न होने के कारण महान हानि हुई है। 'जाति' गायन का ह्रास होने और 'राग' गायन का उत्थान होने के बाद का ही कुछ इतिहास हमें प्राप्त है और आज अभिजात संगीत में ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा ही पाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनके उत्थान का क्रम भी इसी प्रकार रहा है, और हम इनके ही रूप की समीक्षा कर सकते हैं; तथा उनके समाज-सामंजस्य को देख सकते हैं। इनको जन्म देने वाले समाज की अवस्था की, उसकी आवश्यकता की, उसकी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को हम उनमें देख सकते हैं।

संगीत के इतिहास के तीन युग

इस प्रकार भारतीय संगीत के हम मोटी तौर पर तीन युग मान सकते हैं:—(१) वैदिक युग, (२) मध्य युग और (३) अभिजात (Classical) वैदिक संगीत, जिसका उदाहरण वेद के सस्वर पाठ में जैसी कुछ दशा में है, हमारे सामने है ही। उसे हम संगीत का प्रारम्भिक काल भी कह सकते हैं। उस समय संगीतशास्त्र का कोई विशेष विकास नहीं हुआ था। यह वेद के स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन भेदों से ही स्पष्ट है। ऊँचे स्वर को मोटी तौर पर उदात्त और नीचे को अनुदात्त और न ऊंचा न नीचा, उच्चनीच स्वर के समाहार को स्वरित कहा गया। यानी वैदिक काल में अभी श्रुति स्वर व्यवस्था नहीं विकसित हुई थी। सामवेद काल में सप्त स्वरों का विकास हुआ प्रतीत होता है। भारत की तरह यूनान में भी हम इसी प्रकार संगीत का विकास देखते हैं। वहाँ पर पहले पाँच स्वर ही थे, बाद में सप्तस्वरों का सप्तक हुआ और स्वर-विकृति की सिद्धांत योजना भी समाविष्ट हुई।

वैदिक संगीत में हम जोरदार जीवनमय संगीत पाते हैं जो मानव इतिहास के प्रारम्भिक काल के अनुरूप है। इसमें सीधे सरल स्वरों की योजना ही सर्वत्र दिखती है। तान-ताल-वैचित्र्य आदि आलंकारिक चमत्कृतिया इसमें नहीं हैं। ऐसा होना उस समय के सामाजिक जीवन के सर्वथा अनुरूप ही है। इस काल के साहित्य मे भी हम साग्रह अलंकार योजना और विविधि छन्द वैचित्र्य और उसकी बारीकियां नहीं पाते।

बाद के संगीत के मध्यकालीन युग के जाति गायन, रूपक, आलाप आदि का विस्तृत विवरण हमें अच्छी हालत में उपलब्ध नहीं है। परन्तु फिर भी उस समय के साहित्य को देख कर हम संगीत की स्थिति का कुछ अन्दाज अवश्य कर सकते हैं। स्पष्ट है कि इस युग में वैदिक संगीत की सरलता और व्यापकता और सब जनता को समान रूप से सुलभता और सुगमता नष्ट हो गई होगी और वैदिक काल की जनतन्त्रात्मकता के स्थान पर जो सामाजिक उच्च वर्गों के प्राधान्य का युग आया उसके अनुरूप ही इस युग के संगीत में सर्वजन सुगमता और सुलभता नष्ट होकर पाण्डित्य-प्रदर्शन और जटिलता आई होगी। यही बात हम वैदिक साहित्य की तुलना में इस काल के साहित्य और अन्य कलाओं में भी पाते हैं। फिर युग परिवर्तन के साथ इसका एक ह्रास का युग और विकसीयमान समाज के अनुरूप समंजस संगीत के रूप के विकास का भी युग रहा होगा।

साहित्यिक क्षेत्र में जिस प्रकार वैदिक काल के पश्चात् संस्कृत साहित्य का अभिजात काल और फिर उसके ह्रास का तथा प्राकृतिक अपभ्रन्श के उत्थान का काल भी आया उसी के अनुरूप संगीत के क्षेत्र में यह मध्यकाल रहा। स्थूल रीति से ही हमने इसे मध्यकाल कहा है वास्तव में इसमें बहुत से उपविभाग भी हैं। संगीत का एक व्यवस्थित इतिहास लिखने वालों को वैदिक संगीत में क्रान्ति और उसके परिणामतः इस मध्य-कालीन संगीत का विकास दिखाना होगा और फिर इस संगीत मे क्रान्ति दिखाकर अपने आज के अभिजात संगीत के विकास को दिखाना होगा।

इस प्रकार हम संगीत के अब तक के इतिहास में तीन महाक्रान्तिया, तीन महायुग देखते हैं:—

(१) अ. वैदिक संगीत का उत्थान, ब. वैदिक संगीत का विकास, स. वैदिक संगीत का ह्रास।
(२) अ. मध्य संगीत का उत्थान, ब. मध्य संगीत का विकास, स. मध्य संगीत का ह्रास।
(३) अ. अभिजात संगीत का उत्थान, ब. अभिजात संगीत का विकास, स. अभिजात संगीत का ह्रास।

यह बात केवल कुतूहलोत्पादक ही नहीं है कि हम राजनीति के इतिहास में भी मोटी तौर पर ऐसे ही तीन महायुग पाते हैं—हम प्राथमिक साम्यवादी युग, दास प्रथाश्रित सामन्तवादी युग, आधुनिक पूंजीवादी युग के पूर्व पाते हैं।

प्रथम दो युगों के संगीत की रूपरेखा हमारे पास उतनी अच्छी दशा में नहीं है जितनी अभिजात संगीत की है। हम अभिजात संगीत और नये आने वाले जनसंगीत के संक्रमण काल में हैं। हमें यहा संगीत के सामाजिक स्थिति के अनुकूल होना ही प्रदर्शित करना अभीष्ट है और इसके लिए हम अभिजात संगीत को ही लेते हैं।

ध्रुपद (ध्रुवपद) संगीत

अभिजात संगीत काल के हम तीन विभाग पातेहैं। ध्रुपद काल, ख्याल काल, और ठुमरी टप्पा काल। हमारे अभिजात साहित्य युग के उप विभागों के अनुरूप ही के सांगीतिक उप विभाग भी हैं। साहित्य के क्षेत्र में जो भक्तिकाल रहा है वही संगीत के क्षेत्र में ध्रुपद काल रहा है। साहित्य के क्षेत्र में जो बातें भक्तिकाल की कविता के विषय में लाक्षणिक हैं वे ही बातें संगीत के क्षेत्र में ध्रुपद संगीत में हैं। जो सामाजिक अभिव्यक्तियां

साहित्य के क्षेत्र में भक्तिकालीन काव्य में हुई हैं वे ही अभिव्यक्तियां संगीत के क्षेत्र में ध्रुपद संगीत में हुई हैं। भक्तिकालीन कवि भी स्वयं उस काल के संगीत के अच्छे ज्ञाता और प्रयोक्ता थे। सूर मीरा तुलसी आदि के पद इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ध्रुपद संगीत गाम्भीर्य प्रधान है। वह आत्मनिवेदन की भावना से ओतप्रोत है। उस समय समाज की जो दशा थी उसने अपने अनुरूप सूर तुलसी जैसे कवि उपदेशक उत्पन्न किए, उसी प्रकार उसने अपने संगीत को ध्रुपद संगीत का रूप दिया और बैजू बावरे, चिन्तामणि मिश्र, स्वामी हरिदास और तानसेन जैसे ध्रुपद गायकों को उत्पन्न किया। तुलसी और सूर आदि दरबारी कवि नहीं थे, उनकी कविता दरबारी नहीं थी, दरबारी वाहवाह के लिए उसकी रचना नहीं हुई थी। जन-मन-रंजन और जनोद्बोधन के लिए ही उसकी रचना हुई थी। जिस प्रकार दरबारी होते ही कविता का रूप रीतिकालीन हो गया उसी प्रकार जो संगीत पहले जनमनरंजन और जनोद्बोधन के लिए ध्रुपद रूप में था वही दरबारी होते ही ख्याल रूप में आगया। ख्याल गायन के प्रथम प्रवर्तक मियां खुसरो को बताया जाता है। खुसरो के काव्य के विषय में भी यही कहा जाता है, और बहुत ठीक कहा जाता है कि वह आराम से खाना खाने के बाद चुहलबाजी के लिए हुक्का पीते बैठे हुए विनोदियों की महफिल की चीज़ है। गहरी हार्दिक अनुभूतियों से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं, उसका ध्यान तो चमत्कारिक उक्ति वैचित्र्य की ओर ही विशेष है। यही बात ख्याल गायन और रीति काव्य दोनों के लिए लाक्षणिक है।

जिस प्रकार भक्त कवियों की वाणी जनसाधारण के आदर और भक्ति की अधिकारिणी हुई उसी प्रकार ध्रुपद गायन भी जनसाधारण के आदर और भक्ति का अधिकारी हुआ। यद्यपि ध्रुपद गायन राग और ताल के नियमों से पूर्णतया आबद्ध था परन्तु इसमें पाण्डित्य प्रदर्शन के हेतु रस का गला नहीं घोटा गया जैसाकि साधारण जनता को लक्ष्य करके सृजित कला में नहीं ही हो सकता। यह ठीक है कि ध्रुपद गायन आम जनता का गायन नहीं था, इस अर्थ में कि आम जनता ध्रुपद गायन में रस लेती थी और उससे प्रभावित होती थी तथा उसका आदर करती थी, वह जनता का गायन था लाक्षणिक दरबारी गायन नहीं, यद्यपि ध्रुपद काल में राज दरबार में भी ध्रुपद ढंग का संगीत ही चलता था।

उस समय भारतीय समाज के समक्ष मुसलमानी राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रहारों से अपनी रक्षा करने का प्रश्न उपस्थित था, भारतीय जनता के सामने धार्मिक उद्बोधन और सांस्कृतिक संरक्षण का प्रश्न सर्वोपरि था। इसी सामाजिक परिस्थिति ने भक्तिकालीन काव्य और ध्रुपदकालीन गायन को जन्म दिया। परन्तु यावनिक मुसलमानी प्रभाव से भारतीय राजनीति और संस्कृति प्रभावित हुई ही, उसके संगीत का रूप भी उसी प्रकार परिवर्तित हुआ। हमारे संगीत में बहुत कुछ यावनिक प्रकार समाविष्ट हो गया और वह आत्मसात् होकर भारतीय ही गिना जाने लगा। प्राचीन जाति गायन और तत्पश्चात् राग गायन के बीच में यावनिक प्रभाव का समावेश और तज्जनित परिवर्तन हैं।

ख्याल*

बादशाही वैभव विलास काल की अभि व्यक्ति तत्कालीन ख्याल गायन करता है। ख्याल गायन लाक्षणिक दरबारी गायन है, दरबारी वाहवाह ही उसका लक्ष्य है। तदनुरूप कठिन तानें, विविध ताल और लय वैचित्र्य की ही इसमें प्रधानता है। रस की ओर इसका कोई विशेष ध्यान ही नहीं होता और गीत के शब्दों की

---

* ख्याल की परिपाटी दक्षिण से हैदराबाद होती हुई दिल्ली पहुँची। वहां उसका परिष्कार हुआ। दक्षिण में वह 'कृति' कहलाती थी। उत्तर में उसका परिष्कृत रूप ख्याल कहलाया। —सम्पादक

इसमें बड़ी ही दुर्दशा हुई है। इस काल में समाज में प्रमुख स्थान राजदरबार का था और उसमें विद्यमान जटिलता, कठिनता, प्रतिस्पर्द्धा आदि की अभिव्यक्ति उसके संगीत ख्याल–गायन में हुई। गायक लोग एक दूसरे से अधिक अच्छा गाने और पाण्डित्य प्रदर्शित करने में ही लगे। कठिन रागों, तालों और तानों का प्रयोग करके वे दरबारी वाहवाह प्राप्त करते थे। आम जनता और जनाभिरुचि की न उन्हें चिन्ता थी न बाधा। कठिन कष्टसाध्य सांगीतिक पाण्डित्य प्रदर्शित करना ही उनको अभीष्ट था। यही दशा हम साहित्य के क्षेत्र में भी पाते हैं। उसके रीतिकालीन रूप में, जिसमें विविध छन्दों का प्रयोग, नायिका भेद प्रभेद और विविध अलंकारों की भरमार द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन का ही प्राधान्य था। साहित्य में रीतिकाल के अनुरूप ही ख्याल गायन काल और बाद का ठुमरी गायन काल भी था।

ठुमरी–टप्पा

ठुमरी टप्पा नवाबी काल की विलास-प्रियता और तड़क भड़क तथा चटक–मटक–पसन्द वेश्यागामी विलासी धनिकों और उनकी प्रेयसियों के मनोभावों की व्यञ्जना करता है। यह गायन यद्यपि जनता की दृष्टि से ख्याल गायन की तुलना में कुछ अधिक जनप्रिय हुआ परन्तु आम जनता के सुख दुख, हर्ष उल्लास आदि की अभिव्यक्ति इसमें भी नहीं हुयी, अतएव यह भी आम जनता की वस्तु नहीं रहा। जनता संगीत के शास्त्र से अनभिज्ञ रही और ख्याल ठुमरी टप्पा रूप संगीत की प्रगति से वह निर्लिप्त रही।

सच तो यह है कि भारतीय सगीत का अभिजात काल जनता की दृष्टि से सगीत के 'ह्रास' का ही काल रहा है, यद्यपि जिसे रीति या टेकनीक (Technique) कहा जाता है उसमें आश्चर्यजनक अभिवृद्धि और प्रगति हुई। युग विशेषता के अनुरूप यह बात केवल संगीत कला के साथ ही नहीं हुय बल्कि काव्य, चित्र, आदि अन्य सभी ललित कलाओं—वास्तु, शिल्प आदि में भी हुई। इन कलाओं का आश्रय राजदार और धनिक विलासी अल्प लोग ही रहे। संगीत के क्षेत्र में "जन-संगीत" का इस युग में ह्रास हुआ। जनता का संगीत देहाती, गीत लावनी आदि के रूप को प्राप्त हुआ जो विद्वान मण्डली में उपेक्षा और तिरस्कार की चीज़ रही।

संक्रमण कालीन प्रवृत्तियाँ

अभिजात संगीत (Classical) का काल राजनीति में सामन्त युग के अनुरूप रहा है। सामन्त युग और पूंजीवादी युग के संक्रमण काल में जैसा कि ऐसे काल में होता है, प्राचीन प्रतिष्ठित संगीत की विघटना हुई और फलस्वरूप जैसा कि हर एक क्षेत्र में होता है, हमारे सामने पुराण रूढ़िवाद (Conservatism) सुधारवाद (Reformism) पुनरुत्थानवाद (Renaissance) परिवर्तनवाद (Changism) जनप्रियतावाद (Popularism) आदि तरह तरह की प्रवृत्तियां उद्भूत हुईं। इसके अनुरूप साहित्य के क्षेत्रों में भी हम रीतिकालीन काव्य के बाद आदर्श लक्षी इतिवृत्तात्मकता छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि प्रवृत्तियों को पाते हैं। इस संक्रमण काल में जो अव्यवस्था हुई और प्राचीन अभिजात संगीत की जो विघटना हुई उसमें एक व्यवस्था पेश करने के श्लाघ्य प्रयत्न हुए। इसमें स्वर्गीय आचार्य प्रो० भातखण्डे जी और विष्णु दिगम्बर पलूसकर जी ने बहुत प्रयत्न किया और उनके सत्प्रयत्नों से हमारा पुराना संगीत बहुत कुछ सुरक्षित हो गया। इसके लिए हम उन महात्मा आचार्यों के चिरऋणी हैं।

पाश्चात्य संगीत का प्रभाव भी इधर हमारे संगीत पर पड़ता रहा है और उसके प्रभाव से संगीत का कुछ वर्ण शंकर रूप भी हमारे सामने आया है। अभिजात संगीत में सुधार करके, उसमें से क्लिष्ट तानें और

ताल की उलझनों को निकाल कर उसे जनप्रिय बनाने की चेष्टायें भी हुई हैं। इनमें बंगाल में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टागोर की बहुत बड़ी देन है। इधर नाटकों और सिनेमाओं ने संगीत को आम जनता के लिए सुगम बनाया है। परन्तु, नाटकीय (आगा हश्र ढंग के) और सिनेमा संगीत के विरुद्ध संगीत के विद्वानों में जो भावनाएं हैं उनसे सभी परिचित हैं। संगीत की प्रगति के लिए, उसके अभीष्ट रूप के साधन के लिए प्रयोजनपूर्ण, जानबूझ कर और बिना जाने बूझे स्वाभाविक रूप से सहज प्रयत्न भी हो रहे हैं। कोई ध्रुपद की खूबियां बता रहा है, कोई ख्याल गायन को परिष्कृत करने के सुझाव समक्ष ला रहा है, कोई ठुमरी-टप्पा की हृदय ग्राहिता को उसमें से उच्छृङ्खल लम्पटता निकाल कर अभीष्ट रूप में लाने का प्रयास कर रहा है, कोई सिनेमा संगीत जैसा कि वह आज है, उसमें सुधार करने की सूचना कर रहा है। मतलब यह है कि आज संगीत अपने संक्रमण काल में गुजर रहा है और इन्हीं विविध प्रवृत्तियों में से उसका अगला रूप निष्पन्न होगा। वह रूप इस जन-युग की लाक्षणिक विशेषताओं से प्रभावित होगा और उन्हीं को व्यक्त करेगा। जन-युग में संगीत को महान जनवर्ग की सर्वोपरिता और उनकी ही आकाङ्क्षाओं, अभिलाषाओं, हर्ष, शोकादिभावों को व्यक्त करना होगा।

जन संगीत का रूप

अभी संगीत की प्रगति के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं उनमें प्राचीन ध्रुपद,ख्याल के पुनरुत्थान के ही प्रयास विशेष रूप में हो रहे हैं। 'भारतीय संगीत' के नाम से उसी का शिक्षण संगीत विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों में हो रहा है और इसका अच्छा असर भी हो रहा है। इससे शिक्षित लोगों में संगीत के शास्त्र का ज्ञान और उसके पूर्वेतिहास का ज्ञान भी प्रसारित हो रहा है। यह संगीत की प्रगति के लिए अपरिहार्य है। परन्तु यदि हम प्राचीन ध्रुपद—ख्याल रूप में ही नवयुग के संगीत को ढूंढेंगे तो हमें निराशा ही होगी। यह ठीक है ध्रुपद ख्याल आदि के अभीष्ट तत्वों में से हमें भावी संगीत का मसाला मिलेगा परन्तु उसका वही तत्सम रूप नहीं रह सकता। इसका कारण यही है कि वह रूप जिन सामाजिक परिस्थितियों पर अवलम्बित था वे सामाजिक परिस्थितियाँ आज नहीं हैं। प्रश्न ध्रुपद, खयाल, ठुमरी आदि की अच्छाई बुराई का नहीं है, प्रश्न है जनता के जीवित संगीत का। हमारे स्कूलों और कालेजों में ध्रुपद ख्याल आदि का जो शिक्षण हो रहा है उससे यह हो सकता है कि कुछ अच्छे ध्रुपद और खयाल गाने वाले कुशल गायक उत्पन्न हो जायें जो हमारे प्राचीन उस्तादों के समान ही गुणी हों परन्तु इतने भर से वे जनता को जीवित संगीत प्रदान न कर सकेंगे। जीवित संगीत प्रदान करने के लिए उन्हें समय की आवश्यकताओं को समझना पड़ेगा और जनता के मनो-भावों में और उनके मानसिक धरातल पर उतर कर उनके अनुकूल संगीत का निर्माण करना होगा। इसके लिए ही उन्हें संगीत के पूर्वेतिहास और उसकी अभी तक की शास्त्र व्यवस्था (राग ताल पद्धति) के ज्ञान से लाभ उठा कर नये युग के अनुकूल नव संगीत का शास्त्र निर्माण करने और उसे सुव्यवस्थित करने का उपक्रम करना होगा।

रीतकालीन अलङ्कार और नायिका भेद तथा रस आदि की कट्टर विभाजनपूर्ण नैतिक जटिलता से जटिल काव्य के बाद आधुनिक काव्य धारा उन जटिल बन्धनों को तोड़ कर प्रवाहित हुई। यही बात संगीत के क्षेत्र में भी होना अनिवार्य है। जिस प्रकार आधुनिकता के नाम पर पहले काव्य के प्रदेश में भी बहुत ही व्यर्थ की उछल कूद हुई उसी के अनुरूप हम आज के सिनेमा संगीत के रूप में बहुत सी बेकार और वाहियात भद्दी उछल कूद पाते हैं। परन्तु जिस प्रकार काव्य में आधुनिकता की धारा इन सब अंधाधुन्ध उपद्रवों के बावजूद अग्रसर होती गई और उसे आज एक नव व्यवस्थित रूप मिलगया उसी प्रकार की गति अभिनव संगीत के

संगीत और शास्त्र व्यवस्था

कोई भी शास्त्र अपने विषय के कुछ पूर्व संचय के पश्चात् ही, और उसी संचय के आधार पर ही निर्मित होता है। समय जाते उस संचय में कुछ और वृद्धि होती है तो उस वृद्धि से सामंजस्य स्थापित करने के लिए शास्त्र व्यवस्था में ही वृद्धि और परिवर्तन होता है। विषय की प्रगति जब द्वन्द्वात्मक और क्रांतिमय होती है तो उसके शास्त्र में भी द्वन्द्वात्मक प्रगति और क्रांतिमयता दिखनी ही चाहिए। यह बात हम सभी शास्त्रों, सभी विज्ञानों में पाते हैं। संगीत और उसके शास्त्र में यह बात बहुत ही स्पष्ट है। जब भौतिक और रसायन जैसे प्राकृतिक विज्ञानों के विकास में हम योग-प्रतियोग-संयोगात्मक द्वन्द्वगतिक प्रगति पाते हैं तो मानव समाज के उत्तरोत्तर विकास के अनुरूप उसमें जिन भावों और आवश्यकताओं का भी विकास होता है उनकी अभिव्यक्ति करने वाली कलाओं के शास्त्र में भी क्रांतिमयता को और भी अधिक स्पष्टता से लक्षित होना ही चाहिए।

विज्ञान और शास्त्र जीवन पर ही आश्रित होता है। अतएव विज्ञान और शास्त्र का क्षेत्र भी जीवन क्षेत्र की ही भांति संघर्ष से मुक्त नहीं है और न हो सकता है। समाज में अधिकारारूढ़ श्रेणी की रूढ़िवादिता के अनुरूप ही तथाकथित अधिकारपूर्ण या अधिकारी विज्ञान या शास्त्र को रूढ़िप्रियता होती है। शास्त्र हमारे समक्ष एक रूढ़ि के रूप में अधिक आता है और उसमें प्रगति और विकास की बात प्रथमतः 'अशास्त्रीय' ही गिनी जाती है। विषय जब निश्चित रूढ़ शास्त्र से आगे बढ़ जाता है और उस रूढ़ि के नियमों से उसका नियमन नहीं होता, जब यह विरोध बहुत ही स्पष्ट हो जाता है, तो नये विकास के अनुरूप शास्त्र व्यवस्था में भी क्रान्ति या परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है।

आज सिनेमा और रेडियो के अधिष्ठान द्वारा एक नवीन संगीत रूप ग्रहण करता जा रहा है। इस नवीन रूप के अनुरूप संगीत शास्त्र व्यवस्था में परिवर्तन होगा ही। परन्तु यह भी ठीक है कि अभिजात काल के ध्रुपद ख्याल रूप संगीत के ही अभीष्ट तत्वों से संगीत का भावी जनयुगीय रूप प्रभावित होगा। अतएव भावी जनयुगीय संगीत के तदनुरूप शास्त्र के लिए ध्रुपद ख्याल रूप संगीत के शास्त्र का ज्ञान अभीष्ट ही नहीं अपरिहार्य भी होगा क्योंकि वह प्रगति इसी परंपरा से हो सीधे आगे की प्रगति होगी। जन समाज में अभिजात संगीत के शास्त्र का क्रियात्मक ज्ञान जितना प्रसारित होगा उतने अंशों में इस अपरिहार्य और अभीष्ट सांगीतिक क्रान्ति का मार्ग सरल और शीघ्रतर होगा।

राग वर्गीकरण

हमारा अभिजात संगीत (classical music) राग व्यवस्था में व्यवस्थित है। ये राग क्या हैं? वर्गीकरण (classification) किसी भी विज्ञान या शास्त्र की पद्धति होती है। कोई भी विज्ञान या शास्त्र अपनी विषय वस्तुओं को परस्पर साम्य वैषम्य, साधर्म्य या वैधर्म्य के आधार पर अलग अलग वर्गों में वर्गीकृत करता है और यही वर्गीकरण शास्त्र व्यवस्था होती है। हमारा अभिजात संगीत रागों में वर्गीकृत है।

आचार्यों ने राग की व्याख्या इस प्रकार की है:—

योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्ण विभूषितः
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः

स्वरवर्ण अर्थात् स्वरों के चढ़ते उतरते क्रम से विभूषित जनचित्त को अच्छे लगने वाली ध्वनि विशेष क्रिया को यानी गाने को राग कहते हैं। यह राग की एक व्यापक परिभाषा है जिसमें हम जो कुछ गाते हैं

गजेन्द्र-मोक्ष

विष्णुमंदिर का उत्तर की ओर का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से
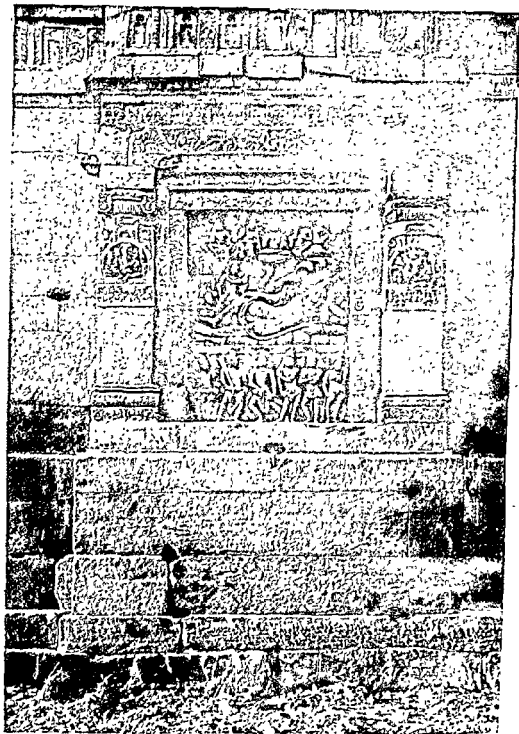
शेषशायी विष्णु
विष्णुमंदिर का दक्षिण दिशा का शिलापट्ट
[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

वह-सभी आ जाता है। राग ही संगीत शास्त्र का विषय है और उनका वर्गीकरण करना ही संगीत शास्त्र का काम। हम उनका वर्गीकरण कैसा क्या करते हैं इसी पर हमारे संगीत शास्त्र का रूप निर्भर करता है। स्पष्ट है कि जैसे-जैसे समाज में जाने के रूप बदलते जायंगे, उसीके अनुसार यह वर्गीकरण भी बदलता जायगा। आज हम 'राग' शब्द का प्रयोग इन्हीं वर्गों के अर्थ में करते हैं, जैसे भैरव राग या भैरवी। जब हम किसी से कहते हैं कि भैरव गाओ तो हमारा अभिप्राय वास्तव में यही होता है कि ऐसा गाना गाओ जो हमारी राग व्यवस्था में उस विभाग या वर्ग में आ जाय जिसका नाम हमने भैरव रखा है। 'राग' शब्द आज वास्तव में गाने के विभिन्न प्रतिष्ठित वर्गों के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

यह वर्गीकरण एक ही प्रकार से नहीं कई प्रकार से हो सकता है और राग व्यवस्था ही जैसी हम अपने भारतीय अभिजात संगीत में पाते हैं एक मात्र संभव संगीत शास्त्र व्यवस्था नहीं है, यह हमें भलीभांति समझ लेना चाहिये। आज भारत में उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति और दक्षिण की कर्नाटकी संगीत पद्धति दो मुख्य संगीत पद्धतियां हैं और दोनों की शास्त्रीय व्यवस्था राग वर्गीकरण की व्यवस्था ही है। फिर भी दोनों व्यवस्थाओं में बहुत कुछ साम्य है तो कुछ वैषम्य भी है। ताल पद्धति में यह वैषम्य और भी अधिक स्पष्ट है। पाश्चात्यों ने अपने गानों आदि का वर्गीकरण अन्य भांति किया है। उनकी संगीतशास्त्र व्यवस्था की प्रक्रिया हमारी संगीत शास्त्र व्यवस्था की प्रक्रिया से भिन्न है।

रागमूर्तिपूजा

राग वास्तव में शास्त्रीय विभाग या वर्ग है। वे हमारी ही शास्त्रीय खोज और व्यवस्था के परिणाम हैं। परन्तु शास्त्र की रूढ़ि प्रियता के कारण उनके साथ इतनी गहरी व्यक्ति भावना संलग्न हो गई कि वे देवी देवताओं के रूपान्तरित हो गये और फिर राग इन देवी देवताओं के रूप की ध्वन्यात्मक या स्वरात्मक अभिव्यक्ति या आविर्भाव मात्र हो गये। उदाहरण के लिये जब कोई भैरवी गाये तो यह समझा जाने लगा कि वह भैरवी रागिनी देवी का आवाहन कर रहा है, और जितनी अच्छी भैरवी वह गाये उतना ही वह उस देवी के आवाहन में सफल हुआ समझा जाता है। इतना ही नहीं फिर तो ये देवी देवता अपने सफल गायकों के सामने सशरीर उपस्थित होने लगे और उन्हें वरदान से धन्य करने लगे तथा त्रुटि होने पर शाप भी देने लगे। इसको हम संगीत में रागमूर्ति पूजा या रागपुराण कह सकते हैं, जिसमें हम अपनी ही बनाई हुई वस्तुओं को अपने ऊपर अधिकार रखती हुई मान लेते हैं और अपनी ही कल्पना से उन्हें सजाकर स्वयं उनसे अभिभूत हो जाते हैं।

राग पुराण और राग परिवार

यह राग पुराण या राग मूर्ति पूजा उतनी ही विशद, उदात्त और कलात्मक है जैसी हमारे तेंतीस कोटि देवी देवताओं के पुराण और उनकी पूजा है। हमारे सभी शास्त्रों का एक पौराणिक (mythical) रूप भी रहा है जिसमें विषय वस्तु की दृश्य साकार कल्पना की गई है। आयुर्वेद में रागों का रूप (उनका सींगों, पूंछों, अनेक मुखों वाला होना) छन्द शास्त्र में छन्दों का रूप आदि में हमारी इसी पुराण प्रियता की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति इतनी सुन्दर हुई है कि हम गर्व से कह सकते हैं कि भारतीय पुराणों के सदृश सुन्दर, उच्च कलात्मक और किसी जनता के पुराण शायद नहीं हैं यद्यपि यह पुराण प्रियता सभी समयों सभी जातियों में रही है। यूनान और मिश्र के पुराणों से हमारे पुराण अवश्य ही उच्चतर और विशदतर कल्पना के अभिव्यञ्जक हैं।

एक बात भली भांति ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी सांगीतिक परम्परा ठीक वैदिक काल से अक्षुण्ण चली आई है। वैदिक यज्ञादिक विधियों में देवी देवताओं का वेद मंत्रों द्वारा आवाहन होता था और ये वेद मंत्र सस्वर गाए जाते थे। ये वेदमंत्र स्वयं ही देव स्वरूप समझे गए तो उनके गाने के राग भी देव स्वरूप हुए। इसी परम्परा से गाने के विभिन्न रूपों को देवत्व मिलता चला गया और आगे उनकी व्यवस्था राग-परिवारों में होनी लगी। भैरव, श्री, मालकोस, मेघ, हिन्डोल और दीपक—ये ६ मुख्य राग पुरुष कल्पित हुए और फिर इनमें से प्रत्येक की समाज में प्रचलित बहुपत्नीप्रथा (Polygamy) के अनुरूप पांच पांच पत्नियां रागिनियां कल्पित हुईं और फिर उनके पुत्र और फिर पुत्र वधुएं आदि। मुख्य ३६ राग रागनियों के द्वारा ही इस प्रकार सब रागों की उत्पत्ति समझी गई। गायकों की स्वतंत्र कल्पना और प्रतिभा से जो नयी स्वर रचनाएं प्रस्तुत हुईं उनमें इन्हीं छत्तीस राग रागनियों को ढूँढ़ा गया। नवीन रचनाओं के अंशों में इन्हीं छत्तीस राग-रागनियों के अंशों का मिल जाना स्वाभाविक ही है और वे राग इन्हीं के संकर से उत्पन्न समझे जाने लगे। समाज के वर्णसंकरों के अस्तित्व से इस कल्पना को मिल जाने में कोई कठिनता तो थी नहीं। "शुद्ध गायन" में इन वर्णसंकर रागों की प्रथम वही विगर्हणा हुई जो 'शुद्ध रूढ़िवादी' समाज में वर्णसंकर संतान की विगर्हणा थी। आश्चर्य की बात यह नहीं है कि राग परिवार की ऐसी सामाजिक रूप-कल्पना हुई वह तो बहुत ही स्वाभाविक थी। आश्चर्य की बात यदि कुछ हुई तो यह कि जैसे अपने पुराणों में प्रमिश्रण और व्यभिचार के बड़े मजेदार और लच्छेदार वर्णन हैं वैसी ही प्रमिश्रण और व्यभिचार के कथानक राग-पुराणों में उत्पन्न नहीं हुए। यद्यपि ऐसा होने के लिए पर्याप्त उपादान प्रस्तुत थे। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि ऐतिहासिकतः इन रागों का काल जब था उस समय धार्मिक पुराणों का निर्माण काल समाप्त हो चुका था। फिर भी रागों के आस पास पौराणिक ढंग की कथाएं कुछ कम नहीं बनीं।

पुराणों (myths) का आधार भी वास्तविक जीवन ही होता है, अतएव, पौराणिक कथाओं के मूल में कुछ ठोस वैज्ञानिक, सामाजिक और ऐतिहासिक तत्वों का होना स्वाभाविक है। राग परिवार भी इस प्रकार के शास्त्रीय आधार से वंचित नहीं है। राग परिवार की कल्पना ध्रुपद गायन काल में सर्वोपरि रही है और सच तो यह है कि वह ध्रुपद गायन के ही पूर्णतः अनुरूप थी। ध्रुपद गायन में रसनिष्पत्ति का तथा राग की परंपरागत शुद्धता का ध्यान रहता है। उसमें ख्याल गायन जैसे मनमानी तानबाजी का अभाव रहता है। इसलिए ध्रुपद गायन में रागों का रूप अधिक प्रस्फुटित था और एक एक राग के साथ एक विशिष्ट रस भेद का संलग्न हो जाना बहुत ही स्वाभाविक था और राग के शरीरों, उनकी स्तुति ध्यान आदि की रचना हो जाना भी बहुत ही स्वाभाविक बात थी। उनके रागपरिवार में व्यवस्थित होने में भी इसलिए बहुत आसानी थी। दृढ़ता, शक्ति, प्रगल्भता, आदि पुरुष गुणों से रागों का तथा मृदुता, सुकुमारता, लजीलापन आदि स्त्री गुणों से रागनियों का अलग हो जाना बहुत ही सुगम था और वही हुआ। इस स्वभाव या प्रभाव आदि के साम्य वैषम्य के आधार पर कल्पना ने राग परिवार का निर्माण कर दिया।

रागपरिवार की विघटना

ध्रुपद के ह्रास और ख्याल के उत्थान से यह राग परिवार उतना संगत न हुआ। ख्याल में मनमानी तान बाजी आदि प्रकारों से राग के स्वर नियमों की रक्षा होते हुए भी क्रियात्मक रूप में बहुत कुछ अन्तर पड़ गया और जैसे भी राग-पारिवारिक बन्धन थे वे शिथिल पड़ गए और टूट गए। ख्याल गायन में रागरूप से सम्बद्ध अन्य ग्राह उद्ग्राह न्यास अलन्यास आदि बातों का उतना ध्यान न रहा, अतएव रागों का

स्वरात्मक रूप सापेक्षतया स्थिर रहते हुए भी अन्य भांति क्रियात्मक रूप में बहुत कुछ अन्तर पड़ गया और राग व्यवस्था का वास्तविक आधार अब केवल प्रयुक्त स्वर, वादी संवादी आदि पर ही प्रधानतया रह गया। राग परिवार की अपेक्षा ठाठ व्यवस्था इसके लिये अधिक अनुरूप हुई।

विचारकों ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया है कि राग परिवार में साम्य क्या था ? किस आधार पर उन्हें एक परिवार में रखा गया ? उदाहरण में और भैरव भैरवी में नाम के अतिरिक्त और क्या साम्य है, जिसके आधार पर उन्हें एक राग-परिवार में सम्मिलित किया गया ? वास्तव में राग परिवार पर सामाजिक परिवार की ही छाया है यह सर्वथा उसीकी प्रतिकृति है। समाज में विवाह एक ही वर्ग या जाति के घर कन्या में अवश्य होता है परन्तु गोत्र भेद होना नितान्त अपरिहार्य प्रथा है। एक ही गोत्र के वर कन्या में विवाह नहीं हो सकता था। यदि हम इस का ध्यान रखें तो भैरव और भैरवी का एक राग परिवार में सम्मिलित करना हम भली भांति समझ सकते हैं। भैरव और भैरवी में स्वर भेद (तुलना के लिए गोत्र भेद) होना आवश्यक था और रस साम्य (दोनों मूलतः शान्त रस प्रधान हैं) भी आवश्यक था जो सामाजिक विवाह की तुलना में वर्ग या जाति की एकता के अनुरूप हैं।

राग परिवार के प्रचलन का समय दुर्भाग्यवश मुसलमानों के आक्रमण और हिन्दुओं के पराभव का समय था। अतएव एक प्रकार से हिन्दुओं की प्रतिभा कुण्ठित हो रही थी। समय सुख शान्ति का न था, कलह और उत्पीड़न का ही था। हिन्दू राज दरबारों और साधु सन्तों में महान विक्षोभ था। ये दो ही हिन्दू प्रतिभा के विकास के आधार थे। यदि हिन्दू समाज की उस समय यह दुर्दशा न होती तो राग परिवार के सम्बन्ध में राग गोत्र आदि की पूरी पूरी व्यवस्था हम पाते और परिवारों के इतिवृत्त पर आश्रित एक पूरा 'पुराण' हमारे पास होता।

राग मेल या थाट

राग परिवार के बाद राग मेल और थाट की व्यवस्था आई। वीणा और सितार वादन में यह थाट व्यवस्था आना स्वाभाविक ही है। जो-जो राग सितार के परदे खिसकाए बिना उन्हीं एक प्रकार से लगे हुए परदों पर बजें वे स्वाभाविकतया ही एक 'थाट' के हुए। थाट शब्द ही सितार पर परदों की व्यवस्था का बोधक है। यदि हिन्दू प्रतिभा सुख समृद्धि के वातावरण में विहार कर रही होती तो निश्चित है ये थाट, राग परिवार के अनुकूल राग-गोत्रों की संज्ञा पाते और इस प्रकार राग परिवार और थाट इन दोनों का समन्वय एक एक व्यवस्था में हो जाता। परन्तु दुर्भाग्यवश हिन्दू प्रतिभा उत्पीड़ित और अभिभूत हो गई थी, इतना ही नहीं, हिन्दू प्रतिभा भय से और अन्य प्रलोभनों से इस्लाम ग्रहण कर रही थी। तानसेन आदि गायक और वादक उसके प्रमुख उदाहरण हैं। इस प्रकार संगीत क्रिया का शास्त्र-परम्परा की दृष्टि से ह्रास हो रहा था। तानसेन के मुसलमान हो जाने के बाद हमारी इस शास्त्र परम्परा की बड़ी हानि हुई। रीति के विकास की दृष्टि से तानसेन के वंशज और उनकी परंपरा में उत्पन्न हुए गायक वादकों ने बहुत ही प्रगति की, परन्तु शास्त्र व्यवस्था की दृष्टि से एक बड़ी शिथिलता और ह्रास आता गया। उसका कारण यही था कि संगीत की क्रिया अपनी मूल परंपरा से व्यावहारिक दृष्टि से अधिकाधिक अलग होती चली गई। यद्यपि ये मुसलमान गायक वादक गण मानने को वही प्राचीन परंपरा मानते रहे, परन्तु इस प्राचीन परंपरा की आत्मा को ही वे खो चुके थे।

नयी शास्त्रीय व्यवस्था की आवश्यकता

अस्तु हमने इस बात को देखा कि अपने संगीत की राग व्यवस्था, रागपरिवार में अथवा थाटों में व्यवस्थित ध्रुपद ख्याल रूप संगीत के पूर्णतया अनुरूप थी। ठुमरी काल नवाबी और धनिक वर्गों की विलासिता

का काल था। उनके सामाजिक व्यभिचार के अनुरूप उनके लाक्षणिक गायन, ठुमरी में उनका वही व्यभिचार राग व्यभिचार के रूप में आया और राग व्यवस्था का विघटन प्रारम्भ हो गया। आज जन-समाज के प्रचलित गायन में अभिजात रागों को ढूंढ़ना वैसा ही है जैसे परम्परागत अन्तर्जातीय वेश्याओं की सन्तान में जाति निर्णय करने का प्रयत्न करना। फिर भी इनको किसी व्यवस्था में व्यवस्थित करना अभीष्ट है और इसके लिए सांगीतिक और शास्त्रीय प्रतिभाओं की आज बड़ी आवश्यकता है।

संगीत एक निरन्तर विकसीयमान कला है। उसके शास्त्र को उसके परिवर्तन के साथ चलने की आवश्यकता है। आज यह बात दिख रही है कि अधिकांश नव्य-संगीत गायकों में संगीत शास्त्र के प्रति, जो आज हमारे पास राग व्यवस्था के रूप में है, उदासीनता और उपेक्षा है। यह ठीक ही है क्योंकि इस राग व्यवस्था से उनको कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। दूसरी ओर शास्त्र ज्ञान सम्पन्न अभिजात संगीत के प्रेमियों में इस नव्य-संगीत के प्रति तिरस्कार की भावना है। आवश्यकता है इन दोनों को एक दूसरे के निकट आने की। तभी नव्य-संगीत की ऐसी शास्त्र व्यवस्था बन सकेगी जो भारतीय संगीत की परम्परा की एकता को कायम रखे।

राग व्यवस्था अनादि नहीं है। शास्त्र व्यवस्था में परिवर्तन शीलता केवल अपरिहार्य ही नहीं अभीष्ट भी है। शास्त्र की रूढ़िप्रियता का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। यह रूढ़िप्रियता हमें अपनी उस राग मूर्ति पूजा से अभिभूत किए हुए है। हमें इसको समझकर जन संगीत का शास्त्रनिर्माण करना है। यह प्रगति की गति को तथा साथ ही संगीत की आत्मा को समझने वाली रचनात्मक प्रतिभाओं का काम है। संगीत के क्षेत्र में आज सांगीतिक चार्वाकों की कमी नहीं है, जन संगीत प्रतीक्षा में है किसी साँगीतिक बुद्ध की जो रूढ़ि की अनभीष्ट बातों का निराकरण करके जन संगीत की प्रगति का मार्ग प्रशस्त करें। जन संगीत का शास्त्र तो जन संगीत का कोई निश्चित रूप सामने आ जाने पर, और इस सम्बन्ध में विषय का कुछ संचय हो जाने पर भी बन सकेगा। हमारे वाग्गेयकारों को पहले जन संगीत के निर्माण की ओर ही विशेष ध्यान देना है। उनके द्वारा कुछ कार्य सम्पादित हो चुकने पर भी शास्त्रकारों के कार्य का आरम्भ हो सकता है। यह भी हो सकता है कि नव संगीत और नव संगीत शास्त्र का विकास साथ साथ होता चले। *

—*—

* इस विषय की गम्भीरता सर्वमान्य है, अभी बहुत शोध, अनुसन्धान और वैज्ञानिक विचार की आवश्यकता है। किस समय के लिए कौनसा राग उपयुक्त है, दिन रात की किस घड़ी पर किस स्वर का अधिकार है, —या है ही नहीं,—मानव हृदय की किस वृत्ति से प्रकृति और स्वर का कितनी मात्रा में परस्पर सम्बन्ध या आश्रय है ये प्रसंग स्वर-मनोविज्ञान के हैं। राग रागनियों के उपयुक्त समय की परम्परा अनुभवों की प्रेरणा से ही संगीत शास्त्रियों को मिली होगी। अब अन्वेषण अपेक्षित है। —सम्पादक

प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

मधुमाधव का क्रीड़ा-कानन,
शरद-चंद्रिका का शुचि आंगन,
नभ-पथ से ले जाते नव घन
जहां प्रणय-सन्देश
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

जन हैं निपट ज्ञान के प्यासे
गौतम राजभोग तज जाते
समर-क्षेत्र में विवश सुनाते
श्याम महत् उपदेश
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

प्रेम-पगी कोमल ललनाएं
कब दुख-संकट से घबराएं,
सिया राम से पूर्व सजाएं
वनवासी का वेश
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

ये आज़ादी के दीवाने
हार शत्रुओं से कब माने
गुरु गोविन्द शिवा–राना ने
सहे न कितने क्लेश
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

लड़ी चांदबीबी मुगलों से
झांसीवाली अंग्रेज़ों से
सत्याग्रह को चलीं घरों से
वधुएं कुञ्चित–केश
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

यहां ताज है ताज जगत का
सत्य–अहिंसा नाज़ जगत का
रहा यही सिरताज जगत का
बापू पूज्य–विशेष
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

स्वागत, तुम आए परदेशी,
प्यारे हमें अतिथि परदेशी,
यदि न करें वे आर्यभूमि की
आज़ादी से द्वेष
प्रिय, देखोगे मेरा देश ?

—डा० देवराज

भाग ४

शिक्षा

श्री सम्पूर्णानन्द जी के पिता-माता

स्व० मुंशी विजयानन्द जी

श्री मती आनन्दी देवी

शिक्षा की समस्या

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन

इस देश की शिक्षा समस्या बहुत चिन्ताजनक हो गई है। देश यों ही दरिद्र है फिर उसके धन का जो अंश शिक्षा पर खर्च होना चाहिए था वह भी धर्म के नाम पर उड़ जाता है। मठों और गुरुगादियों को जो धन दिया जाता है उसका अधिकांश किसी समय शिक्षा के लिए व्यय होता था। राजस्व का अत्यन्त क्षीण भाग शिक्षा के लिए निश्चित होता है। शिक्षा विभाग को जो मिलता है उसमें से अधिकांश बेमतलब के बाह्य उपकरणों में खर्च हो जाता है। समझ में नहीं आता कि इस गरीब देश में इतने बड़े बड़े मकान, फर्नीचर और टीमटाम की क्या जरूरत है। लेकिन दुःख यहीं समाप्त नहीं हो जाता। इतने बड़े अपव्यय के बाद भी जो कुछ बच रहता है उससे शिक्षा को प्रसारित करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता बल्कि 'एफिशिएन्सी' के नाम पर उसे और भी संकुचित किया जाता है। शिक्षा के लिए यदि कभी राजकीय सहायता मिलती भी है तो शर्तों की तालिका इतनी भयंकर होती है कि उसको पार करने के बाद शिक्षा को व्यापक बनाना असम्भव हो जाता है। अंग्रेजी शासनकाल से ही यह सब दुःख चला आरहा है और स्वाधीनता प्राप्त के बाद भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। शिक्षा विशारदों की ओर से हर साल ही अभाव और अभियोगों का लेखा जोखा तैयार होता है पर सुनवाई नहीं होती। मेरे वक्तव्य से भी शायद कोई विशेष लाभ न हो। पर जब रोग दुःसाध्य हो तो चीखने कराहने से भी कुछ आराम मिलता ही है।

लेकिन हमेशा दूसरों की ओर देखने से ही यदि काम बनता तो दुनिया में न जाने कितने बड़े बड़े काम हो गए होते। काम तो अपनी शक्ति का उपयोग करने से ही होता है। जिन लोगों ने अध्यापना का पवित्र व्रत लिया है उन्हें ही अपनी शक्ति का प्रयोग करना होगा। मैं यह नहीं मानता कि प्रत्येक व्यक्ति यदि स्वेच्छा से शिक्षा के प्रसार और उन्नयन का कार्य करे तो सफलता नहीं मिलेगी। मनुष्य के ज्ञान और रस के भाण्डार को नई नई सम्पत्ति से समृद्ध बनाना ही अध्यापक का कर्तव्य है। इस देश के प्रत्येक अध्यापक को नवीन ज्ञान और सत्य का अनुहरण करना होगा अपनी सृष्टि शक्ति से अपनी साधना के महत्व को प्रमाणित करना होगा।

यह काम उन्हीं लोगों के किये हो सकता है जिन्होंने अध्यापक कार्य को व्रत के रूप में ग्रहण किया है। अध्यापक समझे जाने वाले सभी लोग अध्यापक कार्य को व्रत नहीं मानते। वही लोग अध्यापक को व्रत की मर्यादा दे सकते हैं जिनका ज्ञान और चरित्र पवित्र और ठोस हो। जिनके चरित्रबल में वज़न नहीं है वे 'गुरु' कहलाने के योग्य नहीं हैं। विद्यार्थी पर अपना छाप छोड़ने का अर्थ होता है अपने चरित्र के द्वारा प्रभावित करना। हमारे देश में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध प्रीति और श्रद्धा का सम्बन्ध था।

आदि बहुत ही तेजस्वी ज्ञानव्रती उन दिनों काशी को गौरवान्वित कर रहे थे। इनमें से कई विद्वानों के चरणों के निकट बैठने का अवसर मुझे मिला है। उन दिनों देखा था कि विद्यार्थी गुरु लोगों के घर उनके लड़कों के समान ही रहते थे। उनका सम्बन्ध दस बजे-चार बजे वाला सम्बन्ध नहीं था। जिन्होंने नहीं देखा उनके लिए उस प्रेम-गम्भीर सम्बन्ध को समझना भी कठिन है।

पाश्चात्य प्रभाव के प्रबल होने के पूर्व इस देश में श्रद्धा द्वारा ही हम गुरु को आह्वान करते थे। आज वह श्रद्धा चली गई है। पाश्चात्य प्रभाववश हमने अपना पुराना मार्ग छोड़ दिया लेकिन पश्चिम के समान प्रचुर अर्थ देकर अध्यापक का सम्मान करने योग्य शक्ति भी हम में नहीं है। आज तो लोग समझने लगे हैं कि शिक्षक की अपेक्षा पुलिस का कांस्टेबल भी अच्छा है क्योंकि उसका भी कुछ प्रभाव है। दारोगा या हाकिम की तो बात ही क्या है? समाज की ओर से पायी जाने वाली श्रद्धा की जब यह दशा है तो इस दरिद्रता भरी वृत्ति को भला कौन स्वीकार करेगा? इसका जो परिणाम होना चाहिए, वही हुआ। जो सब ओर से निराश हो जाता है, वही इस क्षेत्र में आता है। इसीलिए अधिकांश शक्तिहीन और अक्षम व्यक्ति इसमें घुस गए हैं। हानि किसकी हो रही है? कहना व्यर्थ है कि समूचा देश नीचे की ओर धस रहा है।

यदि समाज गुरुओं को श्रद्धा न दे अश्रद्धा द्वारा छोटा करदे और फिर भी निरुपाय होकर उसी के पास पढ़ने के लिए अपने बच्चों को भेजे तो उसे अपने बच्चों के ऊपर चारित्र्य की छाप की आशा नहीं रखनी चाहिए। सारे समाज से उपेक्षित गुरुओं के प्रति यदि नई पौध के लोगों की श्रद्धा न बढ़े तो अनुशासन हीनता का रोना रोना उचित नहीं है। समाज को नित्य इसका दुर्भोग भोगना पड़ रहा है।

उपाय क्या है? मुझे तो एकमात्र यही रास्ता दीख रहा है कि जो लोग इस क्षेत्र में आगए हैं वे अपना पद गौरव समझें। समस्त अश्रद्धा और विरुद्धता के होते हुए भी भारतवर्ष वही है। अध्यापक यदि चाहें तो वे अपने पुराने गौरव और देश की मर्यादा को लौटा सकते हैं।

जीवन के मूल्य और शिक्षा

श्री कालूलाल श्रीमाली

शिक्षा का सम्बन्ध समाज से है। शिक्षा में समाज के मूल्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। किसी भी देश व काल की शिक्षा पद्धति को हम देखें तो उसमें हमको उस देश व काल के समाज संगठन तथा जीवन के मूल्यों का दिग्दर्शन होगा। भारत वर्ष की पुरातन उपनिषद काल तथा बौद्धकाल की और यूनानी तथा मध्य-कालीन यूरोप की शिक्षा पद्धति के भिन्न आदर्श थे। इन शिक्षा पद्धतियो में विशेष प्रकार के जीवन मूल्यों पर तथा नैतिक गुणों पर जोर दिया जाता था और विशेष प्रकार का व्यक्तित्व बनाने का प्रयत्न किया जाता था।

जब हम शिक्षक के पुन: निर्माण पर विचार करते हैं तो पहला प्रश्न यह उठता है कि जीवन के वे कौन से मूल्य तथा गुण हैं जिन पर हम ज़ोर देना चाहते हैं और किस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते हैं। यह निर्णय करने के पहले हमको यह विचार करना पड़ेगा कि कौन से मूल्य ऐसे हैं जो हमारे समाज में परम्परा से प्रचलित रहे हैं और हमारे जीवन को प्रभावित करते रहे हैं।

अन्तिम वास्तविकता अर्थात् सत्य के प्रति हमारा एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रहा है। हमारा यह मत रहा है कि सत्य तक हम अपनी बुद्धि द्वारा नहीं पहुँच सकते हैं। अन्तिम सत्य की खोज हम तर्क अथवा विश्लेषण द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते बल्कि उसको प्राप्त करने के लिये अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता है। बौद्धिक ज्ञान केवल व्यवहारिक ज्ञान है जो हमें इस संसार को जानने में तथा हमारे भौतिक लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होता है। हम बिना ज्ञान के अपने कर्तव्य में सफल नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार के ज्ञान में मन और वस्तु भिन्न रहते हैं। वस्तु का ज्ञान और उसका अस्तित्व अलग अलग रहता है। ज्ञान के सहारे हम सत्य और असत्य में वास्तविकता और कल्पना में प्रयोग सिद्धि द्वारा भेद कर सकते हैं क्योंकि प्रयोग सिद्धि में सब वस्तुएँ सम्बन्धित रहती हैं। जब हमको किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है तो हम हमारे पूर्व परिचित जगत् के साथ उसको सम्बन्धित करने की कोशिश करते हैं।

परन्तु इस प्रकार का व्यवहारिक ज्ञान अथवा बौद्धिक ज्ञान हमको बहुत दूर नहीं ले जा सकता। जहाँ बौद्धिक ज्ञान होता है वहाँ अविद्या रहती है। वास्तविक सत्य को प्राप्त करने के लिये हमको बुद्धि के ऊपर उठना पड़ेगा। हमको स्वार्थ और आत्मवाद से अलग होकर अपने आप को उस परमात्मा में मिला देना पड़ेगा कि जिससे हमारी बुद्धि और हमारी इन्द्रियों का विकास हुआ है। जब हम अपने आपको परमात्मा में लीन कर देंगे तो वस्तु भेद मिट जायगा और हम वास्तविकता तक पहुँचेंगे। अन्तर्ज्ञान व्यक्तिगत होता है और इसलिये वह एक दूसरे को शब्दों द्वारा नहीं पहुँचाया जा सकता। इस प्रकार के ज्ञान को न तो हम प्रमाणित कर सकते हैं और न हम उस पर तर्क वितर्क कर सकते हैं। यह ज्ञान उन सब अपूर्ण और एक देशी ज्ञानों के ऊपर होता है जो आपको इन्द्रियों तथा बुद्धि से प्राप्त होता है। अन्तिम वास्तविकता का साक्षात्कार हमको

तब ही होता है जब कि हमारा मन अन्दर से शान्त और एक लय में होता है। इस प्रकार बुद्धि का और अन्तर्ज्ञान का भेद हमको हमारे दर्शनों में मिलता है। दोनों ही प्रकार के ज्ञान आवश्यक हैं और जीवन में दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं।[1]

दूसरा विचार जो हमारे यहाँ प्रचलित रहा है वह यह है कि जब तक हम अलग व्यक्तित्व कायम रखते हैं हम जीवन के बन्धनों से मुक्त नहीं होते। व्यक्तित्व का विकास और अन्तिम लक्ष्य यही है कि वह परमात्मा में मिल जावे। उसी दशा में जीवन मरण, दिशा और काल से ऊपर उठ सकते हैं और संसार के बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं। हमारा व्यक्तित्व परमात्मा का एक अंश है और जब तक हम अपने आपको उससे अलग समझते हैं तो हम अपने असली रूप को नहीं जानते। इसी कारण हमारे शास्त्रों में आत्मज्ञान और तत्वज्ञान पर इतना अधिक जोर दिया गया है। जीवन का लक्ष्य यह समझा जाता है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को धीरे धीरे भूलता जाय और अपने आपको ब्रह्म का सच्चा स्वरूप समझने लगे जिसका कि वह केवल अंश मात्र है। जैसे जैसे मनुष्य अपने व्यक्तित्व को भूलता जाता है और ब्रह्म से एक होता जाता है वैसे वैसे वह मुक्ति के निकट पहुँचता जाता है और अन्त में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने का नाम ही मुक्ति है। ऐसी दशा में मनुष्य जीवन और मरण के सुख दुखों से मुक्त होकर स्थान व काल से ऊपर उठकर ब्रह्म में लीन होकर परम आनन्द की अवस्था में पहुँच जाता है। हिन्दू धर्म में जीवन का अन्तिम लक्ष्य इसी अवस्था को पहुँचना है।[2]

तीसरा विचार जो हिन्दू दर्शनों में मिलता है वह यह है कि यह जगत् मिथ्या है और ब्रह्म ही सत्य है। कर्म के बन्धनों के कारण मनुष्य अपने असली रूप को भूल जाता है और वह संसार के सुख दुखों में लिप्त हो जाता है। मनुष्य जब तक अज्ञान में रहता है तब तक उसको इस संसार की अनुभूति होती है उसको इन्द्रीय जनित ज्ञान होता है। उसमें भावनायें और इच्छाएं होती हैं परन्तु ज्योंही वह अपने असली रूप को पहिचान लेता है वह कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है और भावना व इच्छा से रहित हो जाता है। जब तक मनुष्य संसार में लिप्त रहता है और अपने असली रूप को नहीं पहिचानता है तब तक वह संसार के अनुभवों को सांसारिक सुखों को और सांसारिक घटनाओं को वास्तविक समझता है। अपने पुराने कर्मों के कारण ही उसको अपने साथ संसार का यह झूठा सम्बन्ध होने का तथा सांसारिक अनुभवों की अनुभूति होती है। परन्तु ज्योंही उसको मुक्ति मिल जाती है, संसार और उसके अनुभवों से उसका सम्बन्ध छूट जाता है। वेदान्त में तो यहां तक कहा गया है कि इस संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह केवल मायावी कल्पना है और यह तभी तक रहती है जब तक कि हमको सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। जब हमको 'तत्वमसि' का बोध हो जाता है तब हमारे जितने भी संसार के अनुभव हैं सब मिट जाते हैं। यह इसीलिए होता है कि जो संसार का क्रम है वह अन्तिम और सर्वोपरि सत्य नहीं है। इस संसार की जो भिन्नता और अनेकता हमें नजर आती है वह असत्य है क्योंकि वह वास्तविक सत्य का प्रतिरूप नहीं है। यह सत्य है कि संसार के साधारण अनुभवों को सत्य मान कर उनके मुताबिक अपना दैनिक कार्यक्रम हम चलाते हैं और संसार के जो अनुभव हमको होते हैं उनमें भी क्रम व नियम विधि होती है परन्तु वे वास्तविक सत्य के प्रतिरूप नहीं हैं। वे सत्य तब ही तक हैं जब कि हमको ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है। ज्योंही हमको ब्रह्म का सच्चा रूप दिखाई देता है संसार का यह मिथ्या रूप नष्ट हो जाता है। केवल एक ही सत्य ब्रह्म की अनुभूति रह जाती है जो सच्चिदानन्द रूप है।[3]

No. 1. S. Radhakrishna: An Idialist View of Life, pp. 143-148.
No. 2. S. Radhakrishna: An Idialist View of Life, pp. 303-311.
No. 3. Surendranath Das gupta: A History of Indian Philosophy, Vol. I, pp. 439-441.

प्रत्येक युग के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने मूल्यों को निर्धारित करे। जो समाज पुराने मूल्यों को वैसे के वैसे अंगीकार कर लेता है वह गतिशील नहीं रहता गतिशील समाज के लिये यह आवश्यक है कि जीवन के मूल्यो का निरन्तर पुनर्निर्माण होता रहे। हमको यह देखना पड़ेगा कि हिन्दू समाज के इन परम्परागत मूल्यों को व विचारों को किस रूप में आधुनिक काल में हम अपने जीवन में अंगीकार कर सकते हैं।

जिस तरह अन्तर ज्ञान को हमने सत्य की खोज के लिये प्रधानता दी है उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता ने तर्क और बुद्धि को प्रधानता दी है इसलिये हम देखते हैं कि पश्चिम में वहां के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्श जो प्रयोग सिद्ध के अनुभव पर आश्रित नहीं होते हैं उनमें पूरा विश्वास कभी नहीं होता है और जो प्रयोग सिद्ध सिद्धान्त होते हैं उनके बारे में भी कोई अन्तिम स्थिति नहीं होती। ज्यो ज्यों यथार्थता का नया ज्ञान होता जाता है वैसे वैसे सिद्धान्त बदलते जाते हैं। पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में इस प्रकार का पुनर्निर्माण निरन्तर देखते हैं चाहे वह विज्ञान व दर्शन में हो अथवा धर्म तथा अन्य सामाजिक मूल्यों में हो। यथार्थता के आधार पर एक सिद्धान्त बनाया जाता है और फिर उससे तर्क द्वारा कुछ परिणाम निकाले जाते हैं। इन परिणामों की फिर निरूपण तथा प्रयोग द्वारा जांच की जाती है और उसके अनुसार सिद्धान्तो का पुनर्निर्माण होता है। इस तरह हम देखते हैं कि पश्चिमी सभ्यता का आधार सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक है।[४]

यहां हम यह मान लेते हैं कि विश्व में बहुत सी बातें अभी ऐसी हैं कि जो हमको वैज्ञानिक ढंग से अथवा तार्किक विश्लेषण से मालूम नहीं हुई हैं और हम यह भी जानते हैं कि विज्ञान के पिछली शताब्दी के निर्णय और निष्कर्ष सब बदलते जा रहे हैं। विज्ञान की नई खोजें संकेत करती हैं कि पदार्थ, भौतिकवाद तथा मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रश्न आदि सब के बारे में विज्ञान के पुराने विचार बदल गये हैं और इनके बारे में नई दृष्टि से सोचना आवश्यक है। यह भी सम्भव है कि विश्व के कई प्रश्नों के बारे में हमको आज कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता परन्तु यह कोई कारण नहीं है कि हम बुद्धि का व विज्ञान का सहारा छोड़ दें। सौ वर्ष पहले जो बहुत से रहस्य आध्यात्मवाद के अंधकार में छिपे थे आज हमको वैज्ञानिक तार्किक विश्लेषण द्वारा स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि समय, स्थान, मन और भौतिक पदार्थ इत्यादि जटिल प्रश्नों के बारे में कोई निश्चित उत्तर मिल गया है। परन्तु हम यह कह सकते हैं कि कुछ ऐसा तरीका हमने निकाल लिया है जिसके द्वारा हम निरन्तर वैज्ञानिक सत्य के पास पहुँचते जा रहे हैं।

जहां हम वास्तविकता की खोज के लिये अन्तर्ज्ञान का सहारा लेते हैं और तर्क तथा प्रयोग द्वारा अपने अनुभवों को सिद्ध नहीं कर सकते वहां हमेशा यह खतरा रहता है कि हम सत्य और असत्य मे फर्क न कर सकें। अनुभूति व्यक्तिगत होती है और व्यक्ति ही इसकी जांच करता है। वह अनुभूति न दूसरों को बताई जा सकती है न उसको प्रमाणित किया जा सकता है। इस दशा में हम यही कह सकते हैं कि जो अनुभूति द्वारा वास्तविकता का ज्ञान होना मानते हैं उनकी बात का खंडन नहीं करना चाहते हैं पर व्यवहारिक जीवन में हमको इसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती कि हम बुद्धि व विज्ञान के रास्तों को छोड़कर किसी दूसरे आध्यात्मिक मार्ग से सत्य को प्राप्त करें।

इसी तरह हम देखते हैं कि पश्चिम में जिनका दार्शनिक स्वतन्त्र विचारों का विकास हुआ उसकी बुनियाद व्यक्तिवाद है। जब डेकार्टे ने निश्चयात्मक रूप से यह कहा कि मैं विचार करता हूं इसलिये मैं हूं: तभी से ज्ञान की बुनियाद प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न हो गई क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिये विचारकरने का दृष्टि

No. 4. F. S. C. Northrop: The Meeting of East and West, pp. 296–300.

कोण अपना ही अस्तित्व था न कि दूसरे व्यक्तियों का या समाज का। इसी तरह डेकार्ट के इस विचार ने कि शुद्ध और साफ़ विचार की कसौटी अन्तरावलोकन ही है इस व्यक्तिवाद को और दृढ़ कर दिया। डेकार्ट के बाद पश्चिमी दर्शन में बौद्धिक व्यक्तिवाद कम या अधिक मात्रा में रहा है।[५]

इसके बाद लॉक ने व्यक्तिवाद की और पुष्टि की, उसने कहा कि व्यक्ति बिलकुल स्वतन्त्र और स्वाधीन है। व्यक्ति ही अपने अन्तरावलोकन के आधार पर यह निश्चय करेगा कि उसका धर्म सही है या गलत। मानसिक पदार्थों में अर्थात् पुरुषों में कोई ऐसा तत्व नहीं है कि जो एक दूसरे में किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर राज्य की आवश्यकता को सिद्ध कर सकें। लॉक के दो बुनियादी सिद्धांत ये: १ सब व्यक्ति बिलकुल स्वतन्त्र और बराबर हैं २ राज्य की उत्पत्ति और बुनियाद राज्य के किये जाने वालों के मत पर निर्भर है। पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद विशेष कर संयुक्त राष्ट्र की इस व्यक्तिवाद के सिद्धांत पर आश्रित है।[६]

इस लिये हम देखते हैं कि पश्चिमी लोकतन्त्रों में यह विचार बराबर रहा है कि व्यक्ति समाज में बिलकुल समा नहीं जाता है और समाज भी व्यक्ति का पूरा लेखा नहीं दे सकता है। कुछ मानों में व्यक्ति सदैव अपने आपको समाज से अलग रखता है। यदि वह समाज में पूर्णतया मिलना भी चाहे या समाज को अपना आत्मसमर्पण करदे तब ही वह अपना व्यक्तित्व कायम रखता है। व्यक्ति जीवित पदार्थों के सूक्ष्म कोषों की तरह नहीं है परन्तु वह हमेशा स्वतन्त्र रूप से अपने आप को गति देता है। जब वह समाज के लक्ष्यों को पूरा करता है उस समय वह अपने लक्ष्य को भी प्राप्त करता है। वह जब और लोगों से मिलता है उस समय भी उसका व्यक्तित्व अलग ही रहता है। उसके अपने लक्ष्य, भावनाएं, और विचार होते हैं जो समूह के साथ मेल नहीं खाते। हम में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े व्यक्ति का निजी जीवन होता है।[७]

यह व्यक्तिवादी विचार पश्चिमी सभ्यता का आधारभूत रहा है। हम लोग पश्चिमी सभ्यता के आधार पर अपना लोकतन्त्र कायम कर रहे हैं अतः हमको यह विचार करना पड़ेगा कि हमारे दर्शन में जहां व्यक्ति का कोई अलग अस्तित्व नहीं है और पश्चिमी सभ्यता में जहां व्यक्ति की इकाई ही सभ्यता की बुनियाद है कैसे मेल बैठेगा।

एक आशा जनक बात तो यह है कि पश्चिम में जो नये व्यक्तिवाद का विकास हो रहा है वह पुराने व्यक्तिवाद से भिन्न है। वहां का व्यक्तिवाद स्थिर नहीं है वह गतिशील रहा है। नये व्यक्तिवाद का यह विश्वास है कि व्यक्ति की मानसिक व नैतिक बनावट, उसकी इच्छाएं और उद्देश्य सामाजिक संगठन के परिवर्तन होने से बदलते रहते हैं। जो व्यक्ति किसी संगठन में चाहे वह घरेलू, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक अथवा शिक्षा सम्बन्धी हो, बंधा हुआ नहीं है वह मानव नहीं दैत्य है। जो बन्धन मनुष्यों को बाधते है वे केवल बाहरी ही नहीं हैं पर उसका असर मनुष्य के चरित्र और मन पर पड़ता रहता है। नया व्यक्तिवाद समाज को तथा विज्ञान और मशीन को स्वीकार करता है। संगठित समाज और मशीन से दूर भागने से मनुष्य की आधुनिक समस्या हल नहीं होती परन्तु उसको जीवन में अंगीकार करने से और उसका अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये उपयोग करने से ही उसका हल संभव है। जिस नये समाज का हम निर्माण करना चाहते है उसका आधार न तो पुराना पश्चिमीय स्वतन्त्र व्यक्तिवाद हो सकता है जहां कि सारा समाज केवल व्यक्ति के लाभ और विकास के

No. 5. Bertrand Russell: The History of Western Philosophy, pp. 622-623.
No. 6. F. S. C. Northrop: The Meeting of East and West, pp. 70-102.
No. 7. R. M. MacIver: The Web of Government, pp. 412.

लिये ही स्थित है और न भारतीय निरंकुश समाज व्यवस्था कि जहां व्यक्ति का कोई अलग व्यक्तित्व नहीं है। हमको व्यक्ति का स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्वीकार करते हुये भी यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति का सच्चा विकास समाज के द्वारा ही हो सकता है। व्यक्ति अपनी पूर्णता समाज से अलग होकर नहीं वरन समाज में रहकर ही प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे पर निर्भर है। जहां व्यक्ति केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि और लोभ की प्राप्ति में लग जाता है वहाँ वह समाज को तो हानि पहुँचाता ही है पर उसी के साथ यह अपने आप भी गिरता है। परन्तु जहां मनुष्य समाज के अच्छे मूल्यों की सिद्धि के लिए अपने आपको मिटा देता है वहां वह अपना आत्म विकास करता है और पूर्णता की तरफ बढ़ता है।[८]

संसार की निरर्थकता के प्रति भी जो हमारा दृष्टिकोण है उसको बदलना पड़ेगा। आधुनिक मनुष्य को इस विश्वास से शांति नहीं होती कि यह दुनिया केवल माया है। आज जो मनुष्य निर्धन, भूखे, नंगे और दुखी हैं उनको हमारे दर्शन का यह कथन कि इस दुनिया में वास्तविकता नहीं है, सान्त्वना नहीं दे सकता। आधुनिक समाज में कोई भी सत्य यदि हमको बार बार चुनौती दे रहा है तो यह यह है कि मनुष्य का सुख जिसमें आध्यात्मिक सुख भी सम्मिलित है बिना जीवन की आवश्यक वस्तुओं के प्राप्त नहीं होता। जहाँ गरीबी और भूख है वहाँ धर्म और संस्कृति का विकास नहीं हो सकता इसलिये हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार की वास्तविकता से हम दूर नहीं हो सकते हैं। संसार को यदि हम मिथ्या मान लेते हैं तो हम को विज्ञान से और उसके द्वारा हुए उन आविष्कारों से जिनके कारण हमने हमारे वातावरण पर आधिपत्य पाया है विमुख होना पड़ेगा। इसका अर्थ हुआ हमारी आधुनिक समस्या और समाज संगठन से विमुख होना।

यहाँ हम भौतिक पदार्थ की वास्तविकता के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते हैं क्योंकि विज्ञान स्वयं इस विषय में अभी निश्चित रूप से अपना मत प्रकट नहीं कर पाया है। सपेक्षा सिद्धात (Theory of Relativity) उसके तथा परिणाम सिद्धांत (Quantum Theory) द्वारा मतों में आमूल परिवर्तन होता जा रहा है। विज्ञान के पुराने विचारों की यह धारणा कि संसार मन से बिलकुल स्वतन्त्र है और चाहें यह मनुष्य को इन्द्रीगोचर हो या न हो यह सदैव कायम रहता है, अब बदलती जा रही है। जिसको पहिले भौतिक पदार्थ समझते थे वह आज विज्ञान द्वारा मन के गुणों के अधिक नजदीक पाया जाता है।[९]

हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जिस वातावरण में हम रहते हैं चाहे वह भौतिक हो तथा मानसिक या दोनों ही का सम्मिश्रण हमको उसे ध्यान मे रखना पड़ेगा। जीवन का विकास वातावरण से विमुख होने से नहीं परन्तु उसको अपने वश में करने से अथवा उसके साथ मेल बिठाने से ही सम्भव है किसी भी अवस्था में उससे विमुख होना या उसे मिथ्या समझना अपने विकास में रुकावट डालना है।

समाज की व व्यक्ति की उन्नति तीन स्तरों पर होती है।

१. जाति की विरासत और देन को उन्नत करना, आर्थिक तथा शिल्पकला सम्बन्धी उन्नति करना और इन दोनों को नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों द्वारा नियंत्रित रख कर सामाजिक हित में इनका उपयोग करने का नाम ही प्रगति है। प्रगति मनुष्य की आदर्श मूल्यों से आंकी जाती है। परन्तु मनुष्य के लिये उसके जीवन सम्बन्धी और आर्थिक मूल्य भी आवश्यक हैं क्योंकि ये आदर्श और आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने के साधन हैं। मनुष्य की प्रगति जीवन सम्बन्धी आर्थिक और नैतिक तीनों एक ही साथ होते हैं और मनुष्य का और समाज का विकास भी साथ ही साथ होता है। हम विकास को व्यक्ति की और समूह दोनों दृष्टि से देखते हैं। जब हम जीवन सम्बन्धी और आर्थिक से मूल्यों से उठकर आदर्श मूल्यों के क्षेत्र में जाते हैं तो कभी हम व्यक्ति की दृष्टि से सोचते है और

No. 8. John Dewey: Individualism, Old and New, pp. 81–83.
No. 9. Sir James Jeans: Physics and Philosophy, pp. 195–204.

कभी समाज की दृष्टि से। लेकिन इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। समाज की तथा व्यक्ति की उन्नति एक तरफा नहीं होती परन्तु वह सभी क्षेत्रों में होती है। जब हम समाज को समानता, न्याय और संगठन के आधार पर बनाने का विचार करते हैं तब आर्थिक स्तर पर अधिक से अधिक शिल्पकला सम्बन्धी व्यवस्था और उन्नति आवश्यक हो जाती है। और जीवन सम्बन्धी स्तर पर अधिक से अधिक आबादी और जाति की अविच्छिन्नता आवश्यक हो जाती है। उसी प्रकार जब हम व्यक्तिगत दृष्टि से मनुष्य में व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहते है और उसको सत्य, शिव और सौन्दर्य के गुणावगुण का ज्ञान कराना चाहते है तो व्यक्ति के जीवन में आर्थिक स्तर पर अधिक से अधिक आय, अवकाश, व्यय और जीवन स्तर पर अधिक से अधिक आयु, बुद्धि और जीवन में स्थिति स्थापकता लचीलापन और मिलनसारी आवश्यक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्राप्त करने के लिये जीवन सम्बन्धी आर्थिक मूल्य अनिवार्य हैं क्योंकि ये उसके साधन हैं।[१०]

इस विवेचन के बाद हम उस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आज जब हम हमारे समाज का पुनर्निर्माण करने में लगे हैं तो इस बात की आवश्यकता है कि हम हमारे पुराने मूल्यों का पुनर्निर्माण करें। जीवन के आदर्श मूल्य सभ्यता और संस्कृति को बनाते हैं। समाज का पुनर्निर्माण बिना मूल्यों के पुनर्निर्माण के नहीं हो सकता है। हमारा वास्तविकता के प्रति, व्यक्तित्व के प्रति और सांसारिक जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है उसको पुनः आंकने की आवश्यकता है। ऐसे तो हिन्दू दर्शन और शास्त्र इतने व्यापक हैं कि जीवन के सभी अच्छे मूल्यों का उनमें समावेश है। परन्तु हमको देखना यह है कि पुरातन काल में किन मूल्यों पर विशेष जोर दिया जाता था और क्या इनको नये युग में बदलने की आवश्यकता है। हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जीवन के आदर्श मूल्यों को प्राप्त करने के लिए सासारिक जीवन आवश्यक है। यह मूल्यों को प्राप्त करने का साधन है और आज के युग में बिना विज्ञान के और वैज्ञानिक तरीके के यह साधन प्राप्त नहीं हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो हमारे जीवन के भिन्न भिन्न अंगों में एकीकरण नहीं है। हमारे आदर्शों में और व्यवहार में मेल नहीं है। विचारों में आध्यात्मवादी और व्यवहार में भौतिकवादी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम दोनों का अपने जीवन में समावेश कर लें और एक को दूसरे का परिशिष्ट समझ लें।

शिक्षा इस नये आदर्श को प्राप्त करने में सहायक हो सकती है। शिक्षा संस्कृति की वाहक ही नहीं परन्तु संस्कृति की निर्माता भी है। शिक्षा द्वारा संस्कृति का पुनर्निर्माण होता रहता है।

भारतवर्ष में पुरातन काल के मूल्यों को प्राप्त करने के लिए बहुत सुन्दर शिक्षा पद्धति बनाई गई। पुरातन काल में सत्य को बौद्धिक रूप से प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं था। ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनन आवश्यक था लेकिन सच्चा ज्ञान निदिध्यासन द्वारा ही मिल सकता था। वेद इतिहास पुराण और अन्य शास्त्रों के अध्ययन इत्यादि से मनुष्य को सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता था सच्चा सुख और मुक्ति तो ब्रह्म के साक्षात्कार से ही मिल सकती थी। यही कारण था कि शहर से दूर मनुष्यों की बस्ती से दूर उपवनों में गुरुकुल हुआ करते थे। शहरों और समाज में रह कर मनुष्य अपनी असली आत्मा को खो देता था। आत्मा का सच्चा दर्शन करने के लिए यह आवश्यक था कि वह प्रकृति के पास रहे। एकाग्रता और ध्यान के लिये यह आवश्यक था कि वह समाज की उलझनों से मुक्त रहे।[११]

नये समाज के लिए यह आवश्यक है कि स्कूल व समाज में जो भेद है उसे मिटा दे। स्कूल समाज का एक अंग होना चाहिये। बालक जितना ही समाज के पास रह कर शिक्षा को प्राप्त करता है उतना ही वह

No. 10. Radha Kamal Mukerjee: The Social Structure of Values, pp. 400–405.
No. 11. Radha Kumud Mukerjee: Ancient Indian Education, pp. 21–24.

प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन

सामाजिक जीवन के लिये अपने आप को तैयार करता है। स्कूल समाज के अच्छे तत्वों की एक परछाई है। स्कूल को यदि हम समाज से अलग रखें तो वे आधुनिक काल में निर्जीव और अप्रगतिशील हो जायंगे और समाज का नेतृत्व करने का कर्तव्य पूरा नहीं कर सकेंगे। व्यक्तित्व समाज में रहने से खोता नहीं है परन्तु व्यक्ति अपने असली व्यक्तित्व को समाज में रहकर और सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त करता है।

हमारे समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करने के लिए भी हमको शिक्षा में काफी सुधार करना पड़ेगा। शिक्षा के जितने भी विषय हैं उनको वैज्ञानिक ढंग से समझने और समझाने की आवश्यकता है। हमारे देश में पुरानी सभ्यता होने के कारण रूढ़ी और परम्परा का बड़ा जबरदस्त असर रहा है। जो भी ज्ञान हमको पुस्तकों द्वारा मिलता है उसको हम ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उस ज्ञान के प्रति सन्देह तथा अनुसन्धान की वृत्ति हममें कम है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हमको विश्वास पर नहीं चलना चाहिए पर हमको हमारे विश्वासों की परीक्षा करने के लिए और उन्हें प्रमाणित करने के लिए तैयार रहना चाहिये। हमारे धार्मिक और दार्शनिक जितने भी मत हैं उनको प्रयोग और अनुभव से पुष्ट तथा परिवर्तित करते रहना चाहिये। यही आधार स्वीकार करेंगे तब हमारे समाज की प्रगति हो सकती है। स्कूलों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण लाने के लिये केवल विज्ञान पढ़ना ही काफी नहीं है परन्तु हमारी पहुँच का मार्ग वैज्ञानिक होना चाहिए अर्थात् विद्यार्थियों को सब विषय उसी ढंग से पढ़ाये जाने चाहिये कि जिस तरह विज्ञान का अध्ययन होता है। प्राय: हम विज्ञान में और मानव सम्बन्धी विषयों में (Humanism) में भेद करते हैं। हमारी दृष्टि से यह भेद अवांछनीय और अप्राकृतिक है। सत्य चाहे अर्थ शास्त्र, साहित्य, राजनीति, अथवा कला में हो उसको प्राप्त करने की एक ही विधि है और वह है वैज्ञानिक विधि। किसी भी क्षेत्र में हम बिना प्रमाण के अथवा प्रयोग के सिद्धांत को स्वीकार न करें उसीका नाम वैज्ञानिक विधि है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने से दर्शन और विज्ञान में जो आज भेद भाव बना हुआ है और जिसके कारण आज दुनिया में बहुत अशान्ति बनी हुई है वह मिट सकती है। यदि आज मनुष्य समाज एक हो सकता है और उसके मतभेद मिट सकते हैं तो वह विज्ञान के आधार पर ही हो सकता है क्योंकि विज्ञान ही समाज में ऐसी वस्तु है जिसको आज सारा संसार स्वीकार करता है।[१२]

ऊपर हम बता चुके हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने में अध्यापक और स्कूल बहुत मदद कर सकते हैं यदि वे स्कूल का वातावरण और अध्यापन का काम उसी दृष्टिकोण और नैतिकता से चलावें जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण ने समझाया था। श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को पूरा उपदेश देने के बाद कहते हैं "विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु" अर्थात् जो कुछ मैंने तुमसे कहा है तुम इस पर खूब मनन करो, अपनी बुद्धि और विवेक को काम में लो और उसके बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो। यहां श्रीकृष्ण गीता का उपदेश देने के बाद अर्जुन को यह आदेश करते हैं कि सत्य की खोज उसे स्वयं करनी चाहिए। न तो स्वभाव से और न किसी के प्रभुत्व या अधिकार से किसी विश्वास को बनाना चाहिये। यहां श्रीकृष्ण इस बात पर जोर देते हैं कि हमारे विश्वासों की बुनियाद विचारयुक्त और प्रयोगात्मक होनी चाहिये। अर्जुन को यह अनुभव होना चाहिए कि जो भी विचार हो वे उसी के हैं और किसी गुरू ने उसके ऊपर नहीं लादे हैं। यह विचारयुक्त प्रयोगात्मक वैज्ञानिक विधि जब हमारे शिक्षालयों में और पद्धति में प्रवेश कर लेगी तभी हम नये समाज का और नये मूल्यों का निर्माण कर सकेंगे।[१३]

No. 12. F. S. C. Northrop: The Logic of Sciences and the Humanism, pp. 311–327 and 348–362.

No. 13. S. Radha Krishnan: Bhagvad Gita, pp. 375–376.

परीक्षाओं का विकेन्द्रीकरण

श्री सदगुरुशरण अवस्थी एम. ए.

परीक्षाओं से मेरा अभिप्राय केवल हाईस्कूल और इन्टरमीडियेट परीक्षाओं से है। इस प्रांत की सबसे बड़ी परीक्षा हिन्दुस्तानी मिडिल परीक्षा थी। इतने अधिक परीक्षार्थी संसार की बहुत कम परीक्षाओं में बैठते थे, पर इस समय हाईस्कूल के छात्रों की संख्या भी बहुत है। परीक्षार्थियों की सख्या इस थोड़े काल में इतनी बढ़ गई है कि इन्टरमीडियेट के परीक्षार्थियों को सम्मिलित कर लेने से यह असम्भव सा है कि उसकी व्यवस्था का संचालन एक केन्द्र से हो सके। मुझे ज्ञात है कि केवल कानपुर नगर से इस वर्ष पांच सहस्र से अधिक परीक्षार्थी प्राइवेट तौर पर बैठेगा। नियमित रूप से परीक्षा में बैठने वाले अर्थात् किसी कालेज अथवा स्कूल से पढ़कर बैठने वाले, परीक्षार्थी भी बहुत हैं। ऐसी दशा में हाईस्कूल और इन्टरमीडियेट बोर्ड प्रांत भर के सब परीक्षार्थियों की व्यवस्था अकेले नहीं कर सकता। यही कारण है कि वहां से पत्रों के उत्तर महीनों के बाद आते हैं। वहां से पाठ्यक्रम भी बड़ी देर से निकलने लगा है और वहां परीक्षार्थियों के अंक निरीक्षण का कार्य महीनों तक पूरा नहीं हो पाता। इसमें किसी का दोष अथवा असावधानी नहीं है, वरन् काम इतना बढ़ गया है कि बिना विकेन्द्रीकरण किये उसका सम्पादन सुचारु रूप से हो ही नहीं सकता।

भारतवर्ष का यह सबसे बड़ा प्रांत है। सबसे अधिक विश्वविद्यालय इसी प्रांत में हैं। और भी विश्व-विद्यालय खुलने की योजनाएँ बन रही हैं। ऐसी दशा में हाईस्कूल और इन्टरमीडियेट परीक्षाओं का भी विकेन्द्रीकरण होना चाहिये। वर्तमान शिक्षामन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द जी ने प्रारंभिक शिक्षा का भी यथेष्ट विस्तार किया है। साक्षरता बढ़ रही है, न जाने कितने जूनियर और हायर सेकेन्डरी स्कूल खोले गये हैं। इन सबके कारण निकट भविष्य में परीक्षार्थियों की सख्या और भी अधिक बढ़ जायगी। ऐसी दशा में यदि परीक्षा का कार्य एक ही बोर्ड के अधीन रहा तो और भी अव्यवस्था फैलने की आशंका है।

इस सम्बन्ध में मेरा यह सुझाव है कि बोर्ड का कार्य पाच उपप्रांत बोर्डों में बाँट दिया जाय और केन्द्रीय बोर्ड भंग कर दिया जाय। इन पांच बोर्डों की स्थापना पांच बड़े नगरों में की जाय। प्रांत में मिले हुए देशी राज्यों का भी ध्यान रखा जाय। वर्तमान बोर्ड का विधान बड़ा भारी और सदस्यों की संख्या बहुत अधिक है, इसी कारण व्यय भी बहुत अधिक है। मेरी यह धारणा है कि १५ सदस्यों का प्रत्येक उप प्रांत बोर्ड बने और उसकी उपसमितियों की संख्या भी कम हो तथा उपसमितियों में दो चार को छोड़ कर तीन से अधिक सदस्य न हों। परीक्षा कार्य के अतिरिक्त बोर्ड पाठ्यक्रम का निर्धारण भी करता है, और नयी संस्थाओं को मान्यता भी प्रदान करता है। उसके निरीक्षक संस्थाओं का निरीक्षण भी करते हैं। इस सारे कार्य को उपप्रांत बोर्ड अपने अपने उपप्रांतों के लिये करें। अभी तो संस्थाओं का निरीक्षण किसी भी क्रम से नहीं होता। चार चार अथवा पांच पांच वर्ष बाद निरीक्षक मंडल पधारता है और फिर उसके निरीक्षण विवरण की प्राप्ति तो वर्षों तक नहीं होती।

मैं नहीं कहता कि निरीक्षण कार्य अनिवार्यतः आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना भी अच्छी संस्थाएँ अपने उत्तरदायित्व के भरोसे अच्छे से अच्छा काम करती हैं। मैंने तो केवल नियम की शिथिलता की बात कही है। जब व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण हो जायगा तो ऐसी असावधानी न रहेगी।

विकेन्द्रीकरण कार्य में व्यय अवश्य बढ़ जायगा। यद्यपि सदस्यों की संख्या कम करने से थोड़ी बहुत बचत सम्भव है परन्तु पांच कार्यालयों का व्यय एक कार्यालय से अधिक होगा। पांच केन्द्रों पर बड़े वेतन पाने वाले पांच कर्मचारी रखने पड़ेंगे। छोटे कर्मचारी भी यथेष्ट मात्रा में रखे जायंगे। पांच बोर्डों से पृथक पृथक प्रश्न छपाये जाने का और उन्हें परीक्षा केन्द्रों तक भेजने का भी व्यय बढ़ेगा। पर यह अतिरिक्त व्यय परमावश्यक है। इसमें थोड़ी कमी तो यों भी हो सकती है, यदि जिस स्थान पर उस प्रांतीय बोर्ड की स्थापना की जाय उस स्थान के गैर सरकारी व्यक्तियों का सहयोग भी प्राप्त किया जाय। अधिकतर वे ही उपसमितियों के सदस्य हों, इससे यातायात का व्यय बचेगा। उक्त उपप्रांत का उप शिक्षा सञ्चालक उस बोर्ड का प्रधान हो। इस विकेन्द्रीकरण से प्रश्न पत्रों के एक केन्द्र से अथवा एक उपप्रांत बोर्ड की असावधानी से परीक्षा के समय से पूर्व ज्ञात हो जाने से सारे प्रांत में हाहाकार न होगा और सब परीक्षार्थियों को कष्ट न भोगना पड़ेगा, अपराधी का पता भी शीघ्रता से लग सकेगा।

पांचों उपप्रांत बोर्डों का परीक्षा और शिक्षाक्रम एक ही प्रकार से कैसे रहे यह विचारणीय अवश्य है। इस सम्बन्ध में प्रांतीय शिक्षा संचालक को कुछ विशेषाधिकार होना चाहिये, और फिर जिस प्रकार इस प्रांत के पांच विश्वविद्यालय अपनी शिक्षा और परीक्षा में एक प्रकार का साम्य स्थिर किए हुए हैं वही उदाहरण उपप्रांत बोर्डों को भी अपने समक्ष रखना पड़ेगा। जैसे पाँच विश्वविद्यालय अपनी शिक्षा परीक्षा की समता रखते हुए भी एक ही प्रकार का महत्व नहीं रखते वही बात इन बोर्डों की भी हो सकती है। प्रत्येक की ख्याति उसका निजी महत्व हो सकता है।

वर्तमान सरकार ने शिक्षा प्रसार की योजनाओं में इतना अधिक व्यय अपने ऊपर ले लिया है कि परीक्षाओं के विकेन्द्रीकरण की बात उसके सामने रख कर व्यय की परिधि को बढ़ाना कहां तक समीचीन होगा, यह प्रश्न प्रत्येक देश हितैषी के सामने खड़ा हो जायगा। सोचना यह है कि क्या यह सम्भव नहीं कि व्यय किसी ओर से कम हो जाय। मेरा कुछ ऐसा अनुमान है कि व्यय कम भी किया जा सकता है और शिक्षा प्रसार और प्रचार में कमी भी नहीं आ सकती। यह हमारा सौभाग्य है कि इस प्रांत के शिक्षा सचिव एक चिंतक हैं और अपने विचारों को कार्यरूप देने में साहसी और दक्ष भी हैं। अतएव मुझे विश्वास है कि मेरे सुझाव को वे ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे। मेरा विचार है कि जिस महान् उद्देश्य को लेकर शिक्षा सचिव ने जिला निरीक्षकों की स्थापना की थी वह सफल नहीं हुआ। जिला निरीक्षक सजग और तत्पर व्यक्ति हैं और अपने कार्य को समझते हैं, परन्तु व्यवस्था इतने अवरोधों पर रुक कर चलती है कि जिला निरीक्षक का कार्यालय स्वयं एक अवरोध बन कर रह गया है। उसका कार्य अधिकतर डाकखाने का कार्य रह गया है। शिक्षा सचिव का आदेश शिक्षा संचालक उपशिक्षा संचालक जिला निरीक्षक के कार्यालयों से होता हुआ कालेजों और स्कूलों में महीनों बाद पहुँचता है। इतने अवरोधों और कार्यालयों की क्या आवश्यकता है? प्रांतीय शिक्षा संचालक का कार्यालय कुछ विस्तृत करके वहीं से सारी शिक्षा संस्थाओं का सम्बन्ध क्यों न स्थिर कर दिया जाय? त्वरागति से काम होने लगे और व्यय भी बचे। लम्बी चक्करदार कार्य पद्धति रखने से क्या लाभ? केवल मैनेजर रिटर्नों का देखना, भेजना लौटालना, कभी कभी शिक्षा संस्थाओं में हो आना, प्राइवेट परी–

छात्रियों के प्रार्थना पत्रों को भेजना, न जाने कितने प्रकार के आँकड़ों की स्कूलों और कालेजों से तीन तीन चार चार प्रतिलिपियां मँगवाना, क्या यही काम वर्तमान जिला निरीक्षक का नहीं है ? किसी संस्था में निरीक्षक मंडली के साथ निरीक्षण कार्य करना कोई बड़ा कार्य नहीं। निरीक्षण तो केवल हिसाब का होना चाहिये। सरकारी आडीटर आकर प्रति वर्ष उसकी जांच करता ही है। प्रत्येक सावधान और जागरूक मुख्याध्यापक अपने कालेज अथवा स्कूल का कार्य वैसे ही प्रति दिन निरीक्षण किया करता है। यदि कहीं नियम की अवहेलना होगी तो उसे नियमित रूप से प्रत्येक तीसरे वर्ष गैर सरकारी निरीक्षकों का मंडल अपने ही ढूंढ निकालेगा। वास्तव में निरीक्षण कार्य की विभीषिका जितनी कम हो उतना ही अच्छा है।

व्यय को कम करने का एक और साधन हो सकता है। प्रत्येक बड़े नगर में एक सरकारी स्कूल है। उसी प्रकार की शिक्षा देने वाले नगर में दर्जनों और भी स्कूल हैं। गैर सरकारी स्कूलों की पढ़ाई नियन्त्रण परीक्षा फल सभी सरकारी स्कूलों की अपेक्षा बुरे नहीं हैं। फिर इतना अधिक व्यय करके इन स्कूलों को क्यों अब भी रखा जारहा है ? किसी समय के ये आदर्श विद्यालय होंगे, अब तो उनके आदर्श दूसरे हो रहे हैं। हां, व्यय उनका अवश्य अधिक है। क्या राष्ट्र के धन का यह उचित व्यय है ? अध्यापकों को धीरे धीरे अन्यत्र खपाकर इन संस्थाओं को बन्द कर देना चाहिये। इससे शिक्षा के हेतु बहुत धन बच सकेगा। गैर सरकारी स्कूलों और कालेजों के प्रबन्ध ही पर सरकार अब अधिक से अधिक नियन्त्रण लगा रही है। अतएव कुव्यवस्था की आशंका भी शीघ्र दूर हो जायगी।

विकास का मुख्य साधन

श्री सुखलाल संघवी

प्रधान-तया विकास दो-प्रकार का है शारीरिक और मानसिक। शारीरिक विकास केवल मनुष्यों में ही नहीं पाया जाता, नाना प्रकार के पक्षी और जंगली एवं पालतू पशु तक में उसका विशिष्ट अस्तित्व देखा जाता है। रहने तथा खान-पान आदि के पूरे सुभीते हुए और चिन्ता व भय न रहा तो पक्षी और पशु भी खूब बलवान, पुष्ट एवं गठीले हो सकते हैं। मनुष्य और पशु-पक्षी आदि के शारीरिक विकास में एक अन्तर है जो खास ध्यान देने योग्य है, वह अन्तर यह है कि मनुष्य का शारीरिक-विकास केवल खान-पान के तथा पहनने रहने आदि के पूरे सुभीते एवं निश्चितता मात्र से पूर्ण रूप में सिद्ध हो ही नहीं सकता जब कि पशु-पक्षी आदि का शारीरिक-विकास उतने मात्र से ही पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। मनुष्य के शारीरिक-विकास के पीछे अगर पूरा और समुचित मनो-व्यापार-बुद्धियोग हो तभी वह पूर्णरूपेण तथा समुचित रूपेण सिद्ध हो सकता है। दूसरे किसी तरह से नहीं। इस तरह शारीरिक-विकास जो मनुष्य में पशु-पक्षी आदि की अपेक्षा जुदे स्वरूप का है, उसका असाधारण व प्रधान साधन बुद्धियोग-मनो व्यापार, संयत प्रवृत्ति निवृत्ति यही है।

मानसिक-विकास तो जहां तक उसका पूर्णरूप अभी तक संभव पाया गया है वह मनुष्यमात्र में ही है। मानसिक-विकास में शरीर-योग-देह-व्यापार अवश्य निमित्त है, देह योग के सिवाय मानसिक विकास का संभव नहीं, फिर भी कितना ही देहयोग क्यों न हो, कितनी ही शारीरिक पुष्टि क्यों न हो, कितना ही शरीर बल क्यों न हो, पर अगर मनोयोग-बुद्धि-व्यापार व समुचित रीति से समुचित दिशा में मन की गति-विधि न हो तो मानसिक-विकास, पूर्णता लक्षी मानसिक विकास कभी सम्भव नहीं।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना से इतना तो फलित हो ही जाता है कि मनुष्य का पूर्ण व समुचित शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार का विकास एकमात्र व्यवस्थित, तथा जागरित बुद्धि योग की अपेक्षा रखता है। इस फलित अर्थ में तो न किसी का मतभेद है न यहां इसके विषय में कुछ नया विधान करना है और न तो इसके विषय में विशेष ऊहापोह करना है। यहां संक्षेप में जो कुछ करना है वह इससे संबद्ध फिर भी इससे भिन्न मुद्दे पर ही।

हम और देशों की बात छोड़कर अपने देश को ही सामने रखकर विचार करें तो व्यवहार व तात्विक दृष्टि से विशेष उपयुक्त होगा। अपने देश में यह बात तो हम जहाँ चाहें देख सकते हैं कि जो खान-पान व आर्थिक दृष्टि से ज्यादा निश्चित हैं जिन्हें विरासत में पैत्रिक सम्पत्ति जमींदारी और राजसत्ता तक प्राप्त होती है वे ही अधिकतर मानसिक विकास में मंद होते हैं। खास-खास धनवानों की सन्तानों को देखिये, राज पुत्रों को लीजिए, जमींदारों को देखिये। आप पावेंगे कि बाहरी चमक-दमक और दिखावटी फुर्ती होने पर भी उनमें मन का, विचार शक्ति का, निजी प्रतिभा का विकास कम से कम होगा। बाह्य साधनों की उन्हें कमी नहीं, पढ़ने लिखने के साधन भी उन्हें पूरे प्राप्त होते हैं, शिक्षक-अध्यापक आदि की सामग्री भी यथेष्ट उन्हें होती है,

फिर भी उस वर्ग का मानसिक विकास एक तरह से रुके हुए तालाब के पानी की तरह गतिहीन होता है। इसके विरुद्ध हम एक ऐसा वर्ग लें जिसे विरासत में न तो कोई स्थूल सम्पत्ति मिलती है और न कोई दूसरे मनोयोग के विशिष्ट सुभीते सरलता से मिलते हैं फिर भी उसी वर्ग में से असाधारण मनो विकास वाले व्यक्ति पैदा होते हैं। इस तफावत का कारण क्या है? यही हमें देखना है। होना तो यह चाहिए था कि जिन्हें साधन अधिक और अधिक सरलता से प्राप्त हों वे ही अधिक तथा जल्दी विकास प्राप्त करें पर देखा जाता है उल्टा। इससे हमें खोजना चाहिए कि तब विकास की असली जड़ क्या है? मुख्य उपाय क्या है कि जिसके न होने से और सब कुछ होते हुए भी न होने के बराबर हो जाता है।

उक्त प्रश्न का जवाब बिलकुल सरल है और प्रत्येक विचारक व्यक्ति अपने जीवन में से तथा आस पास वालों के जीवन में से पा सकता है। वह जवाब यह है कि जवाब देही व उत्तरदायित्व ही विकास का प्रधान व असाधारण बीज है। हमें मानस शास्त्र की दृष्टि से देखना होगा कि जवाबदेही में ऐसी क्या शक्ति है जिससे वह अन्य सब विकास के साधनों की अपेक्षा प्रधान साधन बन जाती है। मन का विकास उसके सत्व-अंश की योग्य व पूर्ण जागृति पर ही निर्भर है, जब राजस व तामस अंश सत्वगुण से प्रबल हो जाता है तब मन की विचार शक्ति, योग्य विचार शक्ति व शुद्ध विचार शक्ति आवृत तथा कुंठित हो जाती है। मन का राजस तथा तामस अंश बलवान हुआ तो उसी को व्यवहार में प्रमाद कहते हैं। कौन नहीं जानता कि प्रमाद से वैयक्तिक और सामष्टिक सभी खराबियां होती हैं। जब मनुष्य बिन जवाबदेह रहता है तब उसकी बेजवाबदेही के कारण उसके मन की गति कुंठित हो जाती है और प्रमाद का तत्व बढ़ने लगता है जिसे योगशास्त्र में मन की क्षिप्त व मूढ़ अवस्था कहा है। जैसे शरीर पर शक्ति से अधिक बोझ लादने पर उसकी स्फूर्ति उसका स्नायुबल कार्य-साधक नहीं रहता वैसे ही रजोगुण जनित क्षिप्त अवस्था और तमोगुणजनित मूढ़ अवस्था का मन के ऊपर बोझ पड़ने से मन की स्वाभाविक सत्व गुणजनित विचार शक्ति निष्क्रिय हो जाती है, इस तरह मन की निष्क्रियता जो उसके विकास का एकमात्र अवरोधक है उसका मुख्य कारण हुआ राजस और तामस गुण का उद्रेक। जब हम अपने जीवन में किसी जवाबदेही को नहीं लेते या लेकर उसे नहीं निबाहते तब मन के सात्विक अंश की जागृति होने के बदले उसके तामस व राजस अंश की प्रबलता होने लगती है और मन का सूक्ष्म व सच्चा विकास रुक कर स्थूल विकास मात्र रह जाता है और वह भी सत्य दिशा की ओर नहीं होता। इसीसे बेजवाब-देही का तत्व मनुष्य जाति के वास्ते सबसे अधिक खतरे की वस्तु है। वह तत्व सचमुच मनुष्य को मनुष्यत्व के यथार्थ मार्ग से गिरा देता है। इसीसे जवाबदेही की विकास के प्रति असाधारण प्रधानता का पता भी चल जाता है।

जवाबदेही अनेक प्रकार की होती है—कभी वह मोह में से आती है। किसी युवक या युवती को लीजिये, जिस व्यक्ति पर उसका विशिष्ट मोह होगा उसके प्रति वह अपने को जवाबदेह समझेगा उसी के प्रति कर्तव्य पालन की चेष्टा करेगा दूसरों के प्रति वह उपेक्षा भी कर सकता है। कभी जवाबदेही स्नेह व प्रेम में से आती है। माता अपने बच्चे के प्रति उसी स्नेहवश कर्तव्य पालन करती है पर दूसरे के बच्चों के प्रति वह कर्तव्य का विचार भूल भी जाती है। कभी जवाबदेही भय में से आती है—अगर किसी को भय है कि इस जंगल में रात को या दिन को शेर आता है तब वह अनेक प्रकार से जागरित रहकर बचाव के कर्तव्य अदा करेगा पर भय का निमित्त चले जाने से ही वह फिर बेफिक्र होकर अपने व दूसरों के प्रति कर्तव्य भूल जायगा। इस तरह लोभ वृत्ति, परिग्रहकांक्षा, क्रोध भावना, बदला चुकाने की वृत्ति, मान-मत्सर आदि अनेक राजस व तामस अंशों से जवाबदेही थोड़ी या बहुत, एक या दूसरे रूप में पैदा होकर मानुषिक जीवन का सामाजिक व आर्थिक

चक्र चलता रहता है पर ध्यान में रखना चाहिये कि इस जगह विकास के, विशिष्ट विकास के व पूर्ण विकास के असाधारण व प्रधान साधन रूप से जिस जवाबदेही की ओर संकेत किया गया है वह जवाबदेही उन सब मर्यादित व संकुचित जवाबदेहियों से भिन्न तथा परे है। क्योंकि वह जवाबदेही किसी एक क्षणिक तथा संकुचित भाव के ऊपर अवलम्बित नहीं है, वह जवाबदेही सबके प्रति, सदा के वास्ते, सब स्थलों में एकसी होती है चाहे वह निज के प्रति देखी जाती हो, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व मानुषिक व्यवहार मात्र में काम लाई जाती हो, वह जवाबदेही एक ऐसे भाव में से पैदा होती है जो न तो क्षणिक है न संकुचित है और न मलिन है। वह भाव अपनी जीवन शक्ति का यथार्थ अनुभव करने का है जब इस भाव में से जवाबदेही प्रकट होती है तब वह कभी नहीं रुकती। सोते जागते सतत वेगवती नदी के प्रवाह की तरह अपने पथ पर काम करती रहती है, तब मनका क्षिप्त व मूढ़ भाग मनमें फटकने ही नहीं पाता तब मन में निष्क्रियता व कुटिलता का संचार हो सम्भव नहीं। यही जवाबदेही की संजीवनी शक्ति है। जिसकी बदौलत वह अन्य सब साधनों पर आधिपत्य करती है और जो पामर से पामर, गरीब से गरीब, दुर्बल से दुर्बल और तुच्छ से तुच्छ समझे जाने वाले कुल व परिवार में पैदा हुये व्यक्ति को सन्त, महन्त, महात्मा व अवतार तक बना देती है।

ऊपर के वर्णन से अभी तक इतना ही फलित हुआ है कि मानुषिक विकास का आधार एकमात्र जवाबदेही ही है और जवाबदेही भी किसी एक भाव से सञ्चालित नहीं होती। अस्थिर संकुचित व क्षुद्र भावों में से भी जवाबदेही प्रवृत्त होती है। मोह, स्नेह, भय, लोभ आदि भाव पहले प्रकार के हैं और जीवन शक्ति का यथार्थानुभव यह दूसरे प्रकार का भाव है।

अब हमें आगे विचारना होगा कि जवाबदेही के प्रेरक उक्त दो प्रकार के भावों में परस्पर क्या अन्तर है और पहले प्रकार के भावों की अपेक्षा दूसरे प्रकार के भावों में अगर श्रेष्ठता है तो वह किस सबब से है? अगर यह विचार स्पष्ट हो जाय तो फिर उक्त दोनों प्रकार के भावों पर आश्रित रहने वाली जवाबदेहियों का भ अन्तर तथा श्रेष्ठता, कनिष्ठता ध्यान में आ जायगी।

मोह में रसानुभूति है, सुख संवेदन भी होता है। पर वह इतना परिमित और इतना अस्थिर होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्त की ही कौन कहे उसके प्रत्येक अंश में शंका, दुःख और चिन्ता का भाव भरा रहने के कारण घड़ी के लोलक की तरह वह मनुष्य के चित्त को अस्थिर बनाये रखता है। मान लीजिये कि कोई युवक या युवती अपने प्रेम-पात्र के प्रति स्थूल मोहवश बड़ा ही दत्त चित्त रहता है उसके प्रति कर्तव्य पालन में कोई त्रुटि नहीं करता, उसमें उसे रसानुभव और सुख संवेदन भी होता है फिर भी बारीकी से परीक्षण करें तो मालूम पड़ जायगा कि वह स्थूल मोह अगर सौन्दर्य या भोग लालसा में पैदा हुआ है तो न जाने वह किस क्षण में नष्ट हो जायगा, किस क्षण घट जायगा या अन्य रूप में परिणत हो जायगा। जिस क्षण युवक या युवती को प्रथम के प्रेम पात्र की अपेक्षा दूसरा कोई पात्र अधिक सुन्दर, अधिक समृद्ध, अधिक बलवान या अधिक अनुकूल मिला उसी क्षण उसका चित्त प्रथम के पात्र की ओर से हटकर दूसरी ओर झुकेगा। और इस झुकाव के साथ ही प्रथम पात्र के प्रति कर्तव्य पालन का चक्र जो पहले से चल रहा था उसकी गति व दिशा बदल जायगी। दूसरे पात्र के प्रति भी वह चक्र योग्य रूप से चल नहीं सकेगा और मोह का रसानुभव जो कर्तव्य पालन से सन्तुष्ट हो रहा था वह कर्तव्य पालन करने या न करने पर भी अतृप्त ही रहेगा। माता मोहवश अंग जात बालक के प्रति अपना सब कुछ न्योछावर करके रसानुभव करती है पर उसके पीछे अगर मात्र मोह का भाव है तब तो रसानुभव बिलकुल संकुचित व अस्थिर हो जाता है। मान लीजिये कि वह बालक मर गया उसके बदले में उसे उसकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर व पुष्ट दूसरा बालक परवरिश के लिये मिला जो

बिलकुल मातृहीन है ऐसा निराधार वह सुन्दर बालक को पाकर भी वह बालक-शून्य माता उसके प्रति अपना कर्तव्य पालन करने में आनन्द, रसानुभव नहीं मानेगी जो अंग जात निज बालक के प्रति कर्तव्य-पालन में मान रही थी। इसका सबब क्या है? बालक तो पहले से भी अच्छा मिला है, उस माता को बालक की स्पृहा और अर्पण करने की वृत्ति भी है। बालक भी मातृहीन होने से ऐसी बालकापेक्षिणी माता की प्रेम वृत्ति का अधिकारी है। फिर भी उस माता का चित्त उसकी ओर मुक्त धारा से नहीं बहता इसका सबब एक ही है और वह यह कि उस माता की न्यौछावर व अर्पण वृत्ति का प्रेरक भाव मात्र मोह था जो स्नेह होकर भी शुद्ध व व्यापक न था इस कारण से उस माता के हृदय में उस भाव के होने पर भी उसमें से कर्तव्य पालन के फव्वारे नहीं छूटते, भीतर ही भीतर उसके हृदय को दबाकर सुखी के बजाय दुःखी करते हैं, जैसे खाया हुआ पर हजम न हुआ सुन्दर अन्न। वह न तो खून बनकर शरीर को सुख पहुंचाता है और न बाहर निकल कर शरीर को हलका ही करता है। भीतर ही सड़कर शरीर व चित्त को अस्वस्थ बनाता है यही स्थिति कर्तव्य-पालन में नहीं परिणत ऐसे उस माता के स्नेह भाव की होती है। हमने कभी भयवश रक्षण के वास्ते झोपड़ा बनाया उसको संभाला भी। भय के सबब से दूसरों से बचने के निमित्त अखाड़े में खेलकर बल भी सम्पादित किया, कवायत और निशानाबाजी से सैनिक शक्ति भी प्राप्त की, आक्रमण के समय चाहे वह निज के ऊपर हो, कुटुम्ब, समाज व राष्ट्र के ऊपर हो। सैनिक तौर पर कर्तव्य-पालन भी किया, पर अगर वह भय न रहा खास कर अपने निज के ऊपर या हमने जिसे अपना समझा था उसके ऊपर वह भय न रहा फिर भी जिनको हम अपना नहीं समझते जिस राष्ट्र को हम निज राष्ट्र नहीं समझते उस पर हमारी अपेक्षा भी अधिक और प्रचंड भय आ पड़ा तब हमारी भय-त्राण शक्ति हमें कर्तव्य-पालन में कभी प्रेरित नहीं करेगी। चाहे भय से बचने बचाने की हम में कितनी ही शक्ति क्यों न हो! पर वह शक्ति अगर संकुचित भावों में से प्रकट हुई है तो जरूरत होने पर भी वह काम न आवेगी और जहाँ जरूरत न होगी या कम जरूरत होगी वहाँ भी वह खर्च होगी। अभी अभी हमने देखा है कि यूरोप के और दूसरे राष्ट्रों के पास भय से बचने और बचाने की निस्सीम शक्ति रखते हुए भी भयत्रस्त एबिसीनिया को हजार प्रार्थना करने पर भी वे कुछ भी मदद न कर सके। इस तरह भयजनित कर्तव्य-पालन भी अधूरा ही होता है और बहुधा विपरीत भी होता है। मोहकोटी में गिने जाने वाले सभी भावों की एक ही समान अवस्था है और वह यह कि वे भाव बिलकुल अधूरे, अस्थिर और मलिन होते हैं।

जीवन शक्ति का यथार्थ अनुभव ही दूसरे प्रकार का भाव है जो न तो उदय होने पर चलित या नष्ट होता है न मर्यादित या संकुचित होता है और जो न मलिन होता है। प्रश्न हो सकता है कि जीवन शक्ति के यथार्थ अनुभव में क्या ऐसा तत्व है कि जिससे वह सदा स्थिर व्यापक और शुद्ध ही बना रहता है। इसका उत्तर पाने के लिये हमें जीवन शक्ति के स्वरूप पर थोड़ा सा विचार करना होगा।

हम अपने आप में सोचें व देखें कि जीवन शक्ति क्या वस्तु है? कोई समझदार श्वासोच्छ्वास या प्राण को जीवन की मूलाधार शक्ति मान नहीं सकता, क्योंकि कभी कभी ध्यान की विशिष्ट अवस्था में प्राण संचार के चालू न रहने पर भी जीवन बना रहता है। इससे मानना पड़ता है कि प्राण संचार रूप जीवन की प्रेरक या आधार भूत शक्ति और ही है। अभी तक के सभी आध्यात्मिक सूक्ष्म अनुभवियों ने उस आधार भूत शक्ति को चेतना कहा है, चेतना ऐसी एक स्थिर व प्रकाशमान शक्ति है जो दैहिक, मानसिक और ऐंद्रिक आदि सभी कार्यों पर ज्ञान का-समझका, परिज्ञान का प्रकाश अनवरत डालती रहती है। इन्द्रियाँ कुछ भी प्रवृत्ति क्यों न करें, मन कहीं भी गति क्यों न करे, देह किसी व्यापार को क्यों न आचरे पर उस सबका सततभान किसी

स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्त

ज्ञान मंडल, आज, श्री काशी विद्यापीठ तथा भारत माता मंदिर के संस्थापक तथा साहित्य सेवियों के आश्रयदाता

आचार्य गृह, काशी विद्यापीठ
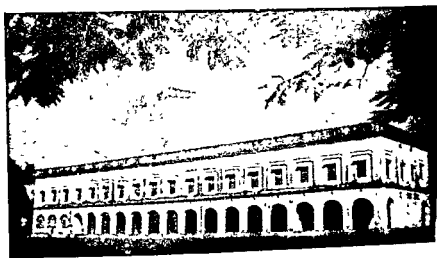
काशी विद्यापीठ विद्यालय

पुस्तकालय भवन, काशी विद्यापीठ

एक शक्ति को थोड़ा बहुत होता ही रहता है। हम हर एक अवस्था में अपनी दैहिक ऐन्द्रिक और मानसिक क्रिया से जो थोड़े बहुत परिचित रहा करते हैं सो किस कारण से? जिस कारण से हमें अपनी क्रियाओं का संवेदन होता है वही है चेतना शक्ति। और हम इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं हैं। और वस्तु हो या न हो पर हम चेतना शून्य कभी नहीं होते। चेतना के साथ ही साथ दूसरी एक शक्ति ओतप्रोत है जिसे संकल्प शक्ति कहते हैं। चेतना जो कुछ समझे, सोचे उसको क्रियाकारी बनाने का या उसे मूर्तरूप में लाने का चेतना के साथ अन्य कोई बल न होता तो उसकी सारी समझ बेकार होती। और हम जहाँ के तहाँ रहते। हम अनुभव करते हैं कि समझ जानकारी या दर्शन के अनुसार एक बार संकल्प हुवा तो चेतना पूर्णतया कार्याभिमुख हो जाती है। जैसे कूदनेवाला संकल्प करता है तो सारा बल संचित होकर उसे कुदा डालता है। संकल्प शक्ति का कार्य है बल को बिखरने से रोकना। संकल्प से संचित बल सचित भाफ के बल के बराबर होता है। संकल्प की मदद मिली तो चेतना गतिशील होती है और अपना साध्य सिद्ध करके ही संतुष्ट होती है। इस गतिशीलता को चेतना का वीर्य समझना चाहिये। इस तरह जीवन शक्ति के प्रधान तीन अंश हैं। चेतना, संकल्प और वीर्य या बल। इस त्रिअंशो शक्ति को ही जीवन शक्ति समझिये। जिसका अनुभव हमें प्रत्येक छोटे बड़े सर्जन कार्य में होता है। अगर समझ न हो, संकल्प न हो और पुरुषार्थ-वीर्यगति न हो तो कोई भी सर्जन हो ही नहीं सकता। ध्यान में रहे कि जगत में ऐसा कोई छोटा बड़ा जीवनधारी नहीं है जो किसी न किसी प्रकार का सर्जन न करता हो। इससे प्राणीमात्र में ऊपर कही हुई त्रिअंशी जीवन शक्ति का पता चल जाता है। यों तो ऐसी शक्ति जैसे हम अपने आप में प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वैसे ही अन्य प्राणियों के सर्जन कार्य से भी उनमें मौजूद उस शक्ति का अनुमान कर ही सकते हैं। फिर भी उसका अनुभव, और सो भी यथार्थ अनुभव एक अलग वस्तु है।

सामने खड़ी दिवाल का कोई इन्कार करे तो भी हम उसे मान नहीं सकते। हम तो सामने वाली दिवाल का अस्तित्व ही अनुभव करेंगे। इसी तरह अपने में और दूसरों में मौजूद उस त्रिअंशी शक्ति के अस्तित्व का, उसके सामर्थ्य का अनुभव करना जैसा कि सामने स्थित दिवाल का। वही अनुभव जीव व शक्ति का यथार्थ अनुभव है।

जब ऐसा अनुभव प्रकट होता है तब अपने आपके प्रति और दूसरों के प्रति जीवन दृष्टि बदल जाती है, फिर तो ऐसा भाव पैदा होता है कि सर्वत्र त्रिअंशी जीवन शक्ति-(सचिदानन्द) या तो अखंड या एक है या सर्वत्र समान है। किसी को संस्कारानुसार अभेदानुभव हो या किसी को साम्यानुभव। पर परिणाम में कुछ भी फर्क नहीं होता। अभेद दृष्टि धारण करने वाला दूसरों के प्रति वही जवाब देही धारण करेगा जो अपने प्रति। वास्तव में उसकी जवाब देही या कर्तव्य दृष्टि अपने पराये के भेद से भिन्न नहीं होती, इसी तरह साम्य दृष्टि धारण करने वाला भी अपने पराये के भेद से कर्तव्य दृष्टि या जवाब देही में तारतम्य नहीं कर सकता।

मोह कोटी में आने वाले भावों से प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य दृष्टि एक सी अखंड या निरावरण नहीं होती जबकि जीवन शक्ति के यथार्थ अनुभव से प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य दृष्टि सदा एक सी और निरावरण होती है क्यों कि वह भाव न तो राजस अंश से आया है और न तामस अंश से अभीभूत हो सकता है। वह भाव साहजिक है सात्विक है।

होते हुए भी मानवता के उद्धार की जवाब देही से कभी मुंह न मोड़ा। अपने शिष्यके प्रलोभन पर, सोक्रेटीस मृत्यु मुख से बच सकता था पर उसने शारीरिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक सत्य के जीवन को पसन्द किया और मृत्यु उसे डरा न सकी जीस ने अपना नया प्रेम सन्देश देने की जवाबदेही को अदा करने में शूली को सिंहासन माना। ऐसे पुराने ऐतिहासिक उदाहरणों की सच्चाई में सन्देह को दूर करने के लिये ही मानो गांधी जी ने अभी अभी जो चमत्कार दिखाया है सो सर्वविदित है। उनको हिन्दुत्व-आर्यत्व के नाम पर प्रतिष्ठा प्राप्त ब्राह्मण व श्रमण को सेकड़ों क्रुद्ध पिशाचियाँ चलित न कर सकीं न तो हिन्दु-मुसलमान की दण्डादण्डी या शस्त्रा शस्त्री ने उन्हें कर्तव्य चलित किया और न उन्हें मृत्यु डरा सकी। वे ऐसे ही मनुष्य थे जैसे हम। फिर क्या कारण है कि उनकी कर्तव्य दृष्टि या जवाब देही ऐसी स्थिर, व्यापक और शुद्ध, और हमारी इसके विपरीत। जवाब सीधा है कि ऐसे पुरुषों में उत्तरदायित्व या कर्तव्य दृष्टि का प्रेरक भाव जीवन शक्ति के यथार्थ अनुभव में से आया हुआ होता है, जो हममें नहीं है।

ऐसे पुरुषों को जीवन शक्ति का जो यथार्थ अनुभव हुआ उसी को जुदे जुदे दार्शनिक जुदी जुदी परिभाषा में वर्णन करते हैं। कोई आत्म साक्षात्कार कहता है तो कोई ब्रह्म साक्षात्कार या ईश्वर दर्शन कहता है। पर इससे वस्तु में अन्तर नहीं पड़ता। हमने ऊपर के वर्णन से यह बतलाने की चेष्टा की कि मोहजनित भावों की अपेक्षा जीवन शक्ति के यथार्थ अनुभव का भाव कितना और क्यों श्रेष्ठ है और उससे प्रेरित कर्तव्य दृष्टि या उत्तरदायित्व कितना श्रेष्ठ है। जो वसुधा को कुटुम्ब समझता है वह उसी श्रेष्ठ भाव के कारण। ऐसा भाव केवल शब्दों से आ नहीं सकता। वह भीतर से उगता है, और वही मानवीय पूर्ण विकास का मुख्य साधन है। उसी के लाभ के निमित्त अध्यात्म शास्त्र है, योग मार्ग है, और उसी की साधनायें मानव जीवन की कृतार्थता है।

गुरुदेव के चरणों में

श्री मूलचन्द्र अग्रवाल

युक्त प्रान्त के शिक्षा मन्त्री अध्यापक भी रहे हैं। इसलिए अध्यापक जीवन पर प्रकाश डालना उपयुक्त प्रतीत होता है। अंग्रेजी शिक्षा में जहां बंगाल और मद्रास ने प्रभुता प्राप्त की है वहां युक्त प्रांत में हिन्दी शिक्षा का बड़ा भारी गढ़ रहा है, हिन्दी के शिक्षकों ने युक्त प्रान्त मे बड़ा जबर्दस्त स्थान पाय, हिन्दी मिडिल और हिन्दी प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों ने युक्त प्रान्त का मस्तक ऊंचा कर दिखाय। किसी भी हिन्दी प्रान्त में इतना उज्ज्वल इतिहास उपस्थित न हो सका। हिन्दी मिडिल के शिक्षक कभी अपने को वेतनभोगी समझ कर समय के पावन्द नहीं रहे। उनके लिये तो गुरुकुल का प्राचीन आदर्श ही पथ प्रदर्शक रहा कि दिन रात अपने छात्रों को शिक्षा देते हुए जीवन यापन करें। इसलिए मिडिल स्कूलों से निकले हुए हिन्दी छात्र, गणित हिन्दी, इतिहास, भूगोल आदि में अंग्रेजी छात्रों से बहुत आगे रहे। यदि युक्त प्रान्त में हिन्दी मिडिल की शिक्षा न होती तो हिन्दी का स्टेन्डर्ड एक दम गिरा हुआ रह जाता। क्योंकि अंग्रेजी स्कूलों में अंग्रेजी की ही धूम थी। और अध्यापक भी हिन्दी से एकदम अनभिज्ञ थे। अधिकांश अध्यापक अंग्रेजी के बाद उर्दू और फारसी से ज्यादा परिचित थे। उधर मुसलमान छात्र भी हिन्दी स्कूलों में बहुत अच्छी हिन्दी सीखकर प्रान्त में हिन्दी गद्य और पद्य का मुखोज्ज्वल कर रहे थे। बुन्देलखण्ड प्रान्त में अच्छे हिन्दी कवि मुसलमानों में भी उत्पन्न हुए। बहुत से मिडिल स्कूलों में मुसलमान शिक्षक हिन्दू शिक्षकों के समकक्ष माने गये।

मेरी प्राथमिक शिक्षा-जिला जालोन में हुई, किसी स्थानीय पक्षपात के कारण मैं यह नहीं लिख रहा हूं कि जालौन जिले को प्रान्त के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी शिक्षक प्राप्त हुए। उरई, कोंच, कालपी और जालौन चार प्रमुख हिन्दी मिडिल स्कूल थे और चारों में एक से एक धुरन्धर प्रधान शिक्षक था। जालौन के पं० महादेव प्रसाद, कोंच के पं० शिवप्रसाद, कालपी के पं० जगन्नाथप्रसाद और उरई के मेरे गुरुदेव मुंशी दुर्गाप्रसाद, अध्यापक क्षेत्र की महान् विभूति थे, मुझे तो आज भी यह बात समझ में नहीं आती कि ये प्रधान शिक्षक तथा उनके सहायक शिक्षक अध्यापन के लिए इतने पागल क्यों रहते थे। हम पढ़ने वाले उन्हें देख कर भयभीत रहते थे। परन्तु वे कभी पढ़ाने से नहीं घबराते थे। आज तो १० बजे से ४ बजे तक पढ़ाना भी सम्भव नहीं रहा और सप्ताह में अवकाश लेना साधारण नियम बन [illegible] है। हम लोग कभी गुरुदेव की अस्वस्थता से भी छुट्टी का लाभ नहीं उठा सके। अस्वस्थता उनसे इतनी दूर [illegible] करती थी। सबेरे सात बजे पढ़ाई आरम्भ कर दी जाती थी और सवा नौ बजे तक जारी रहती थी। ४५ मिनट का समय स्नान, भोजन बनाने और खाने के लिये दिया जाता था १० बजे फिर स्कूल में उपस्थित हो जाना पड़ता था, और ४ बजे कभी कभी ५ बजे तक लगातार पढ़ना पड़ता था। शाम को ७ बजे से फिर पढ़ाई शुरू हो जाती थी १० बजे तक जारी रहती थी। मिडिल की शिक्षा के समय मेरी उम्र तेरह वर्ष तीन महीने की थी अपने गांव से सोलह मील पैदल चल कर छात्रावास में प्रतिमास पहुँच जाना पड़ता था। महीने में एक बार ही घर जाने की सुविधा उस छात्र को मिलती

थी जो शनिवार की शाम को घर जाकर सोमवार को १० बजे हाजिर हो जावे। यदि छात्र ने असावधानी की तो बेत की सजा के साथ छुट्टी पर आघात होता था। अधिकांश छात्र महीने भर की रसद घर से ले आते थे। ग्राम के छात्र अधिक और शहर के छात्र बहुत थोड़े थे। क्योंकि शहर के माता पिता अपने पुत्रों को अंग्रेजी शिक्षा ही ज्यादा दिलाते थे, गुरुदेव को हम लोग मुंशी जी कह कर पुकारा करते थे। क्रोध की साक्षात मूर्ति थे क्यांकि छात्रों को सर्वश्रेष्ठ देखना चाहते थे। रात्रि के समय छात्र नींद में न फसे इसके लिए अनेक उपाय काम में लाते थे बेत का दंड सर्व प्रधान था। अधिक नींद रखने वाले छात्र अपनी चोटी बंधवाने के लिए बाध्य होते थे। नींद आते ही चोटी में झिटका लगता था, तो होश आ जाता था। प्रत्येक छात्र के लिए ज़ोर से पढ़ना अनिवार्य था। इसलिए छात्रावास के पास में गुज़रने वाले नागरिक आसानी से अनुभव कर सकते थे कि यह शिक्षालय है। यहा लड़के रात्रि में भो शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा कोई भाग्यवान् छात्र न था जो सर्वदा दंड मुक्त रह सके। किसी न किसी विषय में उसकी कमज़ोरी उसे बेत का दंड दिला ही देती थी। ड्राइंग का विषय मुझे बेत का दण्ड सबसे अधिक दिलाता था। उसी का यह फल आज देखता हू कि कुर्ता का बटन यदि टूट जाये तो बड़ी भारी मुसीबत में फंस जाता हू। पिन लगाना भी कभी ठीक से न आया क्लास में तो चित्रकारी का मुकाबला करना पड़ता था। यहा सोधी लाइन खींचना भी सम्भव न था। मुंशी जी के भय से कापने लगता था। और सबसे छोटी उम्र का ग्रामीण विद्यार्थी होने के कारण क्लास रूम में काफी शोर मचाये बिना न रह सकता था। भय से कई बार धोती में पेशाब हो जाने से जाड़े में चुपचाप ठंड सह कर रह जाना पड़ा। गुरुदेव की बेंतवाज़ी आज कृतज्ञता का विषय बन रही है। मिडिल स्कूलों की शिक्षा की मज़बूत जड़ प्राइमरी स्कूलों मे पड़ती थी जहा के शिक्षक वास्तव मे अध्यापन विशारद थे। प्राइमरी स्कूल में मुझे ग्यारह वर्ष तीन महीने तक अपने ग्राम में रहना पड़ा। मेरे पिता की मृत्यु ६ वर्ष को मेरी उम्र में होने से ५ वर्ष गुरुदेव के चरणों में व्यतीत करने पड़े। गुरुदेव की कृपा न होती तो विश्वमित्र संचालक किस प्रकार बनता। मेरी सगाई पिता जी अपने जीवन काल में करना सोच रहे थे। सात वर्ष की उम्र में विवाह हो जाता तो बुन्देलखण्डी लड़की को अपनी जीवन संगिनी पाकर ग्राम में सदा के लिए टिक जाता। और उरई, इटावा, मेरठ या कलकत्ते की यात्रा की नौबत हो न आती। पिता जी की आकस्मिक मृत्यु ग्राम वियोग का कारण बनी और सगाई उस समय हवा होकर पन्द्रह वर्ष बाद सामने आई। मेरे वयोवृद्ध गुरुदेव धुरन्धर आस्तिक थे शाम को सभी छात्रों को अपने सामने एकत्र कर सबसे श्री शिव कहलाया करते थे। और स्वयं बराबर माला जपते रहते थे। वर्ष में एक बार अपने घर जाया करते थे। जो कानपुर जिले में था। उच्च कान्यकुब्ज घराने के थे। अपने को खोर के पान्डे बताने में काफी अभिमान रखते थे। स्वभाव के इतने नम्र थे कि थानेदार को हमेशा जी हुजूर कहा करते थे। परन्तु जातीय अभिमान इतना अधिक कि अपने जिले के डिप्टी इन्सपेक्टर को केवल नमस्कार ही करते थे। जब कि और अध्यापक उनके चरण छुआ करते थे। डिप्टी साहिब तिवारी थे। इसीलिये सभी कान्यकुब्ज उनके पैर छूते थे। और वे भी चाहते थे कि उनके पैर छुवे जायें। परन्तु मेरे गुरुदेव उनके कोपभाजन बनने को तैयार थे। पैर छूने के लिये तैयार न हुए। इसकी चर्चा अन्य अध्यापकों में भी होती रही। परन्तु मेरे गुरुदेव शिवभक्त होने के कारण भयभीत नहीं हुए। संयम उनका मूल मन्त्र था। जीवन में वे कभी भी असंयम को बरदास्त नहीं कर सकते थे। स्वयं पाकी थे और एकाहारी, कभी उन्होंने दो बार भोजन नहीं किया। हम लोगों के सामने जो कुछ खाना होता सब एक ही बार खाया करते थे। और संध्या को एक लोटा जल पीकर सोया करते थे। उनके घड़े का पानी यदि ज़रा भी गिर जाय तो इतने दुखी होते थे मानो घी बह गया है, प्रत्येक रात्रि को मुझ से तुलसीकृत रामायण सुना करते थे।

गुरुदेव के चरणों में

कौन सा पूर्व संस्कार था जिसने गुरुदेव को मेरी ओर सबसे अधिक आकृष्ट कर रखा था। अपने दोनों पुत्रों से भी अधिक मुझ पर स्नेह रखते थे। उन्होंने मुझे बाध्य किया कि मैं प्राइमरी शिक्षा समाप्त करने के बाद उरई जाकर जिला बोर्ड की छात्र वृत्ति परीक्षा में भाग लूँ और ईश्वर की कृपा देखिए कि उस परीक्षा में मैं सफल हो गया। कभी किसी छात्र ने तब तक मेरे गाँव के प्राइमरी स्कूल से छात्र वृत्ति नहीं पाई थी। गाँव भर में यह आश्चर्य की बात मानी गई। और मेरी भावी शिक्षा की नींव पड़ गई। गुरुदेव इस सफलता से इतने प्रसन्न हुए कि भगवान को बार बार स्मरण कर धन्य होते रहे। प्रसन्न होकर उन्होंने भविष्यवाणी कर दी कि यह छात्र अवश्य चमत्कार दिखायेगा। कट्टर कान्यकुब्जवंशीय होने पर भी वे मुझे अपने गाँव में ले गए और अपने चौके में ही मुझे पुत्र समान भोजन कराते रहे। अपने सुपत्र के विवाह में मुझे कट्टर कान्यकुब्ज के साथ दाल भात का भोजन कराया था, कभी मुझे वैश्य नहीं माना। जब गुरुदेव को अनुभव हुआ कि उनका अन्त समीप है। वे अवकाश ग्रहण कर चले गए और उन्होंने मुझे पत्र दिया कि अब इस संसार से शीघ्र प्रस्थान करना है, मेरी निर्धनता मेरे मार्ग में बाधक थी। जिससे मैं गुरुदेव के पास पहुँचने और उनके निकट रहने में असमर्थ था। पर उनका आदेश पहुँचता ही रहा। और अन्त में वे इस संसार से विदा ही हो गए। उन्हें इस बात का बड़ा गर्व और सन्तोष रहा कि उन्होंने एक ऐसा छात्र पाया जो उनका मुखोज्जवल करने में समर्थ हुआ। राई को पर्वत बनाने वाले ऐसे गुरुदेव वन्दनीय हैं, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर यदि देश के भाग्य निर्माता हैं तो पण्डित शुकदेवप्रसाद पाण्डे भी देश के भाग्य विधायकों में हैं।

दद्दू

श्री मंगलदेव शर्मा

[इस रेखाचित्र के नायक पं० व्रजभूषण जी एक सुयोग्य पिता—पंडित जयराम जी—के सुपुत्र थे। उनके विषय में केवल इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि आगरे ज़िले में उनकी कोटि का दूसरा अध्यापक उस समय न था। स्व० पं० श्रीधर पाठक को 'श्रीधर' उन्होंने बनाया था। —सम्पादक]

दद्दू ने कोई ४२ वर्षों तक मुदर्रिसी की। मिडिल स्कूलों से लेकर लोग्रर प्राइमरी पाठशालाओं तक में वह अध्यापक रहे। जिस प्रकार उनका जीवनक्रम संयमशील और सरल था उसी प्रकार उनका अध्यापन कार्य अनोखा और उत्कृष्ट कोटि का था। अपने बाल्यकाल में मुझे वर्षों उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने उन्हें जैसा देखा और समझा उससे मैंने उन्हें स्वाभिमानी, स्वाध्याय-प्रेमी, विद्यानुरागी, मनस्वी, ईश्वर विश्वासी और मुदर्रिस नहीं, एक मिशनरी का जीवन व्यतीत करते हुए पाया। उनके जीवन के अध्यापन काल में उनके इन गुणों को अनुभव नहीं कर सका, उनके अवकाश ग्रहण कर लेने पर मैं उनकी विशेषताओं को कुछ समझ पाया और आज उनके स्वर्गवासी हो जाने पर तो उनके जौहर को जितना ही अधिक सोचता हूं, उतना ही मन ही मन मुग्ध होकर अपने को उनका आत्मज होने पर गर्वित करने लगा हूं। साथ ही मेरा सिर बहुधा शर्म से नीचा भी हो जाता है कि मैं उनके चरणचिन्हों का अनुगमन प्रायः नहीं कर पाया।

मिशनरी मुदर्रिस

मैं उन्हें मिशनरी इसलिए कहता हूं कि दद्दू के कारण अनेक अध्यापकों के सम्पर्क में आने पर मैंने उन्हें वैसा नहीं पाया। हो सकता है कुछ अध्यापकों में पढ़ाने की योग्यता अधिक रही हो और इस कारण उनका परीक्षा फल भी उत्तम रहा हो, किन्तु विद्यार्थियों के प्रति वह ममत्व वह सहानुभूति वह पितृतुल्य वात्सल्य मैंने नहीं देखा। मेरा अक्षराभ्यास दद्दू ने ही कराया और तब की बात कहता हूं कि उनका यह हाल था (उन दिनों वह तहसील फतेहाबाद के जयनगर गाँव के लोग्रर प्राइमरी मदरसे में थे) कि प्रातः ४ बजे लोटा-डोर लेकर उठ जाते मार्ग में शौचादि से निवृत्त होते और चार चार मील तक के गाँवों से लड़कों को बुलाकर लाते। आगरा ज़िले की इस तहसील में यह वह युग था जबकि शिक्षा उस क्षेत्र में उर्द पर सफेदी के बराबर भी न थी। निकटस्थ फीरोजाबाद तहसील के इलाके के बिलकुल विपरीत जहां के लोग आचार व्यवहार तक में बहुत पिछड़े हुये थे (गांव की भाषा में जिसे मोटा मुल्क कहते हैं) विद्या के प्रति जनता की बिलकुल रुचि न थी। लड़के काफी बड़ी उम्र के हो जाते थे और उन्हें मदरसे नहीं भेजा जाता था। दरिद्रता इसका एक कारण थी, किन्तु अज्ञान इसका एक बड़ा कारण था। ऐसे क्षेत्र में विद्याभिरुचि उत्पन्न करके लड़कों को इकट्ठा करना और फिर उन्हें पढ़ाना बड़ा कठिन काम था। वर्षों उनका यह क्रम रहा। ऐसा भी होता था कि सन्ध्या को उन लड़कों को पहुँचाने भी जाते थे। स्लेट पेन्सिल कागज पर लिखने की पेन्सिलें बनियों के यहां से विलायती कपड़ों के थानों से इकट्ठे किये गये चित्रों हनुमान चालीसा आदि को बाँट बाँट कर दिये गये प्रलोभनों और

प्रेमपूर्ण व्यवहार के बावजूद कई लड़के मदरसे से भाग निकलते। घर से लाये हुए कलेऊ भोजन को बीच में ही खाकर और इधर उधर समय बिताकर शाम को घर पहुंचने वाले, तथा घर वालों को और दद्दू को चरका देने वाले लड़कों को किस प्रकार वह वश में करते थे उनके अपने वह तरीके निराले थे। कहा करते कि अगर इन्हीं लड़कों को फतेहाबाद तहसीली स्कूल तक नहीं भेजा तो मैंने किया ही क्या। ऐसे लड़के जब मदरसे में कुछ दिनों जमकर बैठने लगे तो शाम को छुट्टी देते समय एक कागज के परचे पर अपने हस्ताक्षर कर देते और लड़के से कहते कि इस पर अपने संरक्षक पिता आदि के हस्ताक्षर प्रात: कराते लाओ। सन्ध्या को फिर यही परचा उसे दद्दू के हस्ताक्षरयुक्त अपने पिता को दिखाना पड़ता। इस प्रकार मैंने देखा कि अनेक लड़कों में पढ़ने की रुचि उत्पन्न हो गयी और आज वह उनमें से कई स्टेशन मास्टर वकील अध्यापक आदि हैं।

विद्यार्थी बहुधा बड़ी अवस्था के होते थे और निरंकुश रहने के कारण दुर्गुणों के अभ्यासी भी हो जाते थे। तम्बाकू पीने का दुर्गुण प्राय: अधिकांश लड़कों में पाया जाता था। बहुतेरे ताश आदि के खिलाड़ी होते थे। जिस समय दद्दू ने जयनगर मदरसे का चार्ज लिया, यह हाल था कि अस्सी फीसदी लड़के चिलम पीते थे। इसमें दोष विद्यार्थियों का भी न था। दद्दू के पूर्व अध्यापक स्वयं हुक्का पीते, चिलम बच्चों से भरवाते। खुद तो पीते ही उन्हें भी साथ बिठाकर पिलाते। पिता जी ने इस दुर्गुण को निर्मूल किया।

उनकी सहानुभूति का मैंने यह हाल देखा कि जो लड़का दस्तखती चिट्ठी के लाते भी ढंग पर नहीं आया उसे अपने पास रख लिया। जिन लोगों की कुछ दिन पूर्व विद्या में कोई रुचि नहीं थी वह स्वयं आ आकर अपने बच्चों के बनाव की बात दद्दू से आकर पूछते और उनसे अनुरोध करते कि बालक को ढंग पर लाइये। पिता जी उसे अपने पास ही मेरे साथ रखते। उसकी देखरेख, खान पान, सोने रहने की चिन्ता मेरे समान ही करते। उस युग में एक अध्यापक के सामने रहना वैसा ही था जैसा भेड़िये के सामने भेड़ का रहना, अत: वह लड़का बहुत जल्द सुमार्ग पर आ जाता।

दूर गाँव का कोई विद्यार्थी यदि बीमार पड़ जाता तो प्रात: अथवा सायं उसके गांव अवश्य पहुँचते और नित्य उसको जाकर देखते। इस कारण स्वभावत: उसके माता पिता और स्वत: विद्यार्थी के हृदय में सद्भावना का प्रादुर्भाव होता और अध्यापक के व्यक्तित्व के साथ साथ विद्या के प्रति लोगों का प्रेम बढ़ता।

बरसात में जिस दिन बहुत वर्षा होती और दगड़ों में पानी भर जाता तो लाठी लेकर सब लड़कों को एक गाँव से दूसरे और दूसरे से तीसरे उनके घर पहुंचाते। संध्या को भी वर्षा हो रही होती तो भीगते हुये उन्हें पहुंचाते और रात गये वापस लौटते।

बावले सियारों का उन दिनों उस इलाके में बहुत जोर था, पागल सियार बड़ा भयंकर शब्द करता हुआ चिल्लाता है। मदरसा गाँव के बिलकुल कोने पर था। जरा भी इस भयानक शब्द की भनक उनके कान में पड़ जाती तो समय से पूर्व ही छुट्टी कर देते और लाठी सँभाल कर बच्चों को साथ ले एक एक के घर पहुँचाते।

एक बार जुगलसिंह नामक विद्यार्थी को प्रात: मदरसे आते समय बावले सियार ने काट लिया। सियार काट कर भाग गया। ग्रामीण चिकित्सकों का ऐसा विश्वास है कि यदि काटने वाले सियार को मार कर जला दिया जाय और उस अग्नि से काटे हुए को तपा दिया जाय तो विष उतर जाता है। जुगल का गाँव जयनगर से दो मील पर था। जुगल के घर वाले और गाँव के हमदर्द उस बावले सियार की टोह में लाठियाँ लिये घूमा करते। दद्दू दिन भर मदरसा पढ़ाते और सुबह शाम लाठी लेकर कहीं न कहीं उन लोगों से जा मिलते। कई दिन हो गये और सियार हाथ न आया। आठवें दिन शामत का मारा वह सियार प्रात: आठ बजे मदरसे के

एक बार एक सब डिप्टी इन्सपेक्टर अफसराना रोब और अपने को बहुत ऊंचा समझने की मनोवृत्ति से मुआयना करने आये। वह आगरा जिले में नये आये थे और दद्द के मदरसे में पहली बार अफसराना रोब और अपने को बहुत ऊंचा समझने की मनोवृत्ति के शिकार। वह जमाना ही कुछ ऐसा था। हर सरकारी मुलाजिम के दिमाग में हुकूमत की बू भरी होती थी। शिक्षा विभाग की हुकूमत के मर्ज का मरीज एक अदना से हाकिम एस० डी० आई० बेचारे देहाती मुदर्रिस पर ही अपनी शान और अपना रोब गांठ लेने के लिये लाचार था। लिहाजा यह डिप्टी साहब भी कुछ ऐसे ही आये। दद्द ने सुन तो पहले भी रखा था कि फलां साहब बहुत 'तेज तर्रार' हैं वह पहले से सचेत थे। फिर भी डिप्टी साहब को हुकूमत की बीमारी जो थी, आते ही उन्होंने अनावश्यक ऊटपटांग बातें शुरू कर दीं।

पिता जी उन बातों को खड़े खड़े सुना किये, एक का भी उत्तर न दिया, क्योंकि वह बेतुकी और बे मतलब बातें थीं। डिप्टी साहब का पारा इस पर और भी गर्म हुआ लनतरानी हाकने लगे और अपने जोम में एक मुल्ल लफ्ज कह बैठे। पिताजी से अब न रहा गया, बाअदब दो कदम आगे बढ़े और उत्तर दिया, "जनाबआली कागजात मेजपर आपके सामने हैं और लड़के इम्तहान के लिये कतारों में यह बैठे हुए हैं, आपकी इतनी गुफ्तगू के बाद मैं आपके किसी भी सवाल का जवाब देने से इनकार करता हूं, आप चाहें तो इम्तहान लीजिये, चाहे तो कागजात में लिखवाइये", और वह लपक कर अपने बिस्तर पर जा बैठे। उन दिनों इम्तहान के दिन या निरीक्षण के दिन गांव के चार भले मानुस अपने आप मदरसे में आ जाते। कई गांवों के भले भले अभिभावक वहां मौजूद थे। उन्होंने भी दद्द के आचरण का समर्थन किया। बल्कि बड़े नगले के ठा० गंगासिंह ने कहा "पंडित जी चलिये हम आपके साथ आगरे चलते हैं, बड़े डिप्टी साहब से

विद्याध्ययन के साथ चरित्र निर्माण पर भी उतना ही बल दिया जाता था। चरित्र निर्माण के साथ स्वास्थ्य सम्बन्धी आदेश उपदेश अक्सर चला करते थे, लड़के चूंकि बड़ी उम्र के रहते थे अत: यह अनुकूल भी पड़ता था। विद्यार्थियों के मनोरंजन का भी ख्याल रखते थे, मदरसे का सहन बहुत बड़ा था वहीं कबड्डी खिलाते। गांवों में उन दिनों बड़ेनियों के नाच सहित होलियां स्वांग और नौटंकियां और ढोले की धूम रहती थी। साल की दोनों फसलों के दिनों में तो इनका तांता लग जाता। दद्दू अपने लड़कों पर कड़ी निगाह रखते कि वे इनसे दूर रहें। उनके घर वालों को बुला बुला कर इस प्रकार के मनोरंजनों की हानियां समझाते। फलत: लोगों में बेड़नियों के प्रति एक घृणा उन्होंने उत्पन्न कर दी। जब पिता ऐसा तमाशा नहीं देखता तो लड़का भी उससे दूर रहने लगा। आल्हा कहीं होता तो लड़कों को देखने जाने की आज्ञा दे देते। जो लोग आल्हाखंड लेकर गाना पढ़ना चाहते उन्हें भी उत्साहित करते हुए कहते, आल्हाखंड तो वीरों की कथा है, उसे पढ़ो समझो और बहादुर बनो। कबड्डी और पैता लम्बी कूद के खेल गर्मियों को छोड़कर सभी मौसमों में खिलाया करते थे और इन खेलों के अच्छे खिलाड़ियों को छोटी छोटी चीजों की इनामें दिया करते थे, और लड़के उन इनामों को पाकर कितने प्रसन्न होते! शायद आज लोग मैच में शील्ड और कप पाने वाला खिलाड़ी भी उतना खुश न होता हो। व्यायाम की ओर आकर्षित करने के लिये उन्होंने नीचे लिखा पद भी टांग रखा था।

दवा कोई वरजिश से बिहतर नहीं
ये नुसखा है कमखर्च वाला नशींन

झूठ से उन्हें बड़ी चिढ़ थी, झूठ बोलने वाले और बोलने की कोशिश करने वाले लड़के को कड़ी ताड़ना देते। स्वभाव के क्रोधी थे, उनकी ललकार से लड़के कांप उठते थे। दुराचरण और दुर्गुण देखकर कभी कभी बहुत क्रुद्ध हो उठते और लड़के को ऐसा दण्ड देते कि वह लड़का उस दिन से सारी शरारत भूल जाता।

दद्दू की बातें मुझे कल की बात की तरह याद हैं, देश की दरिद्रता का साक्षात दृश्य इन गांवों में देखने को मिलता था। जिस परिवार में दूध का जानवर होता भी, उसके बालक मट्ठे के सिवा दूध के दर्शनो मात्र पर संतोष करते थे, क्योंकि घी बौहरे महाजन के यहां मनमाने भाव का जाता था, जिसके रुपये से वह जानवर खरीदा हुआ होता था। ऐसे माता पिता से कहते देखो "दो चमचे दूध अपने बच्चे को जरूर दिया कर यह अभी से हुआ मुवा हो रहा है, ऐसा ही टिर्री रह जायगा, और तुम्हारा जैसा तगड़ा न हो पायगा, तुम्हारी नस्ल खराब हो जायगी, और देखो हमारे देश में कुछ ऐसा ही होता जा रहा है।

"चुनू के मुनू, मुनू के न कुछ।"

स्वाभिमानी

देहाती मदरसों में पढ़ाते समय दद्दू ने कभी गांव के जमीदार मुखिया या वहां के अन्य प्रभावशाली व्यक्ति से मित्रता जोड़ने का प्रयत्न कभी नहीं किया और न उससे नकली रार मोल ली। जिस जमीदार आदि ने रौब गांठने की कोशिश की उससे तो जानबूझ कर असहयोग किया। अनेक बार इस कारण उनपर आपत्तियाँ भी आई पर वे उनको अपने मार्ग से विचलित न कर सकीं। कई गांवों में ऐसा हुआ पर उन्होंने अपने उसूल को छोड़ा। गांवों में अकारण दोषी दुष्ट बुद्धि व्यक्तियों की तब कमी न थी (और आज तो उनकी संख्या स्यात् कई गुना अधिक है) पर कोई भी ऐसे लोग अपने उद्देश्यों में कृतकार्य नहीं हुए।

पास ही आ निकला। लड़कों ने उसे दगड़े में जाते देखा तो चिल्ला उठे। दद्दू पढ़ाने में व्यस्त थे। ज्ञात होते ही फौरन लाठी लेकर उसके पीछे दौड़े। पास ही में कुम्हारों के घर थे, वह भी आगये और सियार मार डाला गया। उसकी लाश उसी समय जुगल के गाँव पहुँचाई गई। अब उस आग से तपाने के लिये जुगल को लेकर कौन बैठे? क्योंकि कई दिन हो चुके थे विष का प्रभाव लड़के के मस्तिष्क तक पहुँच चुका था और वह कुत्ते की भाँति भौंकने और काटने को दौड़ने लगा था। घर वालों ने उसे कोठे में बन्द कर रखा था। पर उसकी जीवन रक्षा के लिए उसे तपाना अवश्य था। कौन जुगल को इस तरह पकड़ लाये कि वह काटने न पाये। जान जोखों में कौन डाले। काटे हुए मनुष्य के काटने का विष भी बावले सियार के समान ही होता है। जुगल का बाप रोता तो बहुत था पर कोठे की सांकल खोलने की हिम्मत न उसकी होती थी और न किसी गाँव वाले की।

बड़ी विचित्र घटना इस समय घटी। लोगों को आगा पीछा करते देख दद्दू जैसे ही पौली से आँगन में आये कि अँगले में खड़े जुगल ने उनको पालागन किया। उन्होंने "जय जजमान" कहा और लपक कर कोठे की कुन्डी खोल एकदम भीतर घुसे चले गये। जुगल आदमी को अपने पास आता देख दूर से ही काटने को उसकी ओर लपकता था, ठिठक कर सा रह गया। इन्होंने उसकी गर्दन को इस ढब से पकड़ लिया कि साँस तो रुके नहीं और काटने को भी वह इधर उधर मुड़ सके नहीं। सीधे हाथ में गर्दन और बायें हाथ पर उसके शरीर को उठाकर लिये चले गये। वहाँ जहाँ सियार को जलाया जारहा था, उसकी आग की लपटें भी जहरीली कही जाती हैं, उसके धुवां से तो लोग कोसों दूर भागते हैं। घर वाले तक इस आग में अपने आत्मीयों को तपाने से कतराते हैं, पर दद्दू ने उसे खूब तपा दिया। तब हटे जब जुगल को उष्णता असह्य होकर अनुभव होने लगी।

जुगल के गाँव के लोग गद्‌गद् हो उठे इसलिए कि अध्यापक ने वह किया जिसे करने की हिम्मत जुगल के बाप को भी न हुई। इसलिए भी कि जुगल को उष्णता का अनुभव हुआ। इसका अर्थ यह कि उपचार ने तत्काल अपना प्रभाव दिखाया और सब लोग जुगल के जीवित रहे आने की आशा लेकर कामना करने लगे।

अस्तु एक दिन के बाद ही जुगल पूर्ववत् स्थिति में हो गया और इसके बाद तीन दिन जीवित रहकर चौथे दिन उसकी मृत्यु हो गयी। दद्दू जुगल को नित्य देखने जाते रहे, और संयोगवश उसकी मृत्यु के दिन तो वह उसके घर पर ही थे, घरवालों की हिम्मत टूटती वह विलाप यों ही क्या कम कर रहे थे, अतः उन्होंने विलाप तो नहीं किया, पर अब भी अनेकानेक वर्ष उपरान्त वह जुगल की कारुणिक मृत्यु को यदाकदा स्मरण कर लिया करते थे। विनयी और सुशील जुगल उनका प्रिय और आज्ञाकारी शिष्य था, और उसके पिता ठा० दौलतसिंह दद्दू के अनन्य भक्त थे।

इस प्रकार उन्होंने वहां की जनता को अपनी ओर फलतः विद्या प्रेम की ओर आकर्षित किया, वे लोगों से कहा करते कि तुम अपने बच्चों को मेरे पास तक एक बार ले आओ, मैं सब ठीक कर लूंगा। विद्या की ओर से एकदम अन्यमनस्क मूढ़ माता पिता और परले सिरे के बिगड़े हुए लड़कों को बनाने का उनका दावा था। बल्कि इसको उन्होंने अपने जीवन का एक उसूल बना रखा था। जयनगर के मदरसे में उन्होंने अपने बैठने की जगह पर लिख कर टांग रखा था—

ज़माना नाम है मेरा तो करके ये दिखा दूंगा।
कि जो तालीम से भागें, नाम उनका मिटा दूंगा।

विद्याध्ययन के साथ चरित्र निर्माण पर भी उतना ही बल दिया जाता था। चरित्र निर्माण के साथ स्वास्थ्य सम्बन्धी आदेश उपदेश अक्सर चला करते थे, लड़के चूंकि बड़ी उम्र के रहते थे अतः यह अनुकूल भी पड़ता था। विद्यार्थियों के मनोरंजन का भी ख्याल रखते थे, मदरसे का सहन बहुत बड़ा था वहीं कबड्डी खिलाते। गांवों में उन दिनो बड़ेनियों के नाच सहित होलियां स्वांग और नौटंकियां और ढोले की धूम रहती थी। साल की दोनों फसलों के दिनों में तो इनका तांता लग जाता। दद्दू अपने लड़कों पर कड़ी निगाह रखते कि वे इनसे दूर रहें। उनके घर वालों को बुला बुला कर इस प्रकार के मनोरंजनों की हानियां समझाते। फलतः लोगों में बेड़नियों के प्रति एक घृणा उन्होंने उत्पन्न कर दी। जब पिता ऐसा तमाशा नहीं देखता तो लड़का भी उससे दूर रहने लगा। आल्हा कहीं होता तो लड़कों को देखने जाने की आज्ञा दे देते। जो लोग आल्हाखंड लेकर गाना पढ़ना चाहते उन्हें भी उत्साहित करते हुए कहते, आल्हाखंड तो वीरों की कथा है, उसे पढ़ो समझो और बहादुर बनो। कबड्डी और पैता लम्बी कूद के खेल गर्मियों को छोड़कर सभी मौसमों में खिलाया करते थे और इन खेलों के अच्छे खिलाड़ियों को छोटी छोटी चीजों की इनामें दिया करते थे, और लड़के उन इनामो को पाकर कितने प्रसन्न होते! शायद आज लोग मैच में शील्ड और कप पाने वाला खिलाड़ी भी उतना खुश न होता हो। व्यायाम की ओर आकर्षित करने के लिये उन्होंने नीचे लिखा पद भी टांग रखा था।

दवा कोई वरजिश से बिहतर नहीं
ये नुसखा है कमखर्च बाला नशीन

झूठ से उन्हें बड़ी चिढ़ थी, झूठ बोलने वाले और बोलने की कोशिश करने वाले लड़के को कड़ी ताड़ना देते। स्वभाव के क्रोधी थे, उनकी ललकार से लड़के कांप उठते थे। दुराचरण और दुर्गुण देखकर कभी कभी बहुत क्रुद्ध हो उठते और लड़के को ऐसा दण्ड देते कि वह लड़का उस दिन से सारी शरारत भूल जाता।

दद्दू की बातें मुझे कल की बात की तरह याद हैं, देश की दरिद्रता का साक्षात दृश्य इन गांवों में देखने को मिलता था। जिस परिवार में दूध का जानवर होता भी, उसके बालक मट्ठे के सिवा दूध के दर्शनो मात्र पर संतोष करते थे, क्योंकि घी बौहरे महाजन के यहां मनमाने भाव का जाता था, जिसके रुपये से वह जानवर खरीदा हुआ होता था। ऐसे माता पिता से कहते देखो "दो चमचे दूध अपने बच्चे को जरूर दिया कर यह अभी से हुआ मुवा हो रहा है, ऐसा ही टिर्री रह जायगा, और तुम्हारा जैसा तगड़ा न हो पायगा, तुम्हारी नस्ल खराब हो जायगी, और देखो हमारे देश में कुछ ऐसा ही होता जा रहा है।

"चुनू के मुनू, मुनू के न कुछ।"

स्वाभिमानी

देहाती मदरसों में पढ़ाते समय दद्दू ने कभी गांव के जमीदार मुखिया या वहां के अन्य प्रभावशाली व्यक्ति से मित्रता जोड़ने का प्रयत्न कभी नहीं किया और न उससे नकली रार मोल ली। जिस जमीदार आदि ने रौब गांठने की कोशिश की उससे तो जानबूझ कर असहयोग किया। अनेक बार इस कारण उनपर आपत्तियाँ भी आईं पर वे उनको अपने मार्ग से विचलित न कर सकीं। कई गांवों में ऐसा हुआ पर उन्होंने अपने उसूल को छोड़ा। गांवों में अकारण दोषी दुष्ट बुद्धि व्यक्तियों की तब कमी न थी (और आज तो उनकी संख्या स्यात् कई गुना अधिक है) पर कोई भी ऐसे लोग अपने उद्देश्यों में कृतकार्य नहीं हुए।

एक बार एक सब डिप्टी इन्सपेक्टर अफसराना रोब और अपने को बहुत ऊंचा समझने की मनोवृत्ति से मुआयना करने आये। वह आगरा जिले में नये आये थे और दद्द् के मदरसे में पहली बार अफसराना रोब और अपने को बहुत ऊंचा समझने की मनोवृत्ति के शिकार। वह जमाना ही कुछ ऐसा था। हर सरकारी मुलाजिम के दिमाग में हुकूमत की बू भरी होती थी। शिक्षा विभाग की हुकूमत के मर्ज का मरीज एक अदना है हाकिम एस० डी० आई० बेचारे देहाती मुदर्रिस पर ही अपनी शान और अपना रोब गांठ लेने के लिये लाचार था। लिहाजा यह डिप्टी साहब भी कुछ ऐसे ही आये। दद्द् ने सुन तो पहले भी रखा था कि फलां साहब बहुत 'तेज तर्रार' है वह पहले से सचेत थे। फिर भी डिप्टी साहब को हुकूमत की बीमारी जो थी, आते ही उन्होंने अनावश्यक ऊटपटांग बातें शुरू कर दीं।

पिता जी उन बातों को खड़े खड़े सुना किये, एक का भी उत्तर न दिया, क्योंकि वह बेतुकी और बे मतलब बातें थीं। डिप्टी साहब का पारा इस पर और भी गर्म हुआ लनतरानी हाकने लगे और अपने जोम में एक सुस्त लफ्ज कह बैठे। पिताजी से अब न रहा गया, बाअदब दो कदम आगे बढ़े और उत्तर दिया, "जनाबआली कागजात् मेजपर आपके सामने हैं और लड़के इम्तहान के लिये कतारों में यह बैठे हुए हैं, आपकी इतनी गुफ्तगू के बाद मैं आपके किसी भी सवाल का जवाब देने से इनकार करता हूं, आप चाहें तो इम्तहान लीजिये, चाहे तो कागजात में लिखजाइये", और वह लपक कर अपने बिस्तर पर जा बैठे। उन दिनों इम्तहान के दिन या निरीक्षण के दिन गांव के चार भले मानुस अपने आप मदरसे में आ जाते। कई गांवों के भले भले अभिभावक वहा मौजूद थे। उन्होंने भी दद्द् के आचरण का समर्थन किया। बल्कि बड़े नगले के ठा० गंगासिंह ने कहा "पंडित जी चलिये हम आपके साथ आगरे चलते हैं, बड़े डिप्टी साहब से कहेंगे, कि ऐसे बजीटर (visitor) को हमारे मदरसे में न भेजा करें", कुछ देर तो एस् डी आई साहब अपनी हुकूमत के जोर में हूं हूं करते रहे, किन्तु जब इतने पर भी कोई उनकी ओर आकर्षित न हुआ तो निष्प्रभ और हताश होकर बोले, "मुदर्रिस लाओ हिसाब किताब, मैं सवाल बोलूंगा" पिता जी ने उत्तर दिया "मेजपर हैं, सब किताबें"। आपने छांट छांट कर कड़े सवाल बोले, लड़के एक तो इम्तहान दूसरे यह दुर्घटना कुछ सकपकाये से हो रहे थे, पिताजी ने अपने आसन से ही एक एक का नाम लेकर पुचकारना और उनकी हिम्मत बढ़ाना शुरू किया। स्लेटों की जांच डिप्टी साहब ने शुरू की। निहायत कड़ाई के साथ जाच की फिर भी बारह में केवल एक लड़का फेल था। डिप्टी साहब ने इबारत बोली, उसमें सब लड़के पास हुए। अब उन्होंने निरीक्षण लिखना आरम्भ किया, लिखते जाते और दद्द् की ओर देखते जाते कि मुदर्रिस अब भी उनके सामने आकर गिड़गिड़ाता है या नहीं। लेकिन जब दद्द् को अडिग देखा और देखा चार भले आदमियों को उनके खिलाफ शहादत देने वालों को तो जनाब का पारा एक दम नीचे आ गया। "पंडित जी आइये मुआयने का तर्जुमा लिख लीजिये, मैंने अंगरेजी में मुआयना लिखा है।" डिप्टी साहब की तरफ से यह नयी बात थी, प्रायः सभी निरीक्षक बहुधा अंगरेजी में निरीक्षण लिख जाते और गरीब मुदर्रिस अपने भाग्य के परीक्षणार्थ मुआयना बुक को बगल में दाबे गाव से कई कई मील दूर किसी अंगरेजीदां से उनका अपने लिये अनुवाद कराता और महकमे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में भेजने के लिये उनकी प्रतिलिपि भी जिसे भेजना उसका कर्तव्य था। लेकिन दद्द् न उठे, वहीं से कह दिया, "यहां अमुक गांव में अमुक अंगरेजीदां सज्जन है, मैं उन्हीं से तर्जुमा करा लिया करता हूं।"

डिप्टी साहब के होश ठिकाने आ गये कुर्सी से खड़े हुए और पिताजी की ओर बढ़ते हुए कहने लगे "मुआफ कीजिये पंडित जी मुझसे भूल हुई। हमें आपको एक साथ ही रहना है। आप नाराजी दूर कीजिये। मैं चल रहा हूं मुझे इजाजत दीजिये।"

पिताजी की जीत हुई। अपनी जगह से खड़े होते हुए उन्होंने कहा "दोपहर लौट चुका है हुजूर, बिना खाये पिये मैं आपको कैसे जाने दूंगा," गांव वालों ने भी ऐसा ही आग्रह किया और हाकिम साहब खा पीकर खुश खुश अगले मदरसे चले गये।

दद्दू की मानवोचित उदारता का प्रमाण मुझे उनके अन्तिम काल तक मिला, जब वह गांव में ही कोटले के अपर प्राइमरी स्कूल में हेड मुदर्रिस थे। बुद्धासिंह ईसाई उनके पास आ बैठता और दोनों की खूब बातें होती रहतीं, उनके बचपन के सहपाठी कोटला निवासी मौलवी गाजीउद्दीन से जन्म भर जब जब उनकी भेंट हुई, सफेद बुर्राक दाढ़ियों वाले दोनो बचपन के लंगोटिया मित्र एक दूसरे से छाती मिलाकर भेंटते।

घर में मेरी छोटी बहन का ब्याह आया, लोगों ने कहा जाओ गाव के राजा साहब से मदद मांगो, लेकिन चूंकि कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारा। ईश्वर से प्रार्थना करते रहते कि ऐसी नौबत न लाये, नहीं गये। घर में मेरी दादी उनकी माता जी ने कहा रुपया न सही डेरे तम्बू ही जाकर मांगलाओ लला। इनके बिना भी तो बरात को बड़ी तकलीफ होगी। इसके लिये भी इस आशंका से न गये कि राजा साहब ने इनकार कर दिया तो मरण हो जायगा। तब दादी की ओर से स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक को प्रयाग पत्र लिखा गया। उन्होंने राजा साहब को लिखा और रियासत का अहलकार डेरों की इत्तला घर पर आकर दे गया।

ईश्वर विश्वासी

दद्दू को भी मैंने आजीवन एकमात्र ईश्वर पर भरोसा रखते पाया। अपने बाल्यकाल से ही अनेक उदाहरण इसके प्रमाण में मैंने देखे और अनुभव किए।

विद्यानुरागी

विद्यानुरागी वह अपने प्रारम्भिक काल से ही थे। स्वाध्याय का यह क्रम उनका उनके अन्तिम काल तक नियमित रूप से चालू रहा। उर्दू का ऐसा कोई पुराना शायर नहीं जिसका दीवान छोटे से उनके अपने पुस्तकालय में न हो। बस्तों में बाधी हुई और सन्दूकों में उनकी यह किताबें मैंने हर मदरसे में उनके साथ देखी। गालिब, जौक, मीर तकी, अनीस, दबीर आदि सभी के दीवानात आज भी जिल्दों में सुरक्षित हैं। हर किताब की जिल्द बँधवाकर रखते। जिल्द बँधवाते वक्त किताब के अगल बगल प्राय: एक एक दस्ता कागज उस पुस्तक के साथ बँधवा देते। अगल बगल के वह कागज उनके नोटों से भरे पड़े हैं। गालिब के वह बहुत दिलदादा थे। गालिब के पद्य के तो वह प्रशंसक थे ही, गद्य की भी भूरि भूरि प्रशंसा करते। कहा करते थे, "गालिब के बाद उर्दू का दौर खत्म ही समझो। जमान ए हाल (वर्तमानयुगीन) शायरों में हाली ने भी उन्हें काफी प्रभावित किया था। 'हाली ने गालिब की परम्परा को जीवित रक्खा है, कहते हुए कभी कभी हाली की सराहना भी करते। अपने बचपन के वह दिन याद हैं मुझको जब गालिब के पत्र पढ़ाते समय दद्दू ने कितनी बार मेरी गोशमाली की। 'खुतूते गालिब' सचमुच उर्दू साहित्य की एक अमूल्य निधि है। शम्सुलउलमा मौलवी जकाउल्ला का उर्दू कोर्स भी उन्होंने मुझे पढ़ाया था। हिन्दी मिडिल स्कूलों में की मिडिल कक्षा के उर्दू पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए अब तक अनेक कोर्स मैंने देखे, पर जकाउल्ला साहब का सा कोर्स फिर देखने में नहीं आया।

धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और मनन की उनकी अभिरुचि भी उर्दू के समानान्तर ही बल्कि उससे बढ़ चढ़ कर थी। इसके लिए उन्होंने अपने पिछले जीवन में संस्कृत सीखी। उनकी धार्मिक पुस्तकों का भी

यह हाल है कि सबके साथ कागज जिल्द में बंधे हुए और वह उनके नोटों से भरे पड़े हैं। किताबों में भी जगह जगह उनके हाथ के लाल पेन्सिल के चिन्ह लगे हुए हैं।

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली और उनकी तुलनात्मक अध्ययन-वृत्ति उन्हें इसलिए पसन्द थी कि वह भी उर्दू और संस्कृत दोनों के अपने प्रारम्भिक जीवन से अनुयायी और अनुरागी थे। उर्दू के शेर की वजन की कोई संस्कृत उक्ति खोज निकालने के लिये वह बेचैन हो उठते और मिल जाने पर सन्तोष अनुभव करते। ऐसी अनेक तुलनाएं उन्होंने खोजीं। जब कोई उनका भक्त प्रेमी उन्हें आ छेड़ता अथवा किसी विद्वतमण्डली में बात छिड़ती तो फिर धारावाहिक बोलते चले जाते। सैकड़ों शेरें और संस्कृत पद उक्तियां और श्लोक उन्हें कंठाग्र थे। मुझे बड़ा रंज है कि मैं उनके इस भंडार में से कुछ भी सुरक्षित न कर पाया। यही सोचा करता कि अब इनके चरणों में बैठूंगा और लिखूंगा, पर न कर पाया।

एक बार स्व० पद्मसिंह शर्मा ने दद्दू से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। इस पर वह स्वयं ही उक्त शर्मा जी के दर्शन प्राप्त करने ज्वालापुर महाविद्यालय गये। कई दिनों तक एक ही अभिरुचि के दो विद्वानों का स्नेह और साहित्यिक समागम रहा। शर्मा जी ने दद्दू के वापस लौट आने पर मुझे उनके विषय में जो चिट्ठी लिखी वह मैं नहीं जानता कहाँ पड़ी होगी! शायद नष्ट हो ही गई हो!

दद्दू बहुत पढ़ते थे। स्वाध्याय का उन्हीं के शब्दों में उन्हें व्यसन था। बच्चों को पढ़ाना उनसे सिर मारना फिर उनका अपना अध्ययन ८ रु० मासिक पाने वाला मुदर्रिस घी कहाँ से खाय। बिना घी खाये बीनाई दृष्टि कैसे स्थिर रहे। उन्हें धुन्ध का रोग हो गया। घोर गरीबी में उन्होंने दिन काटे, पर मुदर्रिसी के अपने मिशन में कमी कभी न आने दी। उनकी जैसी लगन और उनका जैसा परिश्रम बच्चों के साथ करने वाले अध्यापक अब कहाँ हैं? प्राचीन गुरुकुलों अथवा गुरु आश्रमों की सी परम्परा पालन करने वाले गुरू अब कहाँ? इस युग में मुझे तो कहीं दिखाई नहीं पड़ते। फिर यही क्रम अबाध उत्साह और तत्परता से व्यालीस वर्षों तक जारी रहा। एक पीढ़ी खत्म होकर दूसरी पीढ़ी भी इतने लम्बे काल में तीसरी पीढ़ी की बुनियाद डालने लायक हो जाती है। ऐसा हुआ कि उन्होंने बाप को पढ़ाया और उसके बेटे को पढ़ाने का संयोग भी आया।

उनका देश प्रेम

बंगभंग के साथ हमारे देश में उठी हुई राष्ट्रीयता और देशानुराग की लहर से वह पूर्ण प्रभावित हुए। उन दिनों वह 'हितवार्ता नामक साप्ताहिक मंगाते थे। पीछे एक साल तक बंगवासी भी आया। अपने अन्तरतम में उत्कट देशभक्त और भारतोद्धार के अभिलाषी थे। समय समय पर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाया करता था। सन् १६१२ में एक बार जब मैं पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के यहाँ से तत्कालीन 'कर्मयोगी' की पूरी फायल के दस बारह अंक पढ़ने को ले आया तो मुझसे पहले दद्दू ने दोर्कोली के मदरसे में उनका पाठ किया। तत्कालीन अनेक बंगाली देश भक्तों में से किसने कब क्या किया, कब उसे कितनी सजा मिली यह सब उन्हें याद था। अरविन्द घोष और अश्विनीकुमार दत्त के वह सदैव इसलिये प्रशंसक रहे कि यह लोग दीन और दुनियाँ दोनों के पुरुष हैं। अरविन्द की तपस्या को अनेक बार सराहते और अश्विनी बाबू की कर्मयोग राजयोग, भक्तियोग बंगला से अनुदित किताबों को उन्होंने पढ़ा था। कभी कभी इनका जिक्र आने पर कह उठते "यह हैं सच्चे देश भक्त, देश के लिए कठिन यातनाएं भी सहीं और अपने धर्म को भी नहीं भूले।" अपने पिछले दिनों में इस पीढ़ी के देश भक्तों की कुरबानियों की मानते हुए भी वह उनकी अधार्मिक प्रवृत्तियों पर खिन्न हो उठते। मैंने उनके जीवित रहते मूछें मुड़ाना शुरू कर दिया, और जनेऊ भी उतार दिया।

का उन्हें खेद रहा। घर में विकट गरीबी का ताण्डव होते रहने पर भी उन्होंने मुझे मेरे देश और समाज
के कांम से कभी नहीं रोका। कभी कभी इतना भर कह देते "भैया देश भक्ति दो जने ही कर सकते हैं
तो वह जिन्हें अपनी रोज की रोटी कमाने की चिन्ता नहीं, घर में जो सम्पन्न है जैसे पं० जवाहरलाल नेहरू
थवा वे जिन्होंने अपनी ज़िन्दगी को देश के लिए धक्क कर दिया है, न शादी की न बच्चे पैदा किये
तदम रह कर देश के लिए दिन रात लग रहे हैं जैसे पं० सुन्दरलाल। तीसरा यदि करता है तो मुबारक
को उसकी देशभक्ति, पर झक मारता है।

एक दिन मदरसे में बैठे पढ़ा रहे थे कि एक ग्रामीण प्रताप लेकर आ गया। लीजिये पण्डित जी प्रताप
गया। समाचार पत्र पढ़ने का उन्हें बहुत शौक था। पढ़ने लगे। पृष्ठ उलटते उलटते एक दम उनकी
एक पृष्ठ पर जम गई। पढ़ते जा रहे थे और आखों में आंसू छल छल करते आ रहे थे। अन्ततोगत्वा
वलित हो उठे और अखबार चारपाई पर पटक दिया। वह देहाती चुप सा थे यह सब देखता रह गया।
स्वस्थ होने पर उसकी जिज्ञासा पर बताने लगे "देखो आज अंग्रेजों ने हमसे हमारे एक देश प्रेमी नौजवान
जुदा कर दिया। तुमने नहीं पढ़ा इस पन्ने में अशफाकुल्ला की फांसी का हाल। लो पढ़ो" वह ग्रामीण
ने लगा फिर वही आवेश वही हार्दिक उद्रेक। अशफाकुल्ला खां फांसीघर से जब फांसी के तख्ते ले जाये गये
कुरान का बस्ता उनकी गर्दन में पड़ा था और ओठों से कुछ गुनगुनाते जा रहे थे। कुरान का पाठ कर रहे
तख्ते के पास पहुंच कर उन्होंने उसे बोसा दिया और निर्भीक भाव से उस पर चढ़ गये। कुछ देर बाद
की लाश उनके घरवालों को दे दी गई। रामप्रसाद विस्मिल को उन्होंने एक बार सन् १६१७ में मेरे साथ
रे में देखा था। विस्मिल को फांसी पहले हो चुकी थी। अशफाक की फांसी के विवरण ने विस्मिल की
को ताजा कर दिया। दिन भर दोनों की याद करते रहे। अशफाक की जवांमर्दी के साथ उसके धर्म प्रेम
उल्लेख उन्होंने कई बार किया।

सन् १६२० की मेरी जेल यात्रा के अवसर पर उन पर गृहस्थी का सारा भार आ पड़ा। प्रात: ५ बजे
शौचादि से निवृत्त होते घर का पानी भरते और ५ मील दूर कोटले से गाँगनी गांव के मदरसे ठीक आठ
से पेश्तर पहुँचकर दिन भर पढ़ाते शाम को चूंकि संध्या से पूर्व छुट्टी नहीं किया करते थे। ८ बजे
वापस लौटते। दूसरे दिन फिर वही क्रम। कैद की सजा के साथ जुर्माना भी था। पुलिस कुर्की करने पहुंची।
का कष्ट अलग पर कभी विचलित नहीं हुए। देश की आजादी की लड़ाई का वह प्रभात काल था। लोगों
या जीवन आया अवश्य था। फिर भी जेल चले जाने को अपने आसपास के लोग बड़ी बात मानते थे
भूति में कोई आकर कुछ कहता तो कह उठते "क्या हुआ अगर मंगलस्वरूप जेल चला गया। आप
को क्या मालूम कि आजतक कितने हमारे देश के नौनिहाल मुल्क के लिये मिट चुके हैं। जेल भी
सजा है, उन्हें देखो जो फाँसियों पर झूल गये और अब भी काले पानी में सड़ रहे हैं।" जेल में मुझे
संध्यावन्दन करने का आदेश लिखा। वहाँ मेरे उत्साहवर्धनार्थ आशीर्वचन रूप यह शैर भी लिख भेजे।

कदम रहता है साबित जिसका इस सख्ती ए दौरा में
बहादुर है वही सर किल ए फौदाद करते हैं (—मीर)
फिरता है सैले हवादिस से कहीं मर्दों का मुँह

शेर सीधा तैरता है वक्ते रफ़्तन आब में
यां तक उदू जमाना है मर्दे दिलेर का,
पर झुलसे है शिकार किये पर भी शेर का। (—जौक)
करम करम न समझ गर किसी गरज से हो
सितम सितम न सही गर हो इम्तहां के लिये

उनकी मनस्विता

विद्याव्यसन के अतिरिक्त आजीवन उन्हें कोई व्यसन नहीं रहा। इनके चाचा लोग जो सात थे तम्बाकू को पीते ही उनमें कई गांजा भी पीते थे। उनमें तीन चार इनके समवयस्क थे। उनकी सुहबत में चढ़ती जवानी के दिनों में तम्बाकू की लत पड़ी, दो चार बार सुल्फे के कश भी लगाये किन्तु शीघ्र ही दोनों से घृणा हुई और ऐसी कि आजीवन तम्बाकू हाथ से नहीं छुई। मैं तम्बाकू पीता हूं इसका उन्हें रंज था।

दवा से भी उन्हें सख्त परहेज था और विलायती दवा तो कभी नहीं खाई। एक बार उन्हें सन्निपात हो गया। गाँव में उन दिनों ऐलोपैथी डिस्पैन्सरी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की थी। डाक्टर वृन्दावनदास दद्दू के परम स्नेही थे। दोनों समय देखने आते। डबल न्युमोनिया था। एक दिन होश में जरा सी आँख जो खोली तो कहने लगे डाक्टर साहब बड़ी कृपा जो देख जाते हो, लेकिन दवा मत देना वरना आकबत में दामन पकड़ूंगा। डाक्टर साहब बड़े कोमल स्वभाव के थे। आंखों में आंसू भरकर बोले "ईश्वर मालिक है बीमार में कोई कसर नहीं। मेरी कठिनाई यह है कि पण्डितजी आपद्धर्म भी स्वीकार नहीं करते।" मुझसे पहले ही कह रखा था कि चौथय्या का पानी (सेर का जलकर पाव भर रहा हुआ पानी) मेरे मुंह में डालते रहना मैं मरूंगा नहीं। और ऐसा ही हुआ। २१ दिन बाद सरसाम दफै होगया।

जीवन में बीमार बहुत कम पड़े सन् १६१८ के इन्फ्लुएन्जा में भी एक दिन को बीमार नहीं पड़े। हमारे मुहल्ले के दो घर तो उस महामारी में साफ ही होगए। सभी मुर्दों को ढो ढो कर इन्होंने उनका क्रिया कर्म कराया। इस सन्निपात के अतिरिक्त भीषण रोग उन्हें कभी नहीं हुआ। उनका जीवन बहुत ही संयमित और सादा था। और यही उनके दीर्घजीवी और नीरोग रहने का रहस्य मेरी समझ में है। फसली बुखार मलेरिया कभी आ भी जाता तो उस दिन तक कुछ न खाते जब तक वह छूट न जाता, कहा करते थे "फाका लघन हजार दवा की एक दवा है।" भूख प्यास पर उनका बहुत काबू था। जिस दिन स्कूल का मुआइना होता उस दिन शाम को नहा धोकर पूजा करके भोजन करते। कहा करते भोजन भजन एकान्त स्थान और शान्त चित्त में ही ठीक होता है।

प्राकृतिक जीवन के अनुगामी थे। इसी कारण औषधियों के द्वेषी थे कहा करते "दवाओं का आविष्कार मूर्खों के लिये हुआ है। जो अपनी कमजोरियों से बीमारियों को अपने चोले शरीर में पाल लेते हैं। बुद्धिमान वह जो दुश्मन से होशियार रहे। रोग हमारे दुश्मन हैं। जिस प्रकार शत्रु किसी दुर्बलता को ताकता रहता है और मौका पाते ही हरबार आक्रमण कर देता है ठीक यही हाल रोग का है।" पढ़ते पढ़ाते जब आँखों में धुन्ध होगई तो लोगों के कहने पर भी कभी किसी वैद्य डाक्टर को दिखाने नहीं गये। एक

उच्च कोटि के साधू बथुवा वाले बाबा उनके पास कभी कभी आ जाते थे। इन महात्मा की द्वादश वर्ष में साधना चल रही थी, और वह केवल कच्चा बथुवा खाकर योग साधनपूर्वक आत्मोन्नति द्वारा अध्यात्म पथ के पथिक बने हुए थे। यह बाबा दद्दू को नाक से जल पीने की विधि एक दिन बता गये। पिता जी ने अभ्यास से खूब बढ़ा लिया नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ धुन्ध ही चली गई बल्कि आंखों की ज्योति इतनी बढ़ गई कि आजन्म चश्मा नहीं लगाया। और दिन रात पढ़ने का क्रम वही जारी रहा। ४२ वर्ष की अवस्था में मैंने चश्मा लगाया तो उन्हें यह कुछ अच्छा नहीं लगा।

जामनगर में ६ महीने के लिये डाकखाना भी उनके सुपुर्द कर दिया गया था। उस इलाके के सैकड़ों लोग कलकत्ते और रंगून में जमादारी या दरबानी का काम करते थे। उस इलाके में बेड़ियों की आबादी भी बहुत थी। बेड़नियां कलकत्ते और रंगून तक वेश्यावृत्ति करती थीं। सैकड़ों रुपयों के मनीआर्डर आते थे। बेड़िये घोड़ियों और साडनियों पर सवार होकर अमामी बांधे और जर्क वर्क कपड़े पहने बड़े ठाट से मनीआर्डर लेने आते। ऐसे किसी भी बेड़िये को उन्होंने अपनी चारपाई पर या बिस्तर पर नहीं बैठने दिया। एक दिन एक बेड़िये का एक हजार का तार का मनीआर्डर आया। नियमानुसार डाकघर से उनकी अदायगी हुई। रुपया ले लेने के बाद २० रु० उस बेड़िये ने पिताजी की खाट की पाटी के नीचे जमीन पर रखते हुए हाथ जोड़कर कहा "पण्डित जी यह आपको...वह अपना वाक्य पूरा न कर पाया था कि पिताजी ने उसे लताड़कर कहा "उठा इनको! क्या मेरी आकबत (परलोक) बिगाड़ना चाहता है! उठा उठा।" बेड़िया सिट पिटाया इस पर बूढ़ा डाकिया कटारे बोल उठा "यह तो महाराज बच्चों के लिये है।" इस पर पिताजी ने उसे भी फटकारते हुए कहा "तुम्हारा क्या मतलब कटारे! क्या तुम कहते हो कि मैं पीप में दाँत गाड़ूं?" बेड़िया रुपया उठाकर चलता बना।

मदरसे के लड़के इधर से उधर खबर देने में बड़े ताक होते हैं। उन्होंने मेरी माँ से भीतर जा कहा। पण्डितजी ने बीस रुपये लौटा दिये। शाम को जब संध्यादि से निवृत्ति होकर दद्दू भोजन को तैयार हो रहे थे तो माँ ने यह जिक्र छेड़ दिया "ऐसी बुरी कौड़ी का जिक्र करके मेरे सामने आये अन्न को दूषित मत करो।" मेरी माता को जब हकीकत का पता चला तो वह भी इस बात पर गर्वित हुईं "अच्छा किया ऐसी कौड़ी हमारे बालकों को कभी फलीभूत नहीं होती।" ८ रु० मासिक पाने वाले दरिद्र मुदर्रिस के लिये २० रु० का बख्शिश बड़ी चीज कही जा सकती है, पर एक ईश्वर विश्वासी मनस्वी ब्राह्मण ने उसे हाथ तक से नहीं छुआ।

एक भिखारी ब्राह्मण नित्य गांव में भिक्षार्थ आता। मदरसे में भी आता। मेरी मां उसे एक चुटकी आटा देती। माह के दिनों में एक दिन घोर शीत में वह कुकड़ता हुआ आ पहुँचा लड़कों को भेजकर फौरन झांकर बबूल की कांटेदार सूखी डालियां मंगाई उसे तपाया। सावधान होने पर उसकी चुटकी उसे प्रदान की गई और अपनी नई बनवाई हुई रुई की बन्डी भी उसे दे दी गई। जाड़े के उस मौसम में वैसी बन्डी फिर बनवाने का सुपास हुआ ही नहीं। एक कुरते में ही जाड़े काट दिये गये।

उनके अन्तिम दिन

दैवयोग से उनकी मृत्यु पेट की बीमारी से हुई। मृत्यु से चार दिन पूर्व एक दिन सवेरे मैं और मेरी बहन दोनों उन्हें औषधि खिलाकर उनके पास बैठे थे। बहन पंखा झल रही थी कि उठकर बैठ गये और कहने लगे अब हमारी यात्रा का पड़ाव आ रहा है। तुम लोग निश्चिन्त और सुखी रहो। बहन रोने लगी। मेरी ओर मुखातिब होकर कहा, "कुशा मँगवालो ब्रजमोहन पण्डित के घर से"। कुशा मंगवा लिये गये।

अन्तिम क्षण आया तो कहा हमारे लिये आसन तैयार करो, लीप कर कुशा बिछा दिये गये। 'हमें आसन दे दो।' कुशों पर उन्हें लिटा दिया गया। राम राम उनकी जिह्वा पर था। अन्तिम घड़ी में तीन चार कठिनाई से राम कहते बना और उनके प्राण स्वर्ग को प्रयाण कर गये।

बीमारी के दिनों में नित्य राम राम पाठ और गंगाजल पान तो नियमित रूप से चलता रहा।

समाप्त करते करते गालिब का एक शेर याद आया जिसे वे बहुधा स्वान्तः सुखाय गुनगुना लिया करते थे। और जो मुझे भी बहुत प्रिय है। साधनामय और अन्ततोगत्वा बलि बलिदानी जीवन की कैसी सूक्ष्म किन्तु व्यापक और यथार्थ तत्वपूर्ण और महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक रूपरेखा इस शेर में है।

वीरां किया जब आपको बस्ती नजर पड़ी,
जब आप नेस्त हम हुए हस्ती नज़र पड़ी।
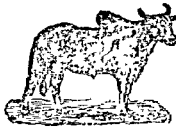
किरण

भली यह कनक किरण की डोर रे !
डाली है हँसकर ऊपर से
किसने किसकी ओर रे !

वह सुवर्ण का आगर नागर
रीझा माटी के किस धन पर ।
उसको यह, इसको वह रुचिकर,
भला आज का भोर रे !

न क्यों हर्ष में हिय यह झूले,
भूले वह तो यह क्यों भूले,
छू ले उसे यहीं से छू ले,
पकड़ लिया है छोर रे !

पकड़ लिया है, छूटेगी क्या
कनक किरण की डोर रे !

—सियारामशरण गुप्त

अभिनन्दन-वन्दन-आशीर्वाद

डा० सम्पूर्णानंद की ६० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर उपस्थित रह सकने की मेरी हार्दिक इच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति के—विशेषतया उत्तर प्रदेश के श्रम एवं शिक्षा मंत्री, हमारे डाक्टर के समान मान्य नेताओं के जीवन में—ऐसा अवसर अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। किंतु मैं अपने को उस समय तक इस आनन्द से वंचित रखने के लिए बाध्य हूं जब तक कि मैं कम-से-कम स्वास्थ्य की दृष्टि से इस खतरे को उठा सकने के लिए योग्य न हो जाऊँ। एतदर्थ, मैं आपको अपनी शुभकामनाएँ तथा उस राजनीतिक प्रतिभा एवं सुचरित्र के लिए अपनी प्रशस्ति भेजता हूं जो कि प्रिय डा० सम्पूर्णानंद की निजी विशेषताएँ हैं।

कांग्रेस में एक सहकर्मी के रूप में उन्हें ३० वर्षों से जानने, लखनऊ में अतिथि के रूप में उनके साथ रहकर एवं उनके निजी तथा सामाजिक जीवन के निकटस्थ अध्ययन तथा समाचार पत्रों एवं उनके प्रशंसापूर्ण और शायद अप्रशंसापूर्ण भी समाचारों को सुन कर मैं यह कह सकता हूं कि उनके चरित्र में ऐसी दृढ़ता है जो कि उनके सह-मंत्रियों के लिए स्पृहा है। उनके निष्कर्ष गलत और सही हो सकते हैं, उनके निर्णय मान्य और अमान्य हो सकते हैं, किंतु वह मंत्री—जो अंतिम निर्णय, शीघ्र निर्णय तथा दृढ़ कार्य-शक्ति में सक्षम न होता, नगण्य होता है। दृढ़ इच्छा का व्यक्ति वही होता है जो अपनी इच्छा में परिवर्तन भी कर सकता है। जो अपनी इच्छा में परिवर्तन नहीं कर सकता वह दृढ़ इच्छाशील नहीं, अपितु निर्बल इच्छाशील व्यक्ति है जिसे कि हम साधारण भाषा में "इच्छाओं का दास" कह सकते हैं। हम नहीं चाहते कि ऐसे व्यक्ति हमारे शासन-यन्त्र का संचालन करें। यथार्थ सामंतशाही की भांति यथार्थ प्रजातंत्रवादिता में भी आलोचना के लिए स्थान रहता है, तर्कों का स्वागत होता है और परिवर्तन की इच्छा रहती है। मैं डा० सम्पूर्णानंद का इसी रूप में प्रशंसक हूं।

आशा है कि आप सम्पूर्णानंद जी की वैयक्तिक प्रशंसा के इन शब्दों के लिए—जो कि खतरनाक रूप से चाटुकारिता की सीमा पर आ गए हैं—मुझे क्षमा करेंगे। यहाँ मैंने अपनी हार्दिक भावनाओं की अभिव्यंजना की है और ऐसा करने के लिये क्षमा प्रार्थी हूं।

बी० पट्टाभि सीतारमैया

अध्यक्ष, भारतीय राष्ट्रीय महासभा

Message from the Hon. Sardar Vallabhbhai Patel, Deputy Prime Minister, for Shri Sampurnanand Abhinandan Granth.

Sampurnanandji has been known to me for several years. I have known him as a friend, comrade and a loyal worker who has stood for Congress ideals with a passionate attachment to the principles which have throughout guided the policies and activities of the Congress. Although he has the appearance of a recluse, he is intensely a man of the world; an accomplished scholar, he has distinguished himself in service to the Hindi language and literature; a sympathetic administrator, he has served the cause of labour and education with consummateability. Personally, it was a great pleasure to me to have shared with him the honour of receiving an honorary degree from the Allahabad University in November 1948. I am sure many similar honours in recognition of his meritorious service await him in years to come, but this unique gift of an Abhinandan Granth will be a rare and privileged experience for him. It will contain tributes from a host of his friends, well-wishers and admirers, and will, to some extent, contain a reward for the years of service and devotion to his Province, the country and the Congress.

Vallabhbhai Patel

(VALLABHBHAI PATEL)

New Delhi, the 28th March 1950.

श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए

उप प्रधान मंत्री माननीय

सरदार वल्लभ भाई पटेल का संदेश (हिन्दी रूपान्तर)

सम्पूर्णानन्द जी को मैं वर्षों से जानता हूं। मैं उन्हें एक मित्र, सहकर्मी तथा एक कर्तव्यनिष्ठ कार्यकर्त्ता के रूप में जानता हूं जिनने कांग्रेस की नीति एवं कार्यों का नेतृत्व करने वाले आदर्शों की बड़ी लगन के साथ रक्षा की है। यद्यपि वे ऊपर से विरागी प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में वे अत्यन्त व्यावहारिक व्यक्ति हैं। वे एक परिपक्व अध्येता हैं जिनने हिन्दी भाषा एवं साहित्य की सेवा में अत्यन्त विशिष्टता प्राप्त की है। वे एक सहानुभूतिपूर्ण शासक हैं तथा शिक्षा एवं श्रम के क्षेत्रों में उन्होंने बड़ी पूर्णता एवं दक्षता के साथ सेवाएँ की हैं। व्यक्तिगत रूप में गत नवम्बर, १६४८ में प्रयाग विश्वविद्यालय से एक सम्मानित उपाधि प्राप्त करने के गौरव में उनका सहभागी होने में मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी। मुझे विश्वास है कि उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं के सम्मानस्वरूप भविष्य में अनेक बार उन्हें इस प्रकार के सम्मान प्राप्त होंगे किन्तु अभिनन्दन ग्रन्थ की यह अनुपम भेंट उनके लिये एक अलभ्य एवं विशिष्ट अनुभव का कारण होगी। इसमें उनके अनेकों मित्रों, शुभचिन्तकों तथा प्रशंसकों की बधाइयां संग्रहीत होंगी तथा कुछ अंशों में अपने प्रांत, देश एवं कांग्रेस के प्रति उनकी वर्षों की सेवाओं का पुरस्कार भी होगा।

वल्लभभाई पटेल

नई दिल्ली २८ मार्च १६५०

* * * * *

श्री सम्पूर्णानन्द जी के सम्बन्ध में मैंने इतना अधिक सुन रखा है कि उनके सम्पर्क में आने की उत्कट अभिलाषा मुझे सदैव बनी रही है। इसके दो कारण और भी हैं। पहला शिक्षा के विषय में उनकी रुचि और दूसरा देश की स्वाधीनता संग्राम में समान रूप से भाग लेना।

उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाना सर्वथा उचित है। विद्वान तथा सम्मानित लेखकों के लेखों से पूर्ण अभिनन्दन ग्रन्थ माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व तथा जीवन के उपयुक्त अभिनन्दन होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं श्री सम्पूर्णानन्द जी के स्वास्थ्य तथा दीर्घजीवन की शुभकामना करता हूं।

जी० वी० मावलंकर

अध्यक्ष, भारत लोक सभा

* * * * *

मुझे हर्ष है कि हिन्दी भवन कालपी के कार्यकर्त्ता मेरे सहयोगी डा० सम्पूर्णानन्द जी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन कर रहे हैं।

उच्च चरित्रवान् एवं राष्ट्र की सेवा में अपना जीवन होम कर देने वाले पुरुष के रूप में डा० सम्पूर्णानन्द जी करोड़ों व्यक्तियों की श्रद्धा और स्नेह के भाजन हैं। मैं उनके अधिकाधिक स्वास्थ्य तथा सुख की कामना करता हूं। वे अनेकानेक वर्ष सफल जीवन व्यतीत करें।

एच० पी० मोदी

राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अपने संरक्षक माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी की ६० वीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर श्री हिन्दी विद्यार्थी सम्प्रदाय की तरफ से अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का आयोजन हो रहा है। मेरी यही अभिलाषा है कि इस कार्य में सम्प्रदाय सर्वथा सफलता प्राप्त करे। और जिस विभूति का समुचित सम्मान करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह हमारे बीच में बहुत दिनों तक विद्यमान रहकर देश और समाज की सेवा करे।

श्री सम्पूर्णानन्द जी से मेरा निकट सम्पर्क तीस वर्ष पहिले हुआ था, और तब से आज तक विभिन्न क्षेत्रों में उनके साथ कार्य करने का सुअवसर मुझे मिला है। ज्ञान मण्डल में साहित्यिक, विद्यापीठ में शिक्षा सम्बन्धी, म्युनिसिपैलिटी में नागरिक और कांग्रेस में राजनीतिक कार्य मैंने उनके साथ किया। जेल में मेरा उनका बार बार साथ रहा। ऐसी अवस्था में अत्यन्त निकट से दिन रात मुझे उन्हें देखने का अवसर मिला है। और इस शुभ उत्सव पर जब वे अपने उपयोगी जीवन का ६० वर्ष समाप्त कर रहे हैं, मैं अन्य मित्रों के साथ साथ अपने स्नेह, श्रद्धा और प्रशंसा की अंजलि उनके प्रति उपस्थित करता हुआ उनका सस्नेह अभिनन्दन करता हूं।

यह प्रसन्नता की बात है कि ऐसे देश में जहां प्रायः मनुष्य अल्पायु होता है आज वे पूर्णतया शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का उपयोग उपभोग कर रहे हैं। हम सब लोगों के लिए यह बड़े आनन्द का विषय है। मेरी यही शुभ कामना है कि उनकी उपयोगिता दिन प्रति दिन बढ़े और हम उनकी विद्या और उनकी कृतियों का पूरा सदुपयोग कर सकें। इस समय अपना देश बड़ी विषम स्थिति में पड़ गया है। स्वराज्य का पाना उतना कठिन नहीं था जितना स्वराज्य की रक्षा करना हो रहा है। ऐसे समय में श्री सम्पूर्णानन्द जी ऐसे कर्णधार हमारे बीच में मौजूद हैं, यह हमारा सौभाग्य है। वे बहुत दिनों तक हमारे पथ प्रदर्शक रहें, यही आज हमारी अभिलाषा है।

श्रीप्रकाश
राज्यपाल, आसाम

माननीय सरदार वल्लभभाई पटेल एवं माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पंत के साथ श्री सम्पूर्णानन्द

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि हिन्दी भवन युक्त प्रान्त के शिक्षा मंत्री श्री सम्पूर्णानन्द जी के सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहा है। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ में विभिन्न विषयों : साहित्य, शिक्षा समाज, सुधार व राजनीति पर जिनसे श्री सम्पूर्णानन्द जी का सम्बन्ध रहा है अथवा है अत्यन्त महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह रहेगा।

मुझे हार्दिक दुःख है कि समयाभाव के कारण मैं इस ग्रन्थ के लिए न लिख सकूंगा। किन्तु मैं ग्रन्थ के प्रकाशन की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करूंगा। मैं आपकी स्तुत्य योजना की सफलता की कामना करता हूं।

एम० एस० अणे

राज्यपाल, बिहार

* * * * *

मेरी शुभकामनाएँ हैं कि श्री सम्पूर्णानन्द जी राष्ट्र की सेवा में संलग्न सफल जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घजीवी हों।

आसफअली

राज्यपाल, उड़ीसा

* * * * *

उत्तर प्रदेश में श्री सम्पूर्णानन्द जी से सभी परिचित हैं। वह एक सुयोग्य और परिष्कृत विचारों के सम्मानित व्यक्ति हैं। अपनी योग्यता की तुलना में वे अत्यन्त विनम्र हैं। शिक्षा में उनकी अत्यन्त अभिरुचि है और उत्तर-प्रदेश सरकार में शिक्षा सचिव के महत्वपूर्ण पद को उन्होंने योग्यता और कुशलता पूर्वक निबाहा है। मुझे विश्वास है कि वे अभी अनेक वर्ष राष्ट्र सेवा करते रहेंगे।

महाराज सिंह

राज्यपाल, बम्बई

* * * * *

श्री सम्पूर्णानन्द जी की देश सेवा और भारतीय संस्कृति के प्रेम से जनता उनसे सुपरिचित है ही। स्वतन्त्रता मिलने पर पहली आवश्यकता थी त्यागी, सेवा परायण और अनुभवी कार्यकर्ताओं की। क्योंकि उत्तर प्रदेश में माननीय पन्त जी और श्री सम्पूर्णानन्द जी जैसे कार्यकर्ता थे, इसलिये शासन प्रबन्ध का परिवर्तन होने पर भी राज्यव्यवस्था में कर्मकौशल और दक्षता का प्रमाण अति उच्च रहा है। यह उस प्रांत का और भारत का भाग्य है, गाढ़ विद्वत्ता और देशभक्ति सेवाभाव और निःस्पृहता इन गुणों से सम्पूर्णानन्द जी अखिल भारत में आदर के स्थान हो रहे हैं। श्री सम्पूर्णानन्द जी की दीर्घायु और स्वास्थ्य का इच्छुक हूं।

बी० जी० खेर

मुख्य मन्त्री, बम्बई

मैं श्री सम्पूर्णानन्द की वर्ष गाँठ पर आपके द्वारा शुभकामना भेजता हूं। ईश्वर उनको स्वस्थ, चिरंजीवी, समृद्धवान् देश सेवक रक्खे—वह एक बड़े गम्भीर, कार्यकुशल, वाक्कुशल, कर्मयोगी विद्वान सज्जन हैं। देश को नई स्थिति में ऐसे ऐसे विशेष और अधिकाधिक व्यक्तियों की आवश्यकता है। श्री सम्पूर्णानन्द में पूर्वीय-पश्चिमी, प्राचीन-अर्वाचीन सभ्यता का सम्मिश्रण ठीक है जैसा होना चाहिए—उनको बधाई और पुनरपि शुभेच्छा भेजता हूं। यही मेरी वर्षगाँठ पर उनके निमित्त पुष्प वृष्टि है और अभिवादन भी।

सीताराम

पाकिस्तान स्थित भारतीय हाई कमिश्नर

*　　*　　*　　*　　*

उत्तर प्रदेश के मंत्रिमंडल में प्रमुख स्थान रखने वाले माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी से सार्वजनिक कार्यकर्ता तथा निजी मित्र के रूप में वर्षों से परिचित होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है। राजनीति, साहित्य, शिक्षा तथा शासन के क्षेत्र में उनके कार्यों का विनम्र प्रशंसक हूं। इनमें तथा जीवन के अनेक कार्यों से उन्होंने यश तथा ख्याति प्राप्त की है। मैं तो ८० वर्ष का बूढ़ा हूं अतः उनको अभी ६० वर्ष का जवान ही समझता हूं अतएव मैं उन्हें आशीर्वाद तथा शुभकामनायें भेजता हूं कि वे दीर्घजीवी हों और सार्वजनिक सेवा करें।

सच्चिदानन्द सिनहा

[हमें खेद है कि इस अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन देखने के लिये डा० सिनहा अब हमारे बीच में नहीं है। —संपादक]

*　　*　　*　　*　　*

श्री सम्पूर्णानन्द जी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने के निमित्त आपके हिन्दी भवन ने जो आयोजन किया है, वह प्रशंसनीय है। श्री सम्पूर्णानन्द जी हमारे प्रांत के एक विशिष्ट व्यक्ति हैं। उनमें देश भक्ति, कर्मण्यता, तत्परता, विविध विषयों में प्रवेश तथा संस्कृति से प्रगाढ़ प्रेम आदि अनेक ऐसे गुण हैं जिनका लोगों के हृदय पर प्रभाव है। वे हमारे नगर के सर्व प्रिय नागरिक तो हैं ही, उनके कुल का मेरे कुल के साथ बहुत दिनों का व्यवहार सम्बन्ध भी रहा है। व्यक्तिगत रूप से भी मेरा उनका निकट परिचय है। अतः मुझे इस आयोजन से गहरी प्रसन्नता है। मेरा विश्वास है कि ऐसे योग्य सम्पादक मण्डल के तत्वावधान में श्री सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व के अनुरूप उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत होगा।

विभूति नारायण सिंह

काशी नरेश

सन् ३७ की बात है। सम्पूर्णानन्द जी के मन्त्रिमंडल के सदस्य बनने से कुछ ही दिनों पूर्व लखनऊ विश्वविद्यालय के उप कुलपति का स्थान रिक्त हुआ। विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सम्मुख इस पद के लिये सम्पूर्णानन्द जी का नाम प्रस्तावित किया गया। उनका नाम प्रस्तावित होते ही अधिकांश सदस्य कह उठे कि वे तो अत्यन्त पुराने ढंग के व्यक्ति प्रतीत होते हैं। विश्वविद्यालय उनके हाथों में जाकर अपनी आधुनिकता तथा प्रगतिशीलता खो बैठेगा। वास्तव में इस युग में सम्पूर्णानन्द जी का बन्द गले का पुराने ढंग का कोट, माथे पर चन्दन का टीका, और सिर पर लम्बे बालों को देखकर उनके दकियानूसी होने का भ्रम प्राय: हो जाता है। यह भ्रम उनके किंचित रूखे स्वभाव से तथा यह जानकर कि उन्होंने "ब्राह्मण सावधान" नामक तथा गणेश देवता पर गवेषणात्मक पुस्तकें लिखी हैं, और भी दृढ़ हो जाता है। किन्तु सत्य तो यह है कि इस कथित पुराने ढंग की वेषभूषा में एक हृदयग्राही, प्रगतिशील एवं सौम्य व्यक्तित्व छिपा हुआ है। सम्पूर्णानन्द जी ने युक्तप्रांत के शिक्षा एवं श्रम सचिव के पद पर रह कर विभिन्न सुधारवादी योजनाओं को कार्यान्वित करके अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। जिस किसी को सम्पूर्णानन्द जी को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उसने उन्हें अपने विचारों में सचेत तथा आधुनिक पाया है। यदि उनमें कुछ पुरातनता है भी तो वह रूढ़िवादी न होकर अभिनंदनीय तथा अनुमोदनीय ही है। विचारों में दृढ़ता तथा निर्भीकता उनकी अपनी विशेषता है। उन्होंने अपने विचारों को सर्वदा दृढ़तापूर्वक व्यक्त किया है। अभी हाल में उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय के अपने दीक्षांत भाषण में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के एक महत्वपूर्ण सदस्य होते हुए भी जिस प्रकार खुले शब्दों में नवनिर्मित भारतीय विधान की आलोचना की है, वह उनकी विचार-स्वतंत्रता एवं निर्भीकता का परिचायक है।

सम्पूर्णानन्द जी सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जीवन को दो विभिन्न तराजुओं में तौलने के विरोधी हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अन्तर्गत राजनैतिक क्षेत्र में कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत जीवन में विशेष ध्यान न देना ही उचित समझा जाता है, इसका प्रतिफल प्रत्यक्ष है। कितने ही देशों में राजनीति धूर्तों का क्रीड़ास्थल बनती जारही है। स्थिर एवं सात्विक जीवन ही विचारों तथा कर्मों में शुद्धता एवं उच्चता ला सकता है। जिसने अपने व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता के निरन्तर संरक्षण का महत्व नहीं समझा वह अपने व्यवहार द्वारा कितना लोकहित सम्पादित कर सकता है, यह अत्यन्त संदिग्ध है। इसी कारणवश विशुद्ध भारतीय नीति पर आधारित जीवन प्रणाली को अपनाकर सम्पूर्णानन्द जी ने गांधीवादी विचारधारा में योग दिया है। उनका सार्वजनिक जीवन शुद्ध नैतिक आधारों को लेकर खड़ा हुआ है। इस विशेषता ने उनके व्यक्तित्व को और भी आकर्षक बना दिया है। अध्ययनशीलता सम्पूर्णानन्द जी की एक विशेषता है। १९२० के युग से हमारे राजनीतिक कार्यकर्ता देश की हलचलों में अधिकाधिक व्यस्त होते गये हैं। उन्हें अध्ययन और मनन करने का थोड़ा बहुत समय केवल सीकचों के भीतर ही मिल पाया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से तो शासन सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने से ही उन्हें अवकाश नहीं मिल पाता। इन परिस्थितियों में रहते हुये भी, जो विभिन्न विषयों के अध्ययन के क्रम को चालू रख सके हैं; उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। सम्पूर्णानन्द जी इन्हीं इने-गिने व्यक्तियों में से हैं। वे अध्ययन प्रेमी हैं, उन्होंने क्रियात्मक राजनीति में अत्यधिक भाग लेते हुये भी अध्ययन को कभी नहीं छोड़ा। कुछ दिनों पूर्व तक प्रांतीय मंत्रिमण्डल में उनके कन्धों पर सबसे अधिक और महत्वपूर्ण विभागों का भार था, किन्तु फिर भी वे पुस्तकों के अध्ययन के लिये समय निकाल ही लेते थे।

सम्पूर्णानन्द जी निर्धन हैं, और उन्हें अपनी निर्धनता पर अभिमान है। जीवन की अत्यधिक कठिन परिस्थितियों में भी अपने उच्च आदर्शों से किंचितमात्र विचलित नहीं हुए हैं। राजनीति में जो स्थान आज उन्हें प्राप्त है, वह उनकी निज की कमाई है। उनकी योग्यता और क्षमता ने ही उन्हें उत्तर प्रदेश की राजनीति में इतना ऊंचा उठाया है।

सम्पूर्णानन्द पक्के समाजवादी हैं, और देश में शीघ्रातिशीघ्र समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के समर्थक हैं। किन्तु वे हवा में बातें करना नहीं जानते। उन्होंने सर्वदा यथार्थवादिता तथा व्यवहारिकता को ही अपनी राजनीति में स्थान दिया है। वे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की विषमताओं और दुरूहताओं को व्यवहारिक दृष्टि से परखने के आदी हैं, भावुकता और आवेश में बह जाना उन्होंने नहीं सीखा। उनके वैयक्तिक आचरण के इस सुन्दर दृष्टिकोण को उनके बहुत से साथी नहीं समझ सके हैं, और इसी कारण उनकी कार्य-शैली अपने पुराने साथियों में किंचित भिन्न रही है।

उनके सम्पर्क और साहचर्य में एक आत्मसंतोष अनुभव होता है, और उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति अपने को एक उच्च वातावरण में पाता है। अपने युवाकाल से ही वे अपने किसी न किसी रूप में देश साहित्य, और समाज की सेवा में अनवरत लगे हुये हैं। हमारे प्रान्त का यह सौभाग्य है कि उसे उन जैसा सहायक और नेता प्राप्त हुआ है। हम सबकी कामना है कि देश की अधिकाधिक सेवा के लिये वे चिरायु हों।

चन्द्रभान गुप्त

रसद एवं खाद्य मन्त्री, उत्तर प्रदेश

* * * * *

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि हिन्दी भवन ने माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी की ६० वीं वर्ष गांठ के उपलक्ष में उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया है। ऐसे शुभ अवसर पर मैं हिन्दी भवन के कार्यकर्ताओं को अपनी शुभ कामनाएं भेजता हूं तथा ईश्वर से प्रार्थना है कि आपका भवन अपने पावन उद्देश्य में सफल हो और निरन्तर उन्नति करता रहे।

गिरधारी लाल

जेल एवं आबकारी मन्त्री, उत्तर प्रदेश

माननीय सम्पूर्णानन्द जी को बहुत समीप से मैंने तब जाना जब वह काशी विद्यापीठ में दर्शन के अध्यापक थे और मैं उनका एक विद्यार्थी। उनकी विद्या और बुद्धि का मुझ पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि मैं उसके विपरीत बहुत ही साधारण बुद्धि का और अत्यन्त कम पढ़ा लिखा विद्यार्थी था। श्री सम्पूर्णानन्द जी की विद्वता और पाँडित्य से देश परिचित है। पढ़ने की उनकी रुचि सदा असाधारण रही। उस समय भी जब वह मिनिस्ट्री सम्बन्धी कामों में इतने घिरे रहते हैं उनका अध्ययन चलता रहता है। जो आधुनिक पुस्तकें, खोज अथवा महत्व के परिवर्तन अनेक दिशाओं में होते रहते हैं उनका अध्ययन तथा उनकी पूरी जानकारी रखते हैं। मुझे याद है कि विद्यापीठ के पुस्तकालय तथा दूसरे पुस्तकालयों से वह एक बार में चार पांच पुस्तकें चार पांच सौ पृष्ठों से एक कम की नहीं, पढ़ने के लिए ले जाते और छः सात रोज़ में लौटा देते। उनका पढ़ना केवल पढ़ना ही न होता, उनके विचारों तथा तर्कों को वह हृदयंगम कर लेते, उन पर उनका मत बन जाता और अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट करते।

पढ़ना पढ़ाना, दो तीन मित्रों से रुचि पूर्वक मिलना और औरों से दूर रहना, यही उनके जीवन की दिनचर्या रहती। हाँ, राजनैतिक कार्य तो साथ लगा ही हुआ था। हम विद्यार्थी उस समय यही टीका करते, इनकी तेजी सभी जगह रहती है, पढ़ने में, लिखने में, व्याख्यान देने और बात करने में भी।

हमारे देश के प्रशस्त विचारकों और लेखकों में श्री सम्पूर्णानन्द जी का नाम है। वह उन व्यक्तियों में हैं जो राजनैतिक कार्यों के अतिरिक्त भी अपने विचारों और लेखनी से देश को बहुत कुछ दे सकेंगे।

लालबहादुर शास्त्री
पुलिस मन्त्री, उत्तर प्रदेश

* * * * *

माननीय डा० सम्पूर्णानन्द जी श्रम, शिक्षा तथा अर्थमन्त्री को उनकी ६० वीं वर्षगांठ पर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित कर आप बहुत ही उचित कार्य कर रहे हैं। ईश्वर आपके इस सुन्दर विचार को पूरी सफलता दे।

इस कट्टर कांग्रेसवादी, राजनैतिक, सामाजिक तथा अध्ययनशील प्रमुख शिक्षावादी के सम्पर्क में जो भी आयेगा, वह इस गुणी देशभक्त के प्रति प्रशंसा तथा आदरभाव प्राप्त करेगा। उन्हें कई वर्षों से जानने का मुझे हर्ष प्राप्त है और मैं उनके अनेक अनेक गुणों के प्रति बड़ा आकर्षित हुआ हूं।

वर्तमान पीढ़ी को समुचित रूपेण शिक्षा देने के लिये उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी परिवर्तन किये हैं, वह हम सब देख रहे हैं।

उनकी साठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर मैं उनको हार्दिक बधाई देता हूं और भगवान् से प्रार्थना करता हूं कि उनको अभी अनेक वर्षों तक देश की सेवा करने का अवसर दे।

हाफ़िज़ मुहम्मद इब्राहीम
मन्त्री, जन निर्माण विभाग, उत्तर प्रदेश

श्री सम्पूर्णानन्द जी को मैंने एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता की हैसियत से ही जाना, मुझे उनकी उन विभूतियों का जो उनके विद्याध्ययन और छात्रवृत्ति से सम्बन्धित हैं, ज्ञान कम है, पर मैंने उन्हें जो थोड़ा बहुत जाना है उससे मै कह सकता हूं कि वे हमारे महान् व्यक्तियों में से एक हैं। उनके सोचने की और किसी परिणाम पर पहुंचने की शक्ति प्रबल है। किसी विषय पर शीघ्रता से राय कायम करने की खूबी को मै उनका बहुत बड़ा चरित्र समझता हूं।

आधुनिक आचार विचार और पश्चिमी सभ्यता के वे कायल नहीं हैं, कम बोलना, और सादा जीवन व्यतीत करना उन्हें बहुत प्रिय है। कम सखुन होने के कारण उनके प्रति बहुधा लोग गलत राय बना लेते हैं, पर मैं भलीभांति जानता हूं कि वे मृदु स्वभाव के हैं और दूसरों की कठिनाइया वे खूब समझते हैं।

अपनी व्यथा दूसरों के आगे रखने में वे अपना अपमान समझते हैं। उनमें अद्भुत सहनशीलता है। उनकी कार्यपटुता, तीव्र बुद्धि और कम बोलने का अभ्यास हमारे लिए तो आदर्श की बात है। मै कभी उनका विद्यार्थी नहीं रहा और न मैंने उनके समीप बैठकर उनसे कुछ सीखने का ही प्रयत्न किया पर उन्हें जो कुछ मैंने जान पाया उससे उनकी अजेय शक्ति की सराहना करने में मुझे अत्यन्त सन्तोष और आनन्द मिलता है।

मैं श्री सम्पूर्णानन्द जी के दीर्घजीवी होने के लिए हमेशा प्रार्थी रहता हूं।

केशवदेव मालवीय

उद्योग एवं विकास मन्त्री, उत्तर प्रदेश

* * * * *

माननीय सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा सचिव उत्तर प्रदेश के ६० वें जन्म दिवस के अवसर पर उनके सम्मान में समर्पित किये जाने वाले "अभिनन्दन ग्रन्थ" के समाचार को जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

राष्ट्र और समाज के प्रति की गई उनकी सेवायें बड़ी अमूल्य हैं। उन्होंने राजनीति में ही नहीं अपितु समाज के सभी अंगों में अपनी अमूल्य देन प्रदान की है। यह कौन कह सकता था कि प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन का यह साधारण अध्यापक किसी दिन असाधारण प्रतिभा के कारण अद्वितीय सामाजिक, राजनैतिक तथा दार्शनिक निर्माता बन सकेगा। उन्होंने जिस प्रकार स्वातन्त्र्य संग्राम में एक वीर योद्धा की तरह अपना भाग अदा किया है उसी प्रकार समाज रचना में भी अपने मस्तिष्क का अनुपम परिचय दिया है। अनवरत कार्यरत होने पर भी हिन्दी, इंगलिश में दर्शन, समाज, राजनीति आदि विभिन्न विषयों पर पन्द्रह से अधिक पुस्तकें लिखकर उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। समाज रचना के ऊपर लिखी हुई आपकी पुस्तक "समाजवाद" के सर्वश्रेष्ठ होने के कारण आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्राप्त हो चुका है।

इस प्रांत में शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय को उन्होंने बहुत ही उपयोगी बनाया है और उसमें जितने भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनका सारा श्रेय आपको ही है।

आपसे इस प्रांत को बहुत आशाएँ हैं। और इन आशाओं को पूरा होते देखने के लिए उनके इस जन्म दिवस पर लाखों नर नारियों के साथ मैं भी अपनी ओर से बधाई देता हू और परमात्मा से उनके दीर्घायु होने की प्रार्थना करता हूं।

निसार अहमद शेरवानी

कृषि मन्त्री, उत्तर प्रदेश

मुझे यह ज्ञात कर अत्यन्त हर्ष हुआ कि मेरे मित्र माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी को अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पण किया जा रहा है।

श्री सम्पूर्णानन्द जी का देश प्रेम एवं विद्या प्रेम असाधारण है। जहाँ एक ओर देश के लिए आपने अनेक कष्ट आपत्ति एवं कारागार के कठिन बन्धनों को सहर्ष स्वीकार किया वहाँ सरस्वती के चरणसरोरुहों में श्रद्धांजलि अर्पण करने में भी सदैव अग्रसर रहे। आपके वैदिक कालीन संस्कृति की गवेषणा एवं अन्यान्य विद्वत्तापूर्ण कृतियों से हिन्दी साहित्य की चिरकाल तक श्री वृद्धि होती रहेगी। वाराणसी गवर्नमेंट संस्कृत कालेज को संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप देने का श्रेय भी बहुत कुछ आपको ही है। यही नहीं, जहाँ आपने देश की दुर्दशा और दीनता का स्मरण कर आपका हृदय द्रवीभूत होता रहा है, और जन साधारण में किस प्रकार ज्ञानवृद्धि हो, धन सम्पत्ति का किस प्रकार उचित विभाजन हो, श्रमजीवी किस प्रकार अधिकाधिक सुखी हों, इस ओर आपका सदैव ध्यान रहा है। सच बात तो यह है कि आपका जीवन उस निर्मल आदर्श की भांति है जिसमें सुन्दर वैदिक कालीन संस्कृति की सुस्पष्ट झलक, मध्यकालीन सभ्यता एवं विकास की छाया एवं आधुनिक विश्व बन्धुत्व, स्वतन्त्रता जन्मजात मौलिक अधिकार, एवं सम्पत्ति का समान विभाजन एवं समानाधिकार का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

देश के ऐसे रत्न का समादर करना, मातृभूमि एवं मातृभूमि की ही वन्दना करना है। अतएव उनके इस अभिनन्दन से मैं अपना हार्दिक सहयोग देता हूं। भगवान से प्रार्थना करता हूं कि देश की वे अधिकाधिक सेवा करने में समर्थ हों।

गोविन्ददास
सदस्य, भारतीय संसद

* * * * *

सम्पूर्णानन्द जी कार्यदक्ष और देशभक्त नेता हैं। उत्तर प्रदेश के अग्रगण्य हैं। हिन्दी और संस्कृत प्रेमी विद्वान हैं। उनके हीरक महोत्सव के प्रसंग पर हिन्दी भवन का आयोजन सुयोग्य है।

के० एम० मुन्शी

* * * * *

श्री सम्पूर्णानन्द जी विद्वान हैं। अनुभवी शिक्षक हैं, यशस्वी मन्त्री हैं। हिन्दी साहित्य और भाषा का उनसे बड़ा उपकार हुआ है। मेरी शुभ कामना है कि वे स्वस्थ और चिरायु हों और देश की और भी अधिक सेवा कर सकें।

अमरनाथ झा

श्री सम्पूर्णानन्द जी के पिता-माता

स्व० मुंशी विजयानन्द जी

श्री मती आनन्दी देवी

भाई सम्पूर्णानन्द जी का प्रथम परिचय सन् १६१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हुआ। महात्मा जी सभापति हुए थे। सम्पूर्णानन्द जी वहां के डेली कालेज में अध्यापक थे, और हिन्दी साहित्य प्रदर्शिनी के, जहां तक मुझे याद है, मन्त्री थे। भाई बनारसी दास जी के भी दर्शन पहली बार वहीं हुए। तब मैं उन्हें एक विद्वान शिक्षक के रूप में जानता था। बाद में हिन्दी लेखक व सम्पादक (मर्यादा-प्रयाग) के रूप में वे हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हुए। फिर काशी विद्यापीठ के अध्यापक ही नहीं एक स्तम्भ हो गए। यहीं उनकी गति रुक नहीं रही—शीघ्र ही एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता व नेता के रूप में उनकी प्रतिष्ठा हुई। कांग्रेसी सरकार उत्तर प्रदेश में होने पर वे शिक्षा मन्त्री बनें। विद्वान वे कोरे विज्ञान के ही नहीं, ज्योतिष, साहित्य, समाजवाद व अध्यात्म शास्त्र के भी हैं। कई उत्तम ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। एक ओर दुर्गा के भक्त हैं तो दूसरी ओर समाजवादी। इस तरह आस्तिकता व समाजवाद का मेल अपने जीवन में ही बैठाकर खामोश न रहे—अपनी समाजवाद सम्बन्धी पुस्तक में इसका प्रतिपादन भी किया है।

गाधी जी पर सबसे पहला लेख मैंने—"मेरे हृदय देव"—सम्पूर्णानन्द जी की प्रेरणा से ही "मर्यादा" के लिए लिखा था। यद्यपि हम लोगों को एक दूसरे से मिलने व पत्र व्यवहार के भी अवसर बहुत कम आए हैं, फिर भी न जाने क्यों हम एक दूसरे के बहुत निकट मालूम होते हैं। यद्यपि वे गांधी जी के आलोचक भी कभी कभी हो जाते हैं और मैं हूं पूरा भक्त—भले हो अन्धा कह लीजिये—फिर भी मुझे सदैव ऐसा लगा है कि हमारी विचारधारा एक ही दिशा में बहती है। हिन्दी व हिन्दुस्तानी के विवाद में मेरे उनके विचारों में भिन्नता रही है। पर हमारे प्रेम व सम्बन्ध में किसी भी तरह से फर्क नहीं होने पाया।

सम्पूर्णानन्द जी का स्थान उत्तर प्रदेश की राजनीति में ही नहीं, भारत के साहित्य व शिक्षा क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, व रहेगा। आज मुझे उनका अभिनन्दन करते हुए बहुत हर्ष होता है।

हरिभाऊ उपाध्याय

* * * * *

यह मेरे लिये बड़े आनन्द की बात है कि हमारे प्रेम महाविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष श्री सम्पूर्णानन्द जी को उनकी ६० वीं साल गिरह पर हिन्दी भवन कालपी अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर रहा है।

मेरा कथन है कि प्रत्येक विद्यालय में छोटे-मोटे कारखाने लगाये जावें, बाग़ खेल व गौशाला भी यथा सम्भव होना चाहिए। हमारे विद्यार्थी और लड़के-लड़कियां पढ़ेंगे भी और आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति भी करेंगे, बाहर निकल कर नौकरियों की तलाश में मारे मारे नहीं फिरेंगे, इस प्रकार के विद्यालय आगे चलकर आदर्श समाज में बदल जावेंगे, जहां कुटुम्ब प्रथा चलेगी, बूढ़ों का आदर और छोटों को प्यार। इसी प्रकार सच्ची शान्ति स्थापित हो सकेगी अन्यथा नहीं।

मुझे आशा है कि प्रेम महाविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली—जो महात्मा गान्धी की प्रणाली से भिन्न नहीं है—अपनाने का प्रयत्न किया जावेगा।

शुभ कामनाओं सहित।

महेन्द्र प्रताप

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते,
निघर्षणच्छेदन-तापताडनैः;
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते,
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।

त्याग, शील, गुण और कर्म,—ये हैं चार कसौटियां जिन पर प्रत्येक महापुरुष की परीक्षा की जाती है। साधारणत: जिन महापुरुषों के हम बहुत निकट सम्पर्क में रहते हैं उनके गुणों की माप हम पूरे तौर पर नहीं कर पाते। मनुष्य-प्रकृति प्राय: त्रुटियों की ओर अधिक आकर्षित होती है और गुणों को कम देखती है। शताब्दियों के बाद फिर मनुष्य इस निर्णय पर पहुँचता है कि कौन सा पुरुष महापुरुष कहने योग्य है।

आज यही हालत हमारे वर्तमान महापुरुषों के सम्बन्ध में भी है। जब तक हम किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करें तब तक हम वास्तविक रूप में उसकी महत्ता का अनुभव नहीं कर सकते।

हम इस समय अपने देश के,—विशेषत: अपने प्रांत के, महापुरुष माननीय सम्पूर्णानन्द जी की जयन्ती उनके साठ वर्षों के जीवन के समाप्त करने पर मना रहे हैं। ऐसे अवसर पर हमें इस बात पर विचार करना है कि जिन महापुरुष की हम जयन्ती मना रहे हैं उनमें क्या गुण हैं और उन गुणों से हम कितना लाभ उठा सकते हैं। यदि हम उपर्युक्त कसौटी पर इन महापुरुष को कसें तो हम निश्चय ही इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वे वर्तमान काल के उन व्यक्तियों में से हैं जो वास्तविक 'पुरुष' कहे जाने चाहिए। निकट आत्मीय होने के कारण मुझे उनके गुणों का वर्णन करने में थोड़ा सा संकोच होता है; परन्तु मेरी यह निश्चित धारणा है कि श्री सम्पूर्णानन्द जी इस युग के तपस्वी, जनसेवी, विद्वान तथा कर्मनिष्ठ महापुरुषों में से हैं। गत ३० वर्षों से उनके साथ कार्य करने के पश्चात् मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि वे हमारे प्रान्त के एक 'विद्वान देशभक्त' हैं, और संसार का कोई भी देश ऐसे महापुरुष पर गर्व कर सकता है।

विश्वम्भरदयालु त्रिपाठी

भारतीय वाङ्मय के देदीप्यमानरत्न माननीय श्री संपूर्णानन्द महोदय से कौन संस्कृत विद्यासेवी परिचित नहीं है ? माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी का संस्कृत साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत साहित्य स्वयं ही एक अद्भुत वस्तु है जिसके साथ सम्बन्ध होने से अनेक पाश्चात्य विद्वानों में भी अत्यन्त सरलता तथा सहृदयता उत्पन्न हो जाती है। माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी तो हमारे इसी पुण्य भूमि भारत के ही सुपुत्र तथा गंगा-यमुना की धाराओं से पवित्र इस उत्तर प्रदेश की काशीपुरी में ही एक हिन्दू सनातनी उच्च परिवार के कुल-तिलक हैं। इन पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ना सर्वथा नैसर्गिक ही है।

बी० एस-सी० परीक्षा पास करने के उपरांत संस्कृत के प्रति इनका सुपुप्त प्रेम सहसा उमड़ आया और संस्कृत सेवा की ओर रुचि बढ़ी। वैदिक साहित्य का इनका अध्ययन बहुत ही व्यापक है जिसका फल "पुरुष सूक्त भाष्य" के रूप में जनता के समक्ष वर्तमान है। वैदिक साहित्य के दृढ़तर व्यासंग का ही प्रत्यक्ष फल यह देखने में आता है कि माननीय श्री सम्पूर्णानंद जी जब संस्कृत में लेख लिखते हैं तब उनके लेखों में वैदिकी छटा की अनुपम शोभा संस्कृत प्रेमियों को अनुरक्त करती है। पुराणों का भी आपका अध्ययन विशाल है। दर्शन शास्त्रों के अध्ययन में भी आपने पर्याप्त परिश्रम किया है जिसका फल "चिद्विलास" के रूप में जनता के सम्मुख है। "चिद्विलास" ग्रन्थ का परिशीलन करने से कोई भी सहृदय व्यक्ति माननीय सम्पूर्णानंद जी को भारतीय दर्शन का सर्वोत्तम स्वतंत्र ग्रंथकर्ता बिना हिचक के कह सकेगा। माननीय सम्पूर्णानन्द जी पाश्चात्य दर्शन ग्रंथों में भी पूर्ण निष्णात होने के कारण प्राच्य पाश्चात्य उभय दर्शनों के आप तुलनात्मक लेखक और गंभीर विचारक हैं। तंत्र ग्रंथों में भी आपका ज्ञान विशाल है। "काश्मीरीय शैवागम ग्रंथावली" सारी की सारी आपने आत्मसात् कर ली है और उन आचार्यों के विचारों का आप पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा है।

संस्कृत में लिखना और बोलना आपके लिए एक साधारण-सी बात है। इसी संस्कृत साहित्य के प्रेम के कारण आपने अपने प्रांत में संस्कृत के विद्वानो की पर्याप्त आर्थिक वृद्धि की है तथा उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में अमूल्य सहायता की है। संस्कृत विद्या के अपूर्व प्रेम के फलस्वरूप ही आप अपने प्रांत मे विश्व का अद्भुत संस्कृत विश्वविद्यालय खोलने का प्रयत्न मनोयोग से कर रहे हैं।

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी की यह देन जगत में संस्कृत साहित्य की महत्ता और माननीय सम्पूर्णानंद जी के सुयश का विस्तार करेगी। मैं भगवान श्री विश्वनाथ से प्रार्थना करता हूं कि माननीय सम्पूर्णानंद जी चिरंजीवी रहें।

ना० शा० खिस्ते

प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस

आज अपने चिरसहचरित अनुपम प्रतिभाशाली नीति-विद्यारण्यविहारी निजदेशाभ्युदयव्रतधारी चिरन्तनमित्र शिक्षामन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में कुछ लिखने का अवसर पाकर उनके स्मृतनिष्कलाङ्क गुणगणचन्द्रकिरणों से विकसित मेरा मनःकुमुद अत्यन्तानन्दसुधा बिन्दु से सिक्त हो रहा है।

प्रथम प्रथम मेरा और शिक्षा मन्त्री जी का साथ काशीस्थ लण्डन मिशन हाई स्कूल में हुआ।

आपके बुद्धिवैभव तथा प्रशंसनीय शिक्षा पद्धति के प्रभाव से वहां के अध्यापक तथा छात्रवृन्द इस प्रकार प्रसन्न रहते थे कि आप जिस किसी कार्य के लिये इङ्गित कर दें उसको हृदय से पूरा करते थे। आपकी गणितगता तथा इङ्गलिश की श्लाघनीय प्रशंसा सर्वत्र फैल गई थी।

मेरे नियत सहचर तथा शिष्य कल्प पं० रामाशा पाण्डेय जी व्याकरणाचार्य्य की इच्छा हुई कि मैं किसी योग्यतम अध्यापक से इंगलिश पढ़ूँ। तदनुसार मैंने अपने मित्र जी से पढ़ाने के लिए कहा और उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। तदनन्तर दोनों व्यक्तियों में परस्पर विनिमय रूप से संस्कृत और इङ्गलिश अभ्यास प्रारम्भ हुआ। शिक्षा मन्त्री जी ने अल्पकाल ही में संस्कृत भाषा में भी अपेक्षित योग्यता प्राप्त कर ली।

स्वराज्य आंदोलन के समय जब आप कारागार के अतिथि होते थे उसी समय आपको प्रगाढ़ बुद्धिगम्य विषयों के लिखने का अवसर प्राप्त होता था।

अपने लेखोपयोगी पुस्तकों को मित्रों द्वारा मंगाया करते थे। मैंने भी उनके मंगाये हुए उपनिषद्, वेद, दर्शन आदि के गम्भीर बुद्धिगम्य पुस्तकों को भेजा। परन्तु मेरे मन में विचार उदित हुआ कि इन विद्वत्तापूर्ण कठिन ग्रन्थों को वे कैसे समझ सकेंगे। क्योंकि संस्कृत के उच्चकोटि के ग्रन्थों को बड़े बड़े विद्वान् भी समझने में असमर्थ होते हैं।

किन्तु जब मैंने इन के निर्मित अद्भुततर्कपूर्ण विद्वत्तालंकृत चिद्विलास आदि का अवलोकन किया तो चकित हो गया कि ऐसी संस्कृत साहित्ययोग्यता इन में कहा से आई। दत्तावधान होने पर मुझे यही प्रतीत हुआ कि प्राक्तनजन्माभ्यस्त शास्त्र जन्य दृढ़ संस्कारज शक्ति का ही यह परिणाम है। पुन: काशी में भूतपूर्व अखिल भारतवर्ष संस्कृत साहित्य सम्मेलन में मन्त्री जी का स्वयं निबद्ध रमणीय शब्दालङ्कार गुणालंकृत कतिपय सौन्दर्याधायक व्याकरणत्रुटिविलक्षित संस्कृतवाङ्मय स्वागताध्यक्ष का भाषण जब मैंने पढ़ा तो भाष्योक्तपतञ्जलि का यह वाक्य मुझे स्मृत हुआ कि 'शिष्टज्ञानार्था अष्टाध्यायी। कथंपुनरष्टाध्याय्या शिष्टा: शक्याविज्ञातुम्। अष्टाध्यायीमधीयानो ऽन्यंपश्यत्यनधीयानं येऽत्रविहिता: शब्दा: तान् प्रयुञ्जानम्। सपश्यति नूनमस्य दैवानुग्रह: स्व भावो वा योऽयं नचाष्टाध्यायीमधीते। येचास्यां निहिता: शब्दा: तांश्च प्रयुङ्क्ते इति। नूनमन्यानपि जानाति' इति, अर्थात् जो व्याकरण पढ़ा हुआ है वह यदि किसी व्याकरण के न पढ़ने पर भी शुद्ध संस्कृत में भाषण करते हुए को देखे तो उसको यही निश्चित होगा कि व्याकरण न पढ़ने पर भी शुद्ध संस्कृत में भाषण की शक्ति इसको किसी देवता की कृपा से मिली है, या प्राक्तनजन्म में संस्कृताध्ययनज संस्कार से। ऐसे ही मेरे मित्र शिक्षा मन्त्री जी हैं।

दूसरी बात यह भी तर्क में आई कि हमारे मन्त्री महोदय योगाभ्यासी भी हैं। योगियों में यह स्वभावज शक्ति आ जाती है कि जो वह जानना चाहेगा उस को अनायास जान लेगा। पतञ्जलि ने योग दर्शन में कहा है कि "कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपस:" इति।

काशी विश्वेश्वर से प्रार्थना है कि मेरे मित्र शिक्षा मन्त्री जी उत्तरोत्तर देश की उन्नति करते हुये सौभाग्यारोग्यसुयश: सम्पन्न हों।

सभापति उपाध्याय
अध्यक्ष, बिरला संस्कृत कालेज, बनारस

सम्पूर्णानन्द एक अध्ययन

श्री बालकृष्ण शर्मा

श्री सम्पूर्णानन्द जी के सम्बन्ध में लिखते समय मैं जो कठिनता अनुभव कर रहा हूं, वह है मेरी उनकी जीवनी के विषय में अज्ञान और उन्हें वास्तविक रूप में समझ सकने की कदाचित् मेरी अक्षमता। वे मेरे समकालीन अग्रजन्मा हैं और प्रांतीय राजनैतिक जीवन के गण्य मान्यनेता। मैंने जो कहा है कि मैं उन्हें यथार्थ रूप में समझ सकने में संभवतः अक्षम हूं, तो इसका कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व राजनीति में उलझा हुआ है और मैं राजनीतिक पक्षपात से कदाचित् इतना प्रभावित हो गया हूं कि उनके व्यक्तित्व का समुचित एवं निष्पक्ष मूल्यांकन करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूं। यह बात तो सर्व विदित सी है कि प्रांतीय राजनीतिक गति विधि में मैंने अपने को सर्व भावेन उनके संग नहीं पाया, उनकी राजनीतिक रीति नीति को अंगीकार नहीं कर सका और कांग्रेस संगठनं के भीतर जिस समूह–बन्दी का समावेश हुआ उसमें मैं और वे एक दूसरे से जैसे कुछ विलग हो गए। मेरे ऊपर कुछ प्रभाव पड़ा। मेरे मनमें कुछ पक्षपात समाविष्ट हुआ। अतः कारणात् कदाचित मेरा स्पष्ट दर्शन–सामर्थ्य कुछ धूमिल पड़ गया है। इसीलिये मैं उनके सम्बन्ध में कुछ लिखने में हिचकिचाहट अनुभव कर रहा हूं। पर इस बात को तो कोई भी जन अस्वीकृत नहीं कर सकता है कि सम्पूर्णानन्द जी हमारे प्रतिभावान् एवं गण्यमान समकालीन व्यक्तियों में हैं, और जब आज मुझे यह अवसर मिल रहा है कि मैं उनके प्रति अपने आदरपूर्ण मनोभावों को व्यक्त करूं तो मैं अपने को इस प्रशस्ति कार्य से क्यों वंचित करूं? हां, पाठकों से एक प्रार्थना है। इन पंक्तियों में यदि उन्हें कोई ऐसी बात मिले जिससे सम्पूर्णानन्द जी के प्रति अवज्ञा झलकती दिखाई पड़े तो उस बात को पाठक मेरा पक्षपातपूर्ण अंकन मानलें और मुझे यह समझकर वे क्षमा करदें कि अन्ततः मैं द्विपद द्विभुज माटी का मानव अपने निज के पक्षपातों से एवं राजनीतिक घटनाजन्य धूमिल प्रभावों से ऊपर नहीं उठ सका हूं।

पाठक यह जानने को उत्सुक होंगे कि मैं सम्पूर्णानन्द जी को कब से जानता हूं और उन्हें यह जानकर आश्चर्य चकित न होना चाहिये कि सम्पूर्णानन्द जी का और मेरा परिचय प्रायः ३४ वर्ष पुराना है। यह बात तो सभी जानते हैं कि सम्पूर्णानन्द जी बहुत बड़े लेखक हैं। और उन्होंने न जाने कितने वर्ष पूर्व लेखक एवं ग्रन्थ लेखन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। मुझे इतना याद है कि एक लेखक के रूप में मैंने पत्र पत्रिकाओं द्वारा सम्पूर्णानन्द जी का परिचय कदाचित् सन् १९१४ या सन् १९१५ में प्राप्त किया था। उनके "राणा जंगबहादुर सिंह" और कदाचित् उससे भी पहले "भौतिक विज्ञान" नामक ग्रन्थ उस समय प्रकाश में आ चुके थे। पत्र पत्रिकाओं में भी वे निरन्तर लिखते रहते थे। इस प्रकार बहुत दूर से उनसे और बन्धुवर बनारसी दास जी चतुर्वेदी से मेरा परिचय हुआ, क्षेपक रूप में यह बात भी कहदूं कि उन दिनों पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी पगिया बांधा करते थे और आज कदाचित् उनके पुत्रों के लिये भी उनकी उस पागवाली छवि का स्मरण–दर्शन कर सकना सम्भव न हो। हां तो गत चौंतीस पैंतीस वर्षों से मैं सम्पूर्णानन्द जी को जानता हूं। एक लेखक के रूप में उन्होंने मेरे युवक मन पर गम्भीर अध्ययन शीलता, प्रसादगुण युक्त अभिव्यक्ति एवं

निशिता आलोचनाशक्ति का प्रभाव डाला। और मुझे इतने अनुभव के पश्चात् भी यह मानने में आनन्दानुभव होता है कि मेरे युवक मन ने ग्रन्थकार एवं लेखक के रूप में जिन मनस्वी सम्पूर्णानन्द को स्वीकार किया था आज मेरा प्रौढ़ मन भी उन्हें उसी रूपमें—निःसन्देह उससे भी अधिक उज्ज्वलतर, प्रखरतर, गम्भीरतर रूपमें—स्वीकार करता है। सम्पूर्णानन्द जी प्रकाण्ड पंडित हैं। वे हमारे विदग्ध सेनानी हैं। वे निष्ठावान देशभक्त एवं क्रांतिशील जन सेवक हैं। वे उच्चकोटि के विचारक हैं। उनका जीवन साधनारत है। नियमन एवं संयम उनके जीवन की विशेषताएँ हैं। वे वत्सल पिता एवं अग्रज हैं। भारतवर्ष के गिने चुने विद्वज्जनों की श्रेणी में उनका विशिष्ट स्थान है।

सम्पूर्णानन्द जी का और मेरा प्रथम साक्षात्कार सन् १९२१ ईस्वी में लखनऊ जिला जेल में हुआ। वहाँ मैं एक बाड़े (Barrack) में बंधता था। सम्पूर्णानन्द जी उसी से लगे हुए दूसरे में थे। वहां काशी के और भी मित्र थे। उनमें स्वर्गीय भाई सत्यदेव नारायण साही भी थे। एक बार मैं अपने बाड़े की ऊंची भीत लांघकर सम्पूर्णानन्द जी वाले बाड़े में जा धमका। वहाँ साही से मिला और वहीं सम्पूर्णानन्द जी के भी दर्शन किये। उस समय भी उनका वेश वही था जो आजकल है। ऐसे ही झबरे झबरे बाल, मस्तक पर वही शक्ति-उपासना-सूचक चन्दन-कुंकुम-मिश्रित बिन्दी, ऐसा ही कुर्ता, ऐसी ही धोती, हाथ में पोथी लिये, डूबे हुए ज्योतित नेत्र, भव्य ललाट, कृष्णवर्ण, गति-मती वाग्धारा, वैसे ही सम्पूर्णानन्द जैसे आज हैं। हां उस समय आज का स्थौल्य उनकी देह पर नहीं था। वे उस समय भरपूर यौवन में थे। आज उन्हें किंचित वार्धक्य—स्थूलता ने आन घेरा है।

और उसके बाद तो वर्षों से उन्हें निकट से देखने का अवसर मिलता रहा है। मैंने गान्धीवादी सम्पूर्णानन्द को देखा और साम्यवादी सम्पूर्णानन्द को अवलोका। मैंने विचारक सम्पूर्णानन्द को देखा और मैंने कर्मठ सम्पूर्णानन्द को देखा। मैंने विवाहित सम्पूर्णानन्द को देखा और मैंने विधुर सम्पूर्णानन्द को देखा। क्या मैं एक बात कहूं? वे धीर पुरुष हैं। वे अदीन हैं। निःसंशभावेन उनके राजनीतिक कार्यों का समारंभ कहा तक होता है, यह कहना मेरे लिये कठिन है। पर, मैं इतना जानता हू कि अपने योग क्षेम के निर्वाह में सम्पूर्णानन्द जी कभी विचलित नहीं हुए, कभी डिगे नहीं और योग-क्षेम की चिन्ता ने उन्हें कभी मार्ग च्युत नहीं किया। सम्पूर्णानन्द जी के स्वरूप को कुछ समझने में एक घटना ने मुझे बड़ी सहायता दी, कुछ हलका-सा जाड़ा पड़ रहा था। मैं काशी गया। वहाँ विद्यापीठ में सम्पूर्णानन्द जी की कृपा से कुछ मित्र गण मेरी कविता सुनने के लिये एकत्रित हो गये। काशी के साहित्य-स्रष्टा महानुभाव भी वहाँ थे। उनमें सम्पूर्णानन्द जी के ज्येष्ठ पुत्र आयुष्मान् सर्वदानन्द भी थे। बीच में चिरंजीवी सर्वदानन्द ने अपने पिता पर एक कविता सुनाई, वह हृदय ग्राही रचना थी। मैंने नए प्रकाश में आँखें खोलने वाले वर्तमान श्रद्धा-विरहित शिक्षा से प्रभावित हुए, इस आस्था शून्य युग में पले हुए युवक सर्वदानन्द को जब अपने पिताजी की प्रशस्ति करते हुए सुना तो मेरा हृदय आनन्द मग्न हो गया और मेरी आंखें भी खुल गयीं। जो व्यक्ति अपने पुत्र में इस प्रकार के श्रद्धाभावों का संचार कर सकता है उसमें कुछ न कुछ ऐसी ऊंची बात अवश्य होनी चाहिये जिसे हम दूर के लोग जिनकी दृष्टि धूमिल हो गई है और जिनके लोचनों में राजनीतिक समूह-बन्दी का मांड़ा पड़ गया हो, देख नहीं पा रहे हैं। और इस एक छोटी सी घटना के उपरान्त मैंने सम्पूर्णानन्द जी को दूसरे प्रकार से देखना सीखा। मानव केवल राजनीति ही नहीं है। वह साहित्य है। वह दर्शन है। वह गृहस्थाश्रम है। वह भिन्न भिन्न भावनाओं का समुच्चय है। राजनीतिक सम्पूर्णानन्द अपने से विरुद्धमत वालों के हृदय में भले ही एक प्रकार के विरोध का और तज्जन्य पक्षपात का और तत्-पक्षपात-जनित-मानव-अध्ययन-असामर्थ्य का आविर्भाव करते हों किन्तु

उनके या किसी अन्य के भी व्यक्तित्व का उत्तोलन केवल मात्र राजनीतिक तुला पर करना उचित नहीं है। व्यक्तियों को समझने की मेरी अपनी एक विधि है, व्यक्तित्व निरीक्षण की मेरी अपनी एक दृष्टि है। उस दृष्टि से जब मैं देखता हूं तो कह सकता हूं कि सम्पूर्णानन्द जी एक ऊंचे मानव हैं। उनकी विद्वत्ता, उनकी बुद्धि प्रखरता एवं उनकी विवेक शीलता के प्रति मैं आदर-विनत हूं।

मैं कह आया हूं कि मानव केवल राजनीति ही नहीं है। परन्तु केवल राजनीतिक दृष्टि से भी यदि हम सम्पूर्णानन्द को देखें तो हम यह कहने को विवश होंगे कि राजनीति में इस देश की तथा हमारे प्रान्त की राजनीति में सम्पूर्णानन्द जी का जो योगदान है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। उन्होंने भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम में अनवरत भाग लिया है। उन्होंने अपने जीवन को स्वतंत्रता की वेदी पर निवेदित करके देश के पुनरुत्थान में जो सहायता प्रदान की है उससे हम सब परिचित हैं। मैं जानता हूं कि उन्होंने कितने कितने कष्ट सहे हैं। नि:साधन निष्किंचन निरवलम्ब सम्पूर्णानन्द ने कभी भी अपनी पगडन्डी नहीं छोड़ी, वे बराबर चलते गये, आज भी अपने प्रकाश में वे मार्ग-क्रमण कर रहे हैं। मुझ जैसे नगण्य, प्रभाव-शून्य अयोग्य किन्तु निष्ठावान् जन सेवक को उनसे मत भेद हो सकता है। पर इससे क्या ? क्या इस मतभेद से प्रभावित होकर मैं यह भूल जाऊं कि सम्पूर्णानन्द हमारे राजनीतिक जीवन के निर्माताओं में अग्रगण्य हैं ? यदि मैं यह भूल जाऊं तो मैं अपने विवेकशील स्वभाव के प्रति अन्याय करूंगा।

हिन्दी साहित्य का दर्शन विभाग सम्पूर्णानन्द जी के कारण श्रीमत् हुआ है। पूजाई पंडित प्रवर डाक्टर भगवानदास, प्रोफेसर बलदेव प्रसाद उपाध्याय, सम्पूर्णानन्द ऐसे कुछ ही व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंदी के दर्शन साहित्य की सृष्टि में योगदान दिया है। सम्पूर्णानन्द जी उन विद्वानों में है जिन्होंने हमारे प्राचीन दर्शन की शब्दावलियों को उनके वास्तविक अर्थ में समझने का प्रयास किया है। प्राण, दिक्, काल, आकाश, अग्नि, वायु, आदि शब्दों का जो रूढ़ अर्थ हम करते आए हैं उससे हमारे दर्शनों का तत्व ठीक प्रकार से हम हृदयंगम नहीं कर पा रहे है। सम्पूर्णानन्द जी के प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने हमारे पुरातन दर्शन शब्द-समूह को नए प्रकार से समझने एवं समझाने का प्रयास किया है। इस दिशा में उन्हें और भी बहुत कुछ करना है। सापेक्ष-वादके सिद्धांतो के आधार पर तथा वर्तमान भौतिक-शास्त्रके आधार पर हमें अपनी पुरातन शब्दावली का भाष्य करना है। इस कार्यको सम्पूर्णानन्द जी बहुत अच्छे प्रकार से कर सकते हैं। उनका नासदीय सूक्त का भाष्य हमारे साहित्य में ऊंचा स्थान रखता है। गणेश पूजा विषयक उनका ऐतिहासिक विवेचन सनातन धर्म के समय समय पर परिवर्तित होते रहने वाले स्वरूप को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। सम्पूर्णानन्द ब्रह्मवादी साम्यवादी हैं। अत: मैं उनसे आशा करता हूं कि वे यथार्थवादी साम्यवाद का समुचित, सैद्धांतिक, विज्ञान मूलक, तर्क समन्वित उत्तर ग्रंथ लिखने की कृपा करेंगे।

गत४२ के आंदोलन के दिनों में मुझे एक बार फिर सम्पूर्णानन्द जी के कारागार सहवासी होने का अवसर मिला। बरेली केन्द्रीय कारागार में रफी अहमद किदवई, पुरुषोत्तमदास टंडन, डाक्टर मुरारीलाल, डा० जवाहर लाल, स्वर्गीय रणजीत पंडित आदि अग्रज एव गुरुजन थे वहीं सम्पूर्णानन्द जी भी लाकर रख दिये गये। कई मास तक हम लोग एक साथ रहे। वहाँ मैंने सम्पूर्णानन्द जी की दैनिक जीवनचर्या देखी। मैं कह आया हूं कि सम्पूर्णानन्द जी के जीवन में बहुत नियमन एवं संयमहै। वे नित्य प्रति साढ़े तीन बजे प्रातःकाल उठतेहैं। बरेली जेल में कड़ाके का जाड़ा था। पर वे उठकर प्रात: कर्म से निवृत्त होकर स्नान करते और अपनी साधना में बैठ जाते। साढ़े छ: सात बजे तक वे ध्यान धारण करते, फिर उठकर थोड़ा सा जलपान करते और पढ़ने बैठ जाते।

बारह बजे मध्याह्न तक पढ़ते फिर भोजन करते, घंटे भर कदाचित विश्राम करते और फिर पढ़ने बैठ जाते। अपराह्न में चार पाँच बजे तक पढ़नेके उपराँत कुछ जलपान करते और फिर संध्या के छःसात बजे तक पढ़ते रहते। इस प्रकार मैंने देखा कि सम्पूर्णानन्द जी का जीवन संयत एवं नियमित है। वे बड़े परिश्रमशील हैं। और आप उनके आज के स्थूल रूप को देखकर यह न समझियेगा कि वे बड़े खाने वाले हैं। सम्पूर्णानन्द जी बहुत ही स्वल्पाहारी है। बहुत कम खाते हैं। हाँ खाने के शौकीन अवश्य हैं; पर खाते बहुत कम हैं। कई बार मैंने उनसे कहा कि वे अपने झबरे बाल कटा डालें। वे सुनकर हँस देते हैं। कदाचित् इन बालों का भी कोई रहस्य है। कदाचित् ये उनके बाल भी उनकी साधना का अंग है। जो भी हो, इन बालों से वे खासे अच्छे अवधूत लगते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तो बम्बई कलकत्ते के बहुत से पत्र उन्हें स्वामी सम्पूर्णानन्द लिखा करते थे। एक तो यों ही नामांत में आनंद, दूसरे जटावेश—स्वामी और किसे कहते हैं?

भगवान करें सम्पूर्णानन्द जी शतायु हों और हमारे बीच बहुत दिनों रहकर वे जन सेवा एवं साहित्य सेवा कार्य करते रहें। मैं उन्हें अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूं।

में हुआ। यहां प्राय: रोज़ या तो खाने की दावत या Reception "रिसेप्शन" होता है। इन मौकों पर एक से एक बढ़कर कीमती शराब की दौर चलती थी। कई हिन्दुस्तानी दोस्तों ने "मुफ्त की शराब काज़ी को भी हलाल है" वाली कहावत को पूर्ण रूप से चरितार्थ किया, पर प्रोफेसर साहब की उपस्थिति ने मुझे इस ओर नहीं बढ़ने दिया। सारी यूरोप और अमेरिका यात्रा में एक घटना ज़रूर हुई जिसमें बियर पीना पड़ा। एक बार रेलगाड़ी में सौ मील चलकर सरकस देखने गया। उसके बाद खाने की दावत थी। जब वहां पहुंचा तो क्या देखता हूं कि कई भट्टियां जली हैं और बड़े बड़े गोश्त के टुकड़े, कबाब, सेंके जा रहे हैं। हम लोगों ने पूछा यह क्या है, मालूम पड़ा कि बीफ (बैल का गोश्त) है। अमेरिका में यह बहुत खाया जाता है। हम हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियों ने कहा कि हम तो नहीं खायेंगे। जो साहब प्रबन्ध कर रहे थे, सामने आये और बोले "मुझे दुःख है कि मुझे पहले से नहीं मालूम था कि आप लोग शाकाहारी हैं।" मैंने कहा कि "मैं शाकाहारी नहीं हूं पर हमारे यहां बैल का गोश्त नहीं खाते।" मैं बयान नहीं कर सकता कि वे कितना आश्चर्यचकित हुए। बहुत समझाने पर भी उनकी समझ में नहीं आया कि यह कैसे मांसाहारी हैं कि गोश्त खाते हैं पर बैल का गोश्त नहीं खाते। खैर बैल का गोश्त खाए बिना तो काम चल गया। पर प्यास से बुरा हाल था। दो तीन नल चल रहे थे, उसमें दूध की तरह सफेद पानी जैसा कुछ निकल रहा था। लोगों ने कहा कि वहां जाकर गिलास में भरकर दूध पियो और प्यास बुझाओ सबने उसे पिया—मेरा प्यास से बुरा हाल था और एक सांस में पूरा गिलास साफ कर गया। यह तो मैं झूठ नहीं कहूंगा कि मुझे आखिर तक दूध का धोखा रहा। पहले घूंट में पता चल गया कि चाहे यह जो कुछ हो, दूध नहीं है। पर उसी समय ख्याल आया कि भूख में किसी जमाने में विश्वामित्र ने कुत्ते का गोश्त खाया था। अपने महापुरुषों के कदम पर चलना तो अपना धर्म होता है यह ध्यान करके मैंने गिलास खत्म करने में कोताही नहीं की और भी जितने प्रतिनिधि थे जिनमें कुछ लोग कट्टर वैष्णव थे, उन्होंने भी इस कीमती दूध को छोड़ना अनुचित समझा। अकेले बिचारे प्रोफेसर साहब निश्चिन्त भाव से बैठे हुए लोगों से बातें करते रहे। पता नहीं कि असली पानी का दर्शन उन्हें कब हुआ। ऐसे ही एक बार और तमाशा हुआ। फ्रांस प्रतिनिधिमण्डल ने रिसेप्शन दिया था। इसके पहले ऐसे मौकों पर शराब के अलावा एक प्रकार का फलों का रस भी रहा करता था, पर फ्रांस की ओर से दावत हो और वहां पानी या नकली शरबत रखा जाय, यह तो उस देश की शान पर बट्टा लगाने वाली बात थी। अस्तु, वहाँ फ्रांस की अच्छी से अच्छी शराब थी। सूखे मुंह बिचारे प्रोफेसर साहब को और उनके साथ उनके शिष्य राम को भी लौटना पड़ा।

एक और घटना की याद आ गई जिससे प्रोफेसर साहब के दृढ़ विचार का पता चलता है। इङ्गलैंड के एक प्रतिनिधि मण्डल ने एक रोज़ दावत दी, जिसमें उपनिवेशों के समस्त प्रतिनिधि बुलाए गये थे। उस मौके पर एक रस्म यह थी कि खड़े होकर शराब का गिलास मुंह में लगाकर बादशाह सलामत के प्रति भक्ति प्रकट की जाय और उनके ही दीर्घायु की कामना की जाय। सब ने गिलास मुंह में लगाया। जो शराब नहीं पीते थे, उन्होंने खाली गिलास ही मुंह में डाला, पर समूची मण्डली में यह अकेले थे जो ज्यों के त्यों अपने स्थान पर विराजमान रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन में भाषण तो एक दो नहीं सौ से ऊपर हुए, पर जिस रोज़ आपका भाषण हुआ उस दिन खास उपस्थिति थी। स्वतन्त्र भारत का यह पहला प्रतिनिधि मण्डल था और इसलिए भी हैसियत से जो भाषण प्रोफेसर साहब ने दिया उससे आपकी विद्वता, पाण्डित्य और ज्ञान की गहरी छाप समस्त प्रतिनिधियों पर पड़ी। इसके पहले भारतवर्ष की परिस्थितियों के सम्बन्ध में इतने बड़े सम्मेलन में किसी व्यक्ति ने ऐसा सारगर्भित भाषण नहीं दिया था।

शिक्षा और श्री सम्पूर्णानन्द

बाबा राघवदास एम० एल० ए०

मनुष्य जीवन में पांच चीजें अत्यन्त आवश्यक होती हैं, अन्न, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा। इन पांचों में शिक्षा का विशेष प्राधान्य है। मनुष्य तथा पशुओं में फरक डालने वाली यही तो शिक्षा है। अन्न, वस्त्र, आश्रय तथा स्वास्थ का प्राप्त करना, उनकी रक्षा करना इसमें शिक्षा ही साधन है।

भारतीय इतिहास में शिक्षा को अमूल्य माना है, उसको फीस देकर खरीदा नहीं जा सकता। वह तो जीवन को बनाने वाली है, नर से नारायण बनाने की क्षमता रखने वाली है, इसलिए उसके दाता को हमने भगवान के बराबरी के दर्जा में रखा "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु। गुरु: साक्षाद् परब्रह्म" इससे अधिक शिक्षा-ज्ञान दाता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना असम्भव है।

शिक्षा का जो स्वरूप हमारे शिक्षा शास्त्रज्ञोंने हमारे सामने रखा, वह था कम से कम दूसरो से लेना और अधिक से अधिक दुसरों को देना। हमारे ऋषि मुनि, सन्त, महात्माओं ने कम से कम दुसरों से लिया और अधिक से अधिक दुसरों को दिया। वसिष्ठ तथा सन्दीपनी ऐसे महर्षियों के चरणों में बैठकर राम लक्ष्मण भरत, बलराम, श्रीकृष्ण ऐसे राजकुमारों ने अपने गुरुदेवों को बड़ी बड़ी जागीरें नहीं दी। उनकी सेवा लकड़ी काट कर आदि कामों से की। क्योंकि ये शिक्षा-शास्त्रज्ञ, भौतिक वैभव से प्रसन्न होने वाले नहीं थे। वे ये भाव के भूखे। नाना पुराण निगमागम आदि का आलोकन कर श्री रामचरित मानस लिखने वाले श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का सत्कार हमने नोबल पुरस्कार देकर नहीं किया था, पर किया था अपना हृदय उनको भेंट कर। हमारे शिक्षाशास्त्रियों ने अपरिग्रह का पाठ पढ़ाया था। हमारे आश्रम व्यवस्था का मूल भी इसी में था कि पैसों से कम, पर कर्मण्यता से अधिक काम लिया जाय।

आज महात्मा गांधी ने नयी तालीम में जो कार्य द्वारा शिक्षा देने का जो क्रम हमारे सामने रखा इसमें भी यही भाव है।

हमारी शिक्षा हमारे जीवन से संबंधित न हो तो शिक्षा कैसी? शिक्षा प्राप्ति के बाद स्वावलम्बन, अपने पैरों पर खड़े होने की वृत्ति मन में न आई तो शिक्षा कैसी?

आज जो शिक्षा के बाद नौकरी की माँग है वह हमारे शिक्षा का स्वरूप हमारे सामने ला रखती है विदेशी हुकूमत यही चाहती थी कि हम शिक्षा की प्राप्ति के बाद स्वावलम्बी नबन कर परावलम्बी बने। इसी लिए स्वतंत्र भारत में शिक्षा का स्वरूप कुछ और ही होगा।

इसी दृष्टि से हमारे शिक्षा शास्त्री सोच रहे हैं। यह प्रसन्नता की बात है। हमारे माननीय श्री सम्पूर्णा नन्द जी ने शिक्षा के जो विभिन्न प्रयोग आरम्भ कर दिये हैं उसके मूल मेंभी यही भावना है। समय परिवर्तन के साथ कार्यक्रम में परिवर्तन स्वाभाविक है। भारतीय स्वतंत्रता की रक्षा में सहायक शिक्षा का, उत्तरदायित्व अनुभकराने वाली शिक्षा का कार्यक्रम ही हमारी स्वतंत्रता के लिए सहायक हो सकता है।

राजमंत्री, और विद्वान् भी !

साहित्य-वाचस्पति श्री वियोगी हरि

एक बार एक प्रसंग पर मेरे मित्र श्री श्रीप्रकाश जी ने कहा था, "हमारे देश में लोक नेता और राज नेता प्राय: विद्वान नहीं हुआ करते। अपवादस्वरूप नेताओं में विद्वान् बहुत थोड़े हुए हैं, मेरे अपने प्रान्त में जैसे अपवादस्वरूप राजनेताओं में श्री सम्पूर्णानन्द और श्री नरेन्द्रदेव के नाम मैं बड़े आदरभाव के साथ लिया करता हूं।'

बात बिल्कुल सही है। केन्द्रीय और प्रांतीय धारासभाओं तथा विधान परिषद् की पंचमेली रचना को देख कर श्री श्रीप्रकाश जी के उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है, जनता के अधिकांश प्रतिनिधि वहां ऐसे ही पहुंचे हैं, जिनका विद्वता से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, और वे हो हमारे देश के भाग्य-विधाता बने हुए हैं। अन्य शास्त्रों का परिचय जाने भी दें, राजनीति-विज्ञान में भी हमारे कितने लोक-नेताओं का आज साधिकार प्रवेश है? यही कारण है कि उनके किए हुए निर्णयों में ऊँचे और गंभीर ज्ञान का परिचय नहीं मिलता।

कहा जा सकता है कि श्री सम्पूर्णानन्दजी मूलत: विद्याव्यसनी जीव हैं, उनका राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश तो एक संयोग की घटना है। संभवत: यह सही है। पर इससे राजनीति और शासन के क्षेत्र में उन्हें जो सफलता मिली है उसका मूल्य कम नहीं आंका जा सकता। पर मुझे तो सम्पूर्णानन्दजी की शास्त्रीय विद्वत्ता पर ही यहां श्रद्धांजलिस्वरूप दस-पांच पंक्तियां लिखनी हैं।

श्री सम्पूर्णानन्द जी के अनेक गवेषणापूर्ण निबंध मैं पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा करता था, पूनावाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से उन्होंने जो विद्वतापूर्ण भाषण किया था, उसे भी मैंने बड़े ध्यान से पढ़ा था। उनके गहरे शास्त्रीय अध्ययन और सुलझी हुई परिमार्जित लेखन-शैली की मेरे हृदय पर एक विशेष छाप है, पर जब मैंने 'आर्यो का आदि देश' 'गणेश' और 'चिद्विलास' नामक उनके अनुपम ग्रंथ देखे तो मैं उनकी गंभीर विद्वत्ता पर मुग्ध हो गया। स्वतन्त्र वैज्ञानिक पद्धति से वेदान्त-तत्वों का उन्होंने जिस सूक्ष्मता और गंभीरता से व्याख्यान, विश्लेषण और विवेचन किया है वह उनकी अपनी विशेषता है। पढ़कर आश्चर्य हुआ कि राजनीतिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी संपूर्णानन्दजी ऐसे-ऐसे गंभीर विषयों पर लिखने के लिए आखिर कैसे और कहाँ से समय निकाल लेते हैं। और कभी तो यह भी मनमें आता है कि ऐसे ऐसे ऊँचे विद्वान् क्यों राज-नीति के जाल में जा फंसे हैं, उन्हें तो उच्चकोटि का साहित्य निर्माण ही करना चाहिए था। राजमन्त्री बनने के लिए तो और भी कई छोटे-बड़े नेता तलाशने पर मिल सकते हैं। हो सकता है कि इस प्रकार सोचने का कारण उच्च साहित्य-निर्माण के प्रति हमारा अति मोह हो किन्तु ऐसा मोह या स्वार्थ बुरा नहीं है। अद्वितीय ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा से स्व० श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक बार कहा था—"वर्माजी, मन होता है कि तुम्हारी यह वकालत की सनद फाड़ कर फेंक दूँ, जिससे कि तुम वकील का वाहियात पेशा छोड़कर साहित्य निर्माण के ऊँचे कार्य में लग जाओ।"

हाँ, इस बात से हम जरूर अपने मन को तसल्ली दे सकते हैं कि संपूर्णानन्दजी जैसे विद्वानों के राजनेता बने रहने और मन्त्रिपद पर आसीन रहने से उम्मेदवार और पेशेवर नेताओं तथा मंत्रियों को एक यह पदार्थ-पाठ मिलता रहेगा कि जलसों और धारा-सभाओं में धुंआँधार व्याख्यान देने के अलावा राजनीतिक और साहित्यिक पण्डित भी अपेक्षित हैं।

शिक्षा मन्त्री के पद से साक्षरताप्रचार के क्षेत्र में श्री संपूर्णानन्दजी ने जो कार्य किया है उसका मूल्य कम नहीं आँका जायगा। राष्ट्रभाषा हिन्दी और भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक होने के नाते हमारी आशा और विश्वास है कि उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी को शीघ्रसे शीघ्र श्री संपूर्णानन्द जी अपदस्थ कर हिन्दी को उसका प्रकृति सिद्ध स्थान दिलाने में कुछ उठा नहीं रखेंगे।

आनन्दोदय

श्री रामाज्ञा पाण्डेय

हिन्दी साहित्य सेवियों को प्राय: नहीं ज्ञात होगा कि काशी में एक असाधारण महापुरुष हो गये हैं। जिनकी शिष्य प्रशिष्य परम्परा से भारत ओत प्रोत है। उनका नाम था बाल शास्त्री रानडे उनके प्रमाण पत्र में लिखा गया था—

वेदे-तैत्तिरीयसंहितां, व्याकरणे अष्टाध्यायीं, सिद्धान्त कौमुदीं भूषणसार परम लघुमंजूषे, परिभाषेन्दुशेखरं, कारकपर्यन्तं, लघु शब्देन्दुशेखरं नवाह्निक पर्यन्त, महाभाष्यम् न्याय शास्त्रे, न्यायसिद्धांत मुक्तावल्या:, प्रत्यक्ष खण्डं, व्युत्पत्तिवादशक्तिवादयोर्द्वित्राणि, पत्राण्य, धीत्यान्तर्वाणि:, समजः।

अर्थात् वेदों में तैत्तिरीय संहिता, व्याकरण में अष्टाध्यायी, सिद्धान्त कौमुदी, भूषणसार परम लघुमंजूषा परिभाषेन्दु शेखर कारक पर्यन्त लघु शब्देन्दु शेखर नवाह्निक पर्यन्त महाभाष्य। न्याय में न्याय सिद्धांत मुक्तावली का प्रत्यक्ष खण्ड और व्युत्पत्तिवाद और शक्तिवाद के दो तीन पत्र पढ़कर पण्डित हो गये।

वही घटना अथवा उससे भी न्यूनतर श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में हुई।

१६११ ई० में मैंने इनसे अंग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ की और इन्होंने प्रारम्भ की संस्कृत। जहाँ तक मुझको स्मरण है सम्पूर्ण लघु कौमुदी समाप्त भी नहीं हुई कि हम लोगों का साथ छूट गया। इसमें लगे तीन वर्ष। उसमें भी लगभग संध्या ६ से ६ तक तो समय हम लोगों का पढ़ने में ही व्यतीत होता था।

पुस्तक निमित्त मात्र थी। पढ़ाई लिखाई का क्षेत्र विस्तृत न था। मैं जितना बड़ा अंग्रेज़ी का विद्वान् हुआ यह तो प्राय: सभी मित्र जानते हैं। मुझसे कोई पूछता था कि तुमने "इंगलिश कितनी पढ़ी है तो मैं यही उत्तर देता था कि मैट्रिक से कम और बी० ए० से अधिक। इसका तात्पर्य यह था कि डा० ए० वेनिस का लेक्चर तो हम एम० ए० वालों के साथ साथ समझ लेते थे परन्तु लिखने में मैट्रिक वालों से भी बुरा लिखते थे। इसलिये डाक्टर वेनिस के यहाँ उत्तर लिखने में हमको स्वतन्त्रता दे दी गई थी कि चाहे जिस भाषा में लिखो।

परन्तु श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी योग्यता कितनी बढ़ाई इसका हमको पूर्ण ज्ञान नहीं था। उन्होंने संस्कृत साहित्य सम्मेलन में जो अभी अभिभाषण किया उसको देखकर मैं तथा म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते जी भी चकित हो गये। उनको कहना पड़ा कि बड़े बड़े आचार्य ऐसा लेख नहीं लिख सकते।

यहाँ तक वह कह बैठे कि ऐसी लेखन शैली तुम्हारी भी नहीं हो सकती। हमने कहा कि आप भी तो हमारे ही साथी हैं। अस्तु। उस अभिभाषण में कुछ ऐसे शब्द हैं जो वैदिक साहित्य में ही प्रयुक्त होते हैं। इससे भी लेखक की महत्ता ही सूचित होती है। एक महाशय ने हमसे कहा कि श्री सम्पूर्णानन्द जी ने पुनीत शब्द का प्रयोग एक पुस्तक समर्पण पत्र के लेख के संस्कृत श्लोक में,किया है। हमने उनसे कहाकि–यदि कोश में उस शब्द का प्रयोग नहीं है तो कोशकार ही की त्रुटि है क्योंकि कोशकार को चाहिए था कि वह संस्कृत साहित्य के शब्दों का कोश बना रहे हैं तो श्रीमद्भागवत ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ में आए हुए पुनीत शब्द को

अवश्य लिखें। (श्री भागवत ८ स्कन्ध १८ अ० ३१ श्लोक 'तथा पुनीतास्तनुभिः पदैस्तव') श्री सम्पूर्णानन्द जी तो वैयाकरण नहीं हैं कि किसी धातु से प्रत्यय लगाकर शब्द का प्रयोग करेंगे।

उन्होंने तो जितने ग्रन्थ पढ़े हैं उनमे जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उन्हीं का प्रयोग उन्होंने स्वरचित ग्रन्थ में किया है।

जिस समय यह व्याकरण तथा संस्कृत साहित्य पढ़ रहे थे उस समय भी उनकी यही प्रकृति थी कि सम्पूर्ण विषय इनके समक्ष कहना ही नहीं पड़ता था। वह यही कहते कि हमने समझ लिया। अब आगे चलिये।

अब भी जो लोग इनके सम्पर्क में आये हैं इन लोगों को यह व्यवस्था ज्ञात ही है। इसलिए इनको धन्यवाद देना चाहिये कि इनसे जो वार्तालाप करते हैं उनका तथा अपना भी समय यह बचा लेते हैं। क्योंकि यह बुद्धिमानों के साथ सूत्र ही में बातचीत करते हैं। कम से कम सुनना तो यह सूत्र ही में चाहते हैं। व्याख्यान के समय इनको भाष्य की पद्धति ग्रहण करनी पड़ती है।

इस समय हमारे पास जो इनके ग्रन्थ हैं जिनको कि हमने देखा है, उससे यही ज्ञात होता है कि इनकी प्रतिभा प्राकृतिक नहीं हैं किन्तु यौगिक है। साधना ही उस प्रतिभा की महत्ता का कारण है।

पहले पुरुष सूक्त को आप ले जिसको कि उन्होंने श्रुतिप्रभा टीका से भूषित कर मुद्रित किया है। पुरुष सूक्त और चिद्विलास तो पंजरबद्ध शुकदेव का लेख है। उस समय में लेखक का शरीर तो बद्ध था परन्तु वह तो स्वतन्त्र था इसलिये उसकी लेखनी से जो ज्ञान स्वरित हुआ वह निर्मल तथा स्वतन्त्र था "न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" का ही साम्राज्य लेखों में प्रवाहित हो रहा है। यदि पण्डित मण्डली इन लेखों को पढ़ेगी और मनन करेगी तो आशा है कि परतन्त्र युग की रूढ़ि तथा मिथ्या ज्ञान अवश्य दूर हो जायंगे और निर्भीकता के साथ वे लोग अपने विचार की छाप दूसरों पर डाल सकेंगे। इतना अवश्य ध्यान देना होगा कि जो हृदय में भाव विकसित हो उसी को हम लिखें चाहे वह विषय कुछ लोगों को न भी रुचे तो भी उससे हम मुख न मोड़ें।

अस्तु, यहाँ हम समालोचना करना नहीं चाहते। हमको तो संसार के सामने रख देना है कि इन ग्रन्थों के लेखक के विचार को पढ़ें और इसी मनोवृत्ति से पढ़कर हृदय के भावों को जनता के समक्ष उपस्थापित करें।

'आर्यों का आदि देश' के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि आपने वेदों का अध्ययन अत्यन्त मनोयोग से किया है। आपसे हमने पूछा कि क्या आपने वेदों का अध्ययन कई बार किया था? उस पर इन्होंने 'ओम्' यही उत्तर दिया। वेदों का अध्ययन का अर्थ उनके भाष्य से भी है। बिना भाष्य के अध्ययन से उसकी समालोचना किस प्रकार की जा सकती है।

आपने जो पाश्चात्य दर्शनों का अध्ययन किया, उससे पौरस्त्य दर्शन के पदार्थों के गूढ़ रहस्य तथा उनकी त्रुटियों को भी समझने में अच्छी सुविधा मिली।

चिद्विलास तो हमको पूर्णरूप से पढ़ना पड़ा क्योंकि उसका अनुवाद हमको ही संस्कृत में करना था। यद्यपि उसके अनुवाद में पण्डिताई की आवश्यकता न थी केवल विभक्ति मात्र ही जोड़ना हमारा कर्तव्य था तथापि मनोयोग दिये बिना तो कार्य निर्वाह हो ही नहीं सकता था आशा है कि उसका प्रकाशन शीघ्र हो जायगा।

हमने आपसे कहा कि आप इसका संस्कृत में अनुवाद कर दें। इस पर आपने उत्तर दिया कि पण्डितजी! जेल में अधिक समय मिलता था इसलिए पुस्तक तो लिखी गई परन्तु अनुवाद के लिये समय नहीं है। हमने कहा कि कहिए तो हम विभक्ति जोड़ दें। आपने उत्तर दिया कि आप करें तो बहुत अच्छा हो।

हमारा अनुभव आपके विषय में यही है कि यदि आप राजनीतिक क्षेत्र में नहीं पड़े होते तो आपकी विद्वत्ता संस्कृत साहित्यमें भी चकाचौंध उत्पन्न कर देती।

अनुवाद में हमने ऐसा किया है कि जहाँ तक हुआ है हमने उन संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है जो कि हिन्दी शब्दों के मूल रूप थे।

अस्तु, इस विषय में इतना ही कहना है कि चीनी के खिलौने देख लो, दिखला लो, फूट जाय तो खा लो। इस आभाणक के अनुसार इस पुस्तक के पढ़ने से संस्कृत शिक्षण में भी अच्छी सहायता मिल सकती है। आपकी इच्छा है कि इसका अनुवाद इंगलिश में भी हो परन्तु अब तक नहीं हो सका।

चिद्विलास का एक अंश उद्धृत कर इस लेख को समाप्त कर देना है।

पृष्ठ २०६ इस अवस्था को नय भेद से कई नामों से पुकारते हैं। अविद्या के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है इसलिए यह मुक्ति या मोक्ष है, अस्मिता का दीपक बुझ जाता है इसलिए यही निर्वाण है।

कैसी अपूर्व निर्वाण शब्द की व्याख्या है।

पृष्ठ २६२ से २६४ तक शिक्षा शीर्षक लेख का उद्धरण कर प्रत्येक पाठशाला में प्रचार करना चाहिए।

अभीतक पाठ्य पुस्तक निर्माताओं की दृष्टि में चिद्विलास का अंश नहीं आया है। उस लेख के अंतिम अंश उल्लेखनीय हैं।

पुरुष सूक्त का भी एक अंश उद्धृत कर आपकी विषयान्तः प्रवेशिता का परिचय देते हैं:—

षट्चक्र का परिचय देते हुए आपने पुरुष सूक्त पृष्ठ २० में लिखा है:—

'यह स्मरण रखना चाहिए कि यह चक्र सुषुम्णा और उसके ऊपर मस्तिष्क में है। कण्ठ भ्रूमध्य आदि इनके स्थान का निर्देश मात्र करते हैं।

इस लेख से सब समझ सकते हैं कि आपका शास्त्रज्ञान केवल शाब्दिक नहीं है। किन्तु आपने उनके रहस्यों को समझ कर आचरण भी किया है। साराश यह है कि 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६।३।१०६) सूत्र के भाष्य में जो शिष्ट का लक्षण लिखा गया है, उसी की झलक आप में उस अभिभाषण से दृष्टिगोचर होती है।

टि० वहां के भाष्य का भाव है कि इसने अष्टाध्यायी तो नहीं पढ़ी परन्तु इसके जितने शब्द हैं वे अष्टाध्यायी के अनुकूल हैं। अवश्य इसके ऊपर दैवानुग्रह है या इसका स्वभाव ही ऐसा है कि यह अष्टाध्यायी के अनुकूल शब्दों का प्रयोग कर रहा है।

कैयट ने लिखा है :"पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात्। सरस्वतीं च तां नौमि वागधिष्ठातृदेवताम्।"

अर्थ—वचन की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती देवी को हम नमस्कार करते हैं। जिनकी दया से मनुष्य भी देवता बन जाता है।

इसके जाज्वल्यमान उदाहरण आप भी हैं।

अवश्य लिखें। (श्री भागवत ८ स्कन्ध १८ अ० ३१ श्लोक 'तथा पुनीतास्तनुभि: पदैस्तव') श्री सम्पूर्णानन्द जी तो वैयाकरण नहीं हैं कि किसी धातु से प्रत्यय लगाकर शब्द का प्रयोग करेंगे।

उन्होंने तो जितने ग्रन्थ पढ़े हैं उनमें जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उन्हीं का प्रयोग उन्होंने स्वरचित ग्रन्थ में किया है।

जिस समय यह व्याकरण तथा संस्कृत साहित्य पढ़ रहे थे उस समय भी उनकी यही प्रकृति थी कि सम्पूर्ण विषय इनके समक्ष कहना ही नहीं पड़ता था। वह यही कहते कि हमने समझ लिया। अब आगे चलिये।

अब भी जो लोग इनके सम्पर्क में आये हैं इन लोगों को यह व्यवस्था ज्ञात ही है। इसलिए इनको धन्यवाद देना चाहिये कि इनसे जो वार्तालाप करते हैं उनका तथा अपना भी समय यह बचा लेते हैं। क्योंकि यह बुद्धिमानों के साथ सूत्र ही में बातचीत करते हैं। कम से कम सुनना तो यह सूत्र ही में चाहते हैं। व्याख्यान के समय इनको भाष्य की पद्धति ग्रहण करनी पड़ती है।

इस समय हमारे पास जो इनके ग्रन्थ हैं जिनको कि हमने देखा है, उससे यही ज्ञात होता है कि इनकी प्रतिभा प्राकृतिक नहीं हैं किन्तु यौगिक है। साधना ही उस प्रतिभा की महत्ता का कारण है।

पहले पुरुष सूक्त को आप ले जिसको कि उन्होंने श्रुतिप्रभा टीका से भूषित कर मुद्रित किया है। पुरुष सूक्त और चिद्विलास तो पंजरबद्ध शुकदेव का लेख है। उस समय में लेखक का शरीर तो बद्ध था परन्तु वह तो स्वतन्त्र था इसलिये उसको लेखनी से जो ज्ञान च्युत हुआ वह निर्मल तथा स्वतन्त्र था "न्याय्यात् पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा:" का ही साम्राज्य लेखों में प्रवाहित हो रहा है। यदि पण्डित मण्डली इन लेखों को पढ़ेगी और मनन करेगी तो आशा है कि परतन्त्र युग की रूढ़ि तथा मिथ्या ज्ञान अवश्य दूर हो जायंगे और निर्भीकता के साथ वे लोग अपने विचार की छाप दूसरों पर डाल सकेंगे। इतना अवश्य ध्यान देना होगा कि जो हृदय में भाव विकसित हो उसी को हम लिखें चाहे वह विषय कुछ लोगों को न भी रुचे तो भी उससे हम मुख न मोड़ें।

अस्तु, यहाँ हम समालोचना करना नहीं चाहते। हमको तो संसार के सामने रख देना है कि इन ग्रन्थों के लेखक के विचार को पढ़ें और इसी मनोवृत्ति से पढ़कर हृदय के भावों को जनता के समक्ष उपस्थापित करें।

'आर्यों का आदि देश' के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि आपने वेदों का अध्ययन अत्यन्त मनोयोग से किया है। आपसे हमने पूछा कि क्या आपने वेदों का अध्ययन कई बार किया था? उस पर इन्होंने 'ओम्' यही उत्तर दिया। वेदों का अध्ययन का अर्थ उनके भाष्य से भी है। विना भाष्य के अध्ययन से उसकी समालोचना किस प्रकार की जा सकती है।

आपने जो पाश्चात्य दर्शनों का अध्ययन किया, उससे पौरस्त्य दर्शन के पदार्थों के गूढ़ रहस्य तथा उनकी त्रुटियों को भी समझने में अच्छी सुविधा मिली।

चिद्विलास तो हमको पूर्णरूप से पढ़ना पड़ा क्योंकि उसका अनुवाद हमको ही संस्कृत में करना था। यद्यपि उसके अनुवाद में पण्डिताई की आवश्यकता न थी केवल विभक्ति मात्र ही जोड़ना हमारा कर्तव्य था तथापि मनोयोग दिये विना तो कार्य निर्वाह हो ही नहीं सकता था आशा है कि उसका प्रकाशन शीघ्र हो जायगा।

हमने आपसे कहा कि आप इसका संस्कृत में अनुवाद कर दें। इस पर आपने उत्तर दिया कि पण्डितजी! जेल में अधिक समय मिलता था इसलिए पुस्तक तो लिखी गई परन्तु अनुवाद के लिये समय नहीं है। हमने कहा कि कहिए तो हम विभक्ति जोड़ दें। आपने उत्तर दिया कि आप करें तो बहुत अच्छा हो।

हमारा अनुभव आपके विषय में यही है कि यदि आप राजनीतिक क्षेत्र में नहीं पड़े होते तो आपकी विद्वत्ता संस्कृत साहित्यमें भी चकाचौंध उत्पन्न कर देती।

अनुवाद में हमने ऐसा किया है कि जहाँ तक हुआ है हमने उन संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है जो कि हिन्दी शब्दों के मूल रूप थे।

अस्तु, इस विषय में इतना ही कहना है कि चीनी के खिलौने देख लो, दिखला लो, फूट जाय तो खा लो। इस आभाणक के अनुसार इस पुस्तक के पढ़ने से संस्कृत शिक्षण में भी अच्छी सहायता मिल सकती है। आपकी इच्छा है कि इसका अनुवाद इंगलिश में भी हो परन्तु अब तक नहीं हो सका।

चिद्विलास का एक अंश उद्धृत कर इस लेख को समाप्त कर देना है।

पृष्ठ २०६ इस अवस्था को नय भेद से कई नामों से पुकारते हैं। अविद्या के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है इसलिए यह मुक्ति या मोक्ष है, अस्मिता का दीपक बुझ जाता है इसलिए यही निर्वाण है।

कैसी अपूर्व निर्वाण शब्द की व्याख्या है।

पृष्ठ २६२ से २६४ तक शिक्षा शीर्षक लेख का उद्धरण कर प्रत्येक पाठशाला में प्रचार करना चाहिए।

अभीतक पाठ्य पुस्तक निर्माताओं की दृष्टि में चिद्विलास का अंश नहीं आया है। उस लेख के अंतिम अंश उल्लेखनीय हैं।

पुरुष सूक्त का भी एक अंश उद्धृत कर आपकी विषयान्तः प्रवेशिता का परिचय देते हैं:—

षट्चक्र का परिचय देते हुए आपने पुरुष सूक्त पृष्ठ २० में लिखा है:—

"यह स्मरण रखना चाहिए कि यह चक्र सुषुम्णा और उसके ऊपर मस्तिष्क में है। कण्ठ भ्रूमध्य आदि इनके स्थान का निर्देश मात्र करते हैं।

इस लेख से सब समझ सकते हैं कि आपका शास्त्रज्ञान केवल शाब्दिक नहीं है। किंतु आपने उनके रहस्यों को समझ कर आचरण भी किया है। सारांश यह है कि "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६।३।१०९) सूत्र के भाष्य में जो शिष्ट का लक्षण लिखा गया है, उसी की झलक आप में उस अभिभाषण से दृष्टिगोचर होती है।

टि० वहां के भाष्य का भाव है कि इसने अष्टाध्यायी तो नहीं पढ़ी परन्तु इसके जितने शब्द हैं वे अष्टाध्यायी के अनुकूल हैं। अवश्य इसके ऊपर दैवानुग्रह है या इसका स्वभाव ही ऐसा है कि यह अष्टाध्यायी के अनुकूल शब्दों का प्रयोग कर रहा है।

कैयट ने लिखा है :"पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात्। सरस्वतीं च तां नौमि वागधिष्ठातृदेवताम्।"

अर्थ—वचन की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती देवी को हम नमस्कार करते हैं। जिनकी दया से मनुष्य भी देवता बन जाता है।

इसके जाज्वल्यमान उदाहरण आप भी हैं।

देखा भी गया है कि जब भारत में अंग्रेजों का राज्य था उस समय चतुर लोग मेम साहिबा को प्रसन्न कर अपना कार्य साहबों से सिद्ध करा लेते थे। अतएव विद्या के लिए सरस्वती की आराधना उचित है।

यह वाणी हमारे शिक्षा सचिव में पराकाष्ठा को प्राप्त है क्योंकि पूर्वावस्था में यह इतना शीघ्र बोलते थे कि साधारण मनुष्य इनके भावोंके जानने में असमर्थ होते थे।

इनके जीवन की एक अद्भुत घटना लिख रहे हैं।

जिस समय यह छोटे बच्चे थे उस समय यह एक खिलौना लेकर खेल रहे थे। उस खिलौने में एक सर्प का बच्चा फन उठाये इनके साथ खेल रहा था। यह भी बच्चा ही था। इनकी माता जी ने इस घटना को देखा और सहसा इन्हें उठा लिया, और यह रोने लगे। ऐसी घटना और एक महात्मा के साथ हुई थी उन्होंने तो सर्प के बच्चे का सिर पकड़ कर गर्म दूध में रखकर दूध पिला कर मार डाला था।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रोमावलिवलित प्रपन्नपारिजात सच्चिदानन्द आनन्द कन्दो वृन्दारकवृन्द वन्दित पादारविन्द श्रीमन्नारायणः चिरायुष्य सौभाग्य सुयशः सम्पन्नं वर्धित बुद्धि वैभवं श्री सम्पूर्णानन्द जी महोदयं कुरुतात्।

यद्यपि विद्या का नाम ज्ञान वाचक शब्दों में नहीं रखा गया तथापि "अथ ज्ञानमविद्याऽहंमतिः स्पाम्" इस स्थान में अज्ञान और अविद्या पर्याय है । इसलिए विद्या शब्द का अर्थ ज्ञान हुआ । अमर कोश में ज्ञान शब्द का अर्थ है मोक्षविषयिणी बुद्धि । और शिल्पादि विषयिणी बुद्धि का नाम है विज्ञान । श्रमानुसारिणी विद्या बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ सत्यानुसारिणी लक्ष्मीः कीर्तिस्त्यागानुसारिणी । इस महाभारत के श्लोक से ज्ञात होता है कि विद्या का अर्थ है जिससे ज्ञान हो । यथा—आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ॥ विद्याह्येताश्चतस्रस्तु लोक संस्थिति हेतवः ॥ यहां भी विद्या का अर्थ है ज्ञान साधन । दूसरा होता है 'विद्यास्थान' । यथा—पुराण न्यायमीमांसा धर्म शास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशेति । अब यह देखना है कि विद्या के लिये सरस्वती को आराधना क्यों की जाय ? इसके दो समाधान हैं । एक तो यह कि ज्ञान वृद्धि और ह्रास का प्रश्न ही इस दर्शन में उपस्थित नहीं होता । क्योंकि 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' (का. वा. अ. ३।१।७)

इस प्रसंग में उतना लेख अनुचित नहीं होगा कि आज भारतवर्ष में विद्या प्राप्ति के लिये सरस्वती की आराधना क्यों चली । सरस्वती शब्द तो वाणी का पर्याय है । क्योंकि अमरसिंह ने लिखा है "गीर्वाग् वाणी सरस्वती" इत्यादि ।

"प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्ति चेतनाः" । इस कोशावलंबन द्वारा यही सिद्ध हुआ कि ज्ञान तो व्यापक पदार्थ है । उसमें वृद्धि ह्रास का प्रश्न ही नहीं उठ सकता । वह तो सर्वत्र एक रस है । अब रह गया प्रश्न उस ज्ञान के प्रकाश का । अब यही देखना है कि उस ज्ञान का आविर्भाव कैसे हो इसी विषय को लेकर एक कवि ने कहा है कि "लोके वनस्पति बृहस्पतितारतम्यं यस्याः प्रसाद परिणाम मुदा हरन्ति । सा भारती भगवती तु यदीयदासी तां देवदेवमहिषीं श्रियमाश्रयाम: ॥ अर्थात् संसार में वनस्पति और बृहस्पति में किंप्रयुक्त भेद है इसका उत्तर होगा कि सरस्वती प्रयुक्त ही भेद है । क्योंकि वनस्पतियों में वाणी नहीं है और बृहस्पति तो वाणी के आकर ही हैं । ठीक ही उनका नाम वाचस्पति और धिषण भी है । धिषण शब्द का अर्थ है, जिसमें धिषणा नाम बुद्धि हो । अब बृहस्पति एक पदार्थ मिले जिसमें बुद्धि भी है और सरस्वती भी है । इसलिये बृहस्पति अपनी वाणी द्वारा (जिसकी सीमा नहीं है) अपने ज्ञान को प्रकाश कर सकते हैं । पर ज्ञान रहते हुए भी वनस्पति अपने ज्ञान का प्रकाश नहीं कर सकता । और बृहस्पति में वाणी की इयत्ता नहीं है अतएव बृहस्पति का नाम वाचस्पति पड़ा । इससे यह सिद्ध हुआ कि वाणी की जब अभिव्यक्ति होगी तभी मनुष्य तद्द्वारा अपने ज्ञान का प्रकाश कर सकता है अतएव विद्या प्राप्ति के लिये सरस्वती की आराधना आवश्यक हुई ।

दूसरा समाधान यह होगा कि विद्यायें विद्या स्थानों में ही मिलेंगी और विद्या स्थान है शास्त्र, और शास्त्र है सार्थक शब्द समूह । इसलिये सरस्वती की आराधना प्राप्तावसर हुई । क्योंकि सरस्वती प्रसन्न होंगी तभी तो सरस्वती रूप शास्त्र का ज्ञान तथा उसका प्रकाशन हो सकता है ।

अब पुनः प्रश्न उपस्थित हुआ कि वाणी की उपासना नहीं की जाय । जो वाणी का पति है उसी की उपासना करनी चाहिए इसका समाधान यह होगा कि बात तो ठीक ही है परन्तु हम पुरुष तो चतुर हैं । इसलिये पुरुष बृहस्पति की उपासना करने से वह शीघ्र प्रसन्न नहीं होंगे । परन्तु सरस्वती हैं स्त्री । उनकी उपासना करने से वह शीघ्र रिझाई जा सकती हैं । इसीलिये हम लोगों ने स्थिर किया कि सरस्वती की ही उपासना की जाय ।

देखा भी गया है कि जब भारत में अंग्रेजों का राज्य था उस समय चतुर लोग मेम साहिबा को प्रसन्न कर अपना कार्य साहबों से सिद्ध करा लेते थे। अतएव विद्या के लिए सरस्वती की आराधना उचित है।

वह वाणी हमारे शिक्षा सचिव में पराकाष्ठा को प्राप्त है क्योंकि पूर्वावस्था में यह इतना शीघ्र बोलते थे कि साधारण मनुष्य इनके भावों के जानने में असमर्थ होते थे।

इनके जीवन की एक अद्भुत घटना लिख रहे हैं।

जिस समय यह छोटे बच्चे थे उस समय यह एक खिलौना लेकर खेल रहे थे। उस खिलौने मे एक सर्प का बच्चा फन उठाये इनके साथ खेल रहा था। वह भी बच्चा ही था। इनकी माता जी ने इस घटना को देखा और सहसा इन्हें उठा लिया, और यह रोने लगे। ऐसी घटना और एक महात्मा के साथ हुई थी उन्होंने तो सर्प के बच्चे का सिर पकड़ कर गर्म दूध में रखकर दूध पिला कर मार डाला था।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रोमावलिग्रलित प्रपन्नपारिजात सच्चिदानन्द आनन्द कन्दो वृन्दारकवृन्द वन्दित पादारविन्द श्रीमन्नारायणः चिरायुष्य सौभाग्य सुयशः सम्पन्नं वर्धित बुद्धि वैभवं श्री सम्पूर्णानन्द जी महोदयं कुरुतात्।

सम्पूर्णानन्द जी की रचनाएँ

श्री कालिदास कपूर

उत्तरप्रदेश भारतीय सभ्यता का चिरकाल से केन्द्र रहा है। इस प्रांत की भूमि में राम, कृष्ण और बुद्ध ने जन्म लिया; नैमिषारण्य, कंपिल्य और काशी के आर्यकालीन साहित्यिक केन्द्र इसी प्रांतीय भूमि के भीतर ही रहे; मध्यकाल में हिन्दी साहित्य के आचार्य सूर, कबीर और तुलसी की रचनाएँ इस प्रांत की भूमि पर ही हुईं। आधुनिक काल में भारतेन्दु, मालवीय और जवाहरलाल इस प्रांत में ही उत्पन्न हुए। स्वतंत्र भारत के प्रथम चरण में उत्तरप्रदेश की शिक्षा और संस्कृति का संचालन ऐसे नेता के हाथ में होना चाहिये था जिसके व्यक्तित्व में उत्तरप्रादेशीय संस्कृति की निधि केन्द्रित हो। सम्पूर्णानन्द जी ऐसे ही नेता हैं। आपने अँगरेजी, गणित और विज्ञान का अध्ययन जीविका के लिए किया। परन्तु संस्कृत, दर्शन और इतिहास का अध्ययन आपके स्वान्तः सुखाय व्यसन की निधि है। बहुत से विद्वान अध्ययन करते रहते हैं, अपने विषय के प्रकाण्ड पण्डित भी होते हैं, परन्तु जिज्ञासु उनके सत्संग से ही लाभान्वित हो सकते हैं। साधारणतया ऐसे विद्वानों की निधि उनके शरीरान्त के साथ समाप्त हो जाती है, परन्तु सम्पूर्णानन्द जी जितने अध्ययनशील हैं उतनी ही उनकी लेखनी भी तीव्रगामिनी है। जितनी तेजी से वह मिस्लें समाप्त करते हैं, अपने स्टेनो (Steno) को अँग्रेजी में नोट बोलते हैं, उतनी ही तेजी से उनकी लेखनी हिन्दी के लिये चलती है। हिन्दी और अंगरेजी में पत्र-पत्रिकाओं के लिये कितना लिखा, कांग्रेसी कार्यकर्त्ता की हैसियत से कितनी रिपोर्टें हिन्दी अंगरेजी में लिखीं, इसका अनुमान करना मेरे लिये सम्भव नहीं और इनकी पूरी याद कदाचित उनके लेखक को भी न होगी। उनकी जो रचनाएँ पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं उनकी फेहरिस्त भी छोटी नहीं है। जिन पुस्तकों का मुझे पता लगा है उनके नाम, रचनाकाल क्रम से ये हैं:—

पुस्तक	प्रकाशक	रचनाकाल
१—भौतिक विज्ञान	(नागरी प्रचारिणी सभा)	१९७३
२—महाराज छत्रसाल	(ग्रन्थ प्रकाशक समिति काशी)	१९७३
३—ज्योतिर्विनोद	(नागरी प्रचारिणी सभा)	१९७३
४—भारत के देशी राष्ट्र	(प्रताप कार्यालय कानपुर)	१९७४
५—महादजी सिंधिया	(हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई)	१९७५
६—चीन की राज्यक्रांति	(प्रताप पुस्तकालय कानपुर)	१९७६
७—सम्राट् हर्षवर्द्धन	(गांधी हिन्दी पुस्तक भण्डार बम्बई)	१९७६
८—देशबन्धु चितरंजनदास	(हिन्दी साहित्य मंदिर इन्दौर)	१९७८
९—मिस्र की स्वाधीनता	(सुलभ ग्रन्थ प्रचारक मंडल कलकत्ता)	१९७९
१०—सम्राट् अशोक	(प्रताप पुस्तकालय कानपुर)	१९८१

११—अन्तर्राष्ट्रीय विधान	(ज्ञानमण्डल काशी)	१६८१
१२—चेतसिंह और काशी का विद्रोह	(प्रकाश पुस्तकालय कानपुर)	१६८२
१३—When we are in Power		सम्भवत: १६८२
१४—धर्मवीर गान्धी		१६८२
१५—समाजवाद	(काशी विद्यापीठ)	१६६३
१६—व्यक्ति और राज्य	(हिंदी पुस्तक एजेन्सी काशी)	१६६६
१७— ,, ,, अंग्रेजी संस्करण The Individual & the State		
१८—आर्यों का आदि देश	(भारती मंडार लीडर प्रेस प्रयाग)	१६६७
१६—दर्शन और जीवन	(परिपूर्णानन्द वर्मा कानपुर)	१६६७
२०—भारतीय सृष्टिक्रम विचार	(नागरी प्रचारिणी सभा)	१६६८
२१—Cosmogony in Indian Thought		१६६८
२२—चिद्विलास (संस्कृत संस्करण भी प्रकाशित है)	(ज्ञानमंडल काशी)	२०००
२३—गणेश	(काशी विद्यापीठ)	२००१
२४—ब्राह्मण सावधान !	(ज्ञानमंडल काशी)	२००१
२५—पुरुष-सूक्त	(शारदा प्रकाशन बनारस)	२००४

ब्राह्मण सावधान

सम्पूर्णानन्द जी धर्मशास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान हैं, उन्होंने योगाभ्यास किया है और करते हैं, धार्मिक और धर्मशील पुरुष हैं, परन्तु वे रूढ़िवादी नहीं हैं, बल्कि रूढ़िवाद के विरोधी हैं। यह विरोध उनकी "ब्राह्मण सावधान !" शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित है। संयत भाषा में सीमित क्षेत्र के भीतर ही आपने ब्राह्मण वर्ग को कुछ चेतावनियाँ दी हैं। ये चेतावनियाँ और भी आवश्यक हो जाती हैं, जब देश विभाजित होकर स्वतन्त्र हो गया है और हिन्दू रूढ़ियों को शासनप्रणाली पर निष्कंटक प्रभाव डालने का अवसर मिला है। गौतम बुद्ध से महात्मा गाँधी तक हमारे महापुरुषों ने अहिंसा का उपदेश दिया है, मानव समाज को मानवता का पाठ पढ़ाया है। इसी अहिंसा को लेकर गोरक्षा के गीत गाये जारहे हैं, यद्यपि जैसी गोरक्षा हिंदू कर रहे हैं उससे निकृष्ट गाय बैल देश की जगह घेरते जारहे हैं; देश में उनकी संख्या बढ़ रही है, परन्तु दूध की मात्रा घट रही है और खेती को पर्याप्त पशु-शक्ति नहीं मिल रही है। बन्दर हनूमान जी का वंशज माना जारहा है, उसका नाश करने का साहस हमारे शासकों को नहीं होता, यद्यपि उसके कारण देश की उपज को बहुत हानि पहुँच रही है।

यदि अहिंसा सत्य है, तो 'जीवहिं जीव अधार' भी सत्य है। सभी जीवों का एक ही महत्व नहीं है। यदि किसी जीव की प्राण हानि से मनुष्य की रक्षा सम्भव हो, तो उस जीव की प्राण हानि से अहिंसा का अपवाद नहीं होता।

"ब्राह्मण सावधान !" सम्पूर्णानन्द जी के पत्रों पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का पुस्तकाकार संग्रह है। इस पुस्तिका का उनकी कृतियों में कोई विशेष महत्व नहीं है। मैंने इस पर सर्वप्रथम इसलिये ही विचार किया कि उनके इस पुस्तिका में संग्रहीत विचारों पर यथेष्ट वादाविवाद हो चुका है। सम्पूर्णानन्द जी जन्मना ब्राह्मण नहीं

यह सब मान कर भी भौगोलिक आधार पर विचार करने पर सप्तसिंधव प्रदेश को आर्यों की आदिभूमि मानने के मत के विरुद्ध कुछ शंकायें उठती हैं, जिनका समाधान सरलता से नहीं होता। यदि सप्तसिंधव प्रदेश आर्यों की आदि भूमि थी, तो यह सिद्ध करना पड़ता है कि आर्य इस प्रदेश से ही ईरान और यूनान गये। प्राचीन ईरानी और यूनानी साहित्य की भाषा और वैदिक भाषा का सामान्य तो सिद्ध है। गाथा साहित्य में, प्रलय की कथा में, देवताओं की कल्पना में भी प्राचीन ईरानी, यूनानी और ऋग्वैदिक वाङ्मय एक दूसरे से मिलते हैं, परन्तु यूनानी और ईरानी साहित्य में कहीं सप्तसिंधव प्रदेश की स्मृति नहीं मिलती। यदि सप्तसिंधव प्रदेश को आर्यों की आदि भूमि मानते हैं,—और यह प्रदेश उपजाऊ था ही—तो गंगा, यमुना के मैदान की ओर उनका बढ़ना तो समझ में आता है—और यह वैदिक साहित्य के मनन से सिद्ध भी होता है, परंतु किस मार्ग से और क्यों वे ईरान और यूनान की ओर बढ़े यह समझ में नहीं आता। सम्पूर्णानंद जी का मत है कि मानव काल के भीतर कैस्पियन सागर काले सागर से सम्बंधित था और आर्य ईरान के आगे इस सम्बंधित जल-मार्ग से ही यूनान की ओर गये। परंतु भूगर्भ शास्त्रियों का मत है कि काकेशस से हिमालय तक पार्वतीय माला का जन्म मानव काल से पहिले की घटना है। दो मार्ग हो सकते थे—खैबर से गांधार और खुरासान होते हुए कैस्पियन सागर की ओर बढ़ते या सिंध नदी से उतर कर समुद्र मार्ग पकड़ते, या यदि यह मान लिया जाय कि उस समय यह राह उतना निर्जल नहीं था, तो स्थल मार्ग से ही दक्षिणी ईरान पहुँचते। परन्तु उत्तर पश्चिम मार्ग जितना ऊबड़ खाबड़ अब है, उतना पहिले भी था। अच्छी भली उर्वरा भूमि छोड़ कर आदि आर्यों का बीहड़ भूमि की ओर बढ़ना कम समझ में आता है। सिंधु नदी पर पणिक बसे हुए थे। उनके नगरों के दो खडहर तो अब तक मिल चुके हैं, आगे कदाचित और भी मिलें। वैदिक वाङ्मय में आर्यों की पणिकों से लड़ाई का भी उल्लेख है तो क्या यह माना जाय कि आदि आर्यों के पूर्व गंगा—यमुना की उर्वरा और समतल सरस तथा खुली भूमि के होते हुए भी पणिक राज्यों को परास्त करके ईरान और यूनान बसाना उन्हें अधिक आकर्षक मालूम हुआ ? इस विषय के अध्ययन में हमें केवल आर्य वाङ्मय से प्राप्य सामग्री का ही सहारा नहीं लेना है, हमें भूगर्भ शास्त्रियों की खोज से सहायता लेनी है, भाषा शास्त्रियों की खोज से भी लाभ उठाना है। वाङ्मय सम्पूर्णानंद जी का मत पुष्ट करता है, भूगर्भ शास्त्र उसके विरुद्ध शंकायें उपस्थित करता है, और भाषा शास्त्र वैदिक, ईरानी, और यूनानी भाषाओं को एक ही स्रोत से निकला बताता है, इसके आगे ईरानी और यूनानी भाषाओं को वैदिक भाषा से निकला नहीं बताता। परन्तु इन शंकाओं से सम्पूर्णानंद जी की खोज का महत्व कम नहीं होता। आर्य और अनार्य जातियों का संघर्ष भारत में ही नहीं हुआ। ईरानी और यूनानी आर्यों का संघर्ष सेमेटिक अनार्यों से—कदाचित सिंधुवर्ती पणिक अनार्य भी सेमेटिक अनार्यों के भाई-बंधु थे—सैकड़ों वर्ष होता रहा। उस संघर्ष के साथ-साथ सांस्कृतिक समन्वय भी चलता रहा। इस समन्वय का आवरण आर्य संस्कृति के अनुकूल रहा क्योंकि आर्य ही विजयी रहे, परंतु उसके गर्भ में अनार्य संस्कृति का ही प्राधान्य रहा। यों भारतीय और योरोपीय संस्कृति का बीज वपन हुआ। सम्पूर्णानंद जी की इस कृति से समन्वय धारा के स्रोत की खोज होती है। सम्पूर्णानंद जी से सहमत न होकर भी हम इस ग्रंथ के अध्ययन से समन्वय के स्रोत तक अवश्य पहुँच सकते हैं।

गणेश

समन्वय का दृष्टांत देने के लिए हमारे सामने सम्पूर्णानंद जी की तीसरी कृति आती है। नाम है—"गणेश"। गणेश पूजा हिंदू समाज के भीतर सर्वमान्य है ही, भारत के बाहर जहाँ कहीं हिंदू संस्कृति पहुँची है, गणेश जी उसके प्रतीक बनकर वहां पहुँचे हैं। हिंद एशिया के द्वीपों तक वह पहुँचे और बालिद्वीप में उनकी

हैं, यद्यपि डा० भगवानदास की व्याख्या के अनुसार वह पूर्णरूपेण कर्मणा ब्राह्मण हैं, इसलिए वह ब्राह्मण वर्ग को ही नहीं, रूढ़िवाद के विरुद्ध पूरे हिंदू समाज को सावधान करने के अधिकारी हैं।

आर्यों का आदि देश

सम्पूर्णानन्द जी की अन्य कृतियां विवादात्मक नहीं हैं, यद्यपि थोड़ा बहुत मतभेद प्रत्येक कृति के सम्बन्ध में हो सकता है। इतिहास के क्षेत्र में आपकी 'आर्यों का आदि देश' शीर्षक पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। लोकमान्य तिलक ने आदि ग्रंथ ऋग्वेद के अध्ययन के पश्चात् इस मौलिक मत की विवेचना की थी कि उत्तरी ध्रुव की निकटवर्ती भूमि ही आर्य जाति का आदि देश था। वहां से जलवायु के परिवर्तन के कारण वे दक्षिण-वर्ती रूस के मैदानों की ओर बढ़े और तीन शाखाओं में बंटकर वे सप्तसिंधव प्रदेश, ईरान और यूनान में बसे। योरपीय विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। एक तो यह कि आर्यों की आदिभूमि योरप के उस भाग में थी जहां डैन्यूब नदी बहती है और दूसरा यह कि उनकी आदिभूमि मध्य एशिया के उस भाग में थी जहां सर और अमू नदियाँ बहती हैं। हम लोगों को ऐतिहासिक पाठ्य पुस्तकों में यही पाठ पढ़ाया गया है। सम्पूर्णानन्द जी के पहले स्व० अविनाशचंद्रदास ने यह मत प्रतिपादित किया था कि आर्यों की आदिभूमि भारत के सप्त-सिंधव प्रदेश में ही थी। भारतीय विद्वानों ने न तिलक जी की खोज पर यथेष्ट टीका की, न दास जी के मत के सम्बंध में। यद्यपि यह सही है कि ईरानियों, यूनानियों और रोमनों के आर्य वंशज होते हुए भी और हिटलर के जर्मन जाति को आर्य जाति के शुद्धतम वंशज घोषित करके भी, भारत में ही आर्य संस्कृति और साहित्य की पूजा होती रही, प्रत्येक द्विज परिवार किसी न किसी आर्य ऋषि को ही अपना आदि पूर्वज मानता रहा। आर्य जाति की आदिभूमि के सम्बन्ध में सम्पूर्णानन्द जी ने जिस मत को इस ग्रंथ में पुष्ट करने का प्रयत्न किया है उस पर स्वतंत्र भारत के वातावरण में भारतीय विद्वानों को विचार करना आवश्यक है। यद्यपि आर्यों की आदिभूमि के विभाजन से पाकिस्तान की सृष्टि हुई है। ऋग्वेद के आधार पर ही आर्यों की आदिभूमि के सम्बन्ध में खोज कीगई है। मैंने ऋग्वेद का अध्ययन नहीं किया है, परन्तु आर्यप्रसार के भौगोलिक आधार पर मनन किया है। इस आधार से तिलक जी के मत का समर्थन होता है और सम्पूर्णानन्द जी के मत के विरुद्ध शंका उठती है।

चतुष्पद पशु की द्विपद मानव के रूप में विकसित होने की बात एक लाख वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। इस अवधि के भीतर विश्व के विभिन्न भागों में ऋतु क्रांतियाँ अवश्य हुई हैं, परन्तु वर्तमान पर्वतमालाओं का जन्म मानव जन्म के पहले की घटना है। यह सम्भव है कि उत्तरी ध्रुव की निकटवर्ती भूमि में सबसे पहले जल, वनस्पति और जीव का जन्म हुआ हो, और मानव काल के प्रारम्भ में वहां की जलवायु मानव जीवन के अनुकूल रही हो। अभी तक वहां कोई मानव कंकाल नहीं मिला है, परन्तु बर्फ के नीचे कोयले की खानें तो मिली ही हैं, जिससे यह तो सिद्ध हो ही गया है कि किसी समय वहां हिम साम्राज्य नहीं था, जंगल थे और यदि जड़ जंगल थे तो उनमें चेतन प्राणी और उनके मानव नेता भी सम्भवतः विचरण किया करते थे। ऋग्वेद की ऋचाएँ इस मत की पुष्टि नहीं करतीं, यद्यपि कहीं-कहीं ध्रुव प्रदेश की दीर्घकालीन उषा और संध्या की धुँधली स्मृति की झलक इनमें मिलती है। इन ऋचाओं में सप्त सिंधव प्रदेश की नदियों के अतिरिक्त किसी नदी का नाम नहीं मिलता। ऋग्वेदिक इन्द्र, वरुण और मरुत भी सप्तसिंधव प्रदेश के ही मालूम होते हैं और सरस्वती स्वतंत्र धारा के रूप में पूर्वी पंजाब और राजपूताना सींचती हुई अरब सागर तक पहुँचती थी।

ऋग्वेद के अध्ययन से यह बात तो निश्चित रूप से प्रमाणित होती है कि भारतीय आर्यों के पुरखे सप्तसिंधव प्रदेश के आदि निवासी रहे हों या किसी और देश के, परन्तु वैदिक भाषा मानव जाति की आदि भाषा है और साहित्यिक रूप में यह सप्तसिंधव प्रदेश की उर्वरा भूमि में ही प्रस्फुटित हुई।

यह सब मान कर भी भौगोलिक आधार पर विचार करने पर सप्तसिंधव प्रदेश को आर्यों की आदिभूमि मानने के मत के विरुद्ध कुछ शंकायें उठती हैं, जिनका समाधान सरलता से नहीं होता। यदि सप्तसिंधव प्रदेश आर्यों की आदि भूमि थी, तो यह सिद्ध करना पड़ता है कि आर्य इस प्रदेश से ही ईरान और यूनान गये। प्राचीन ईरानी और यूनानी साहित्य की भाषा और वैदिक भाषा का सामान्य तो सिद्ध है। गाथा साहित्य में, प्रलय की कथा में, देवताओं की कल्पना में भी प्राचीन ईरानी, यूनानी और ऋग्वैदिक वाङ्मय एक दूसरे से मिलते हैं, परन्तु यूनानी और ईरानी साहित्य में कहीं सप्तसिंधव प्रदेश की स्मृति नहीं मिलती। यदि सप्तसिंधव प्रदेश को आर्यों की आदि भूमि मानते हैं,—और यह प्रदेश उपजाऊ था ही—तो गंगा, यमुना के मैदान की ओर उनका बढ़ना तो समझ में आता है—और यह वैदिक साहित्य के मनन से सिद्ध भी होता है, परंतु किस मार्ग से और क्यों वे ईरान और यूनान की ओर बढ़े यह समझ में नहीं आता। सम्पूर्णानंद जी का मत है कि मानव काल के भीतर कैस्पियन सागर काले सागर से सम्बंधित था और आर्य ईरान के आगे इस सम्बंधित जल-मार्ग से ही यूनान की ओर गये। परंतु भूगर्भ शास्त्रियों का मत है कि काकेशस से हिमालय तक पार्वतीय माला का जन्म मानव काल से पहिले की घटना है। दो मार्ग हो सकते थे—खैबर से गांधार और खुरासान होते हुए कैस्पियन सागर की ओर बढ़ते या सिंध नदी से उतर कर समुद्र मार्ग पकड़ते, या यदि यह मान लिया जाय कि उस समय यह राह उतना निर्जल नहीं था, तो स्थल मार्ग से ही दक्षिणी ईरान पहुँचते। परन्तु उत्तर पश्चिम मार्ग जितना ऊबड़ खाबड़ अब है, उतना पहिले भी था। अच्छी भली उर्वरा भूमि छोड़ कर आदि आर्यों का बीहड़ भूमि की ओर बढ़ना कम समझ में आता है। सिंधु नदी पर पणिक बसे हुए थे। उनके नगरों के दो खडहर तो अब तक मिल चुके हैं, आगे कदाचित और भी मिलें। वैदिक वाङ्मय में आर्यों की पणिकों से लड़ाई का भी उल्लेख है तो क्या यह माना जाय कि आदि आर्यों के पूर्व गंगा-यमुना की उर्वरा और समतल सरस तथा खुली भूमि के होते हुए भी पणिक राज्यों को परास्त करके ईरान और यूनान बसाना उन्हें अधिक आकर्षक मालूम हुआ? इस विषय के अध्ययन में हमें केवल आर्य वाङ्मय से प्राप्य सामग्री का ही सहारा नहीं लेना है, हमें भूगर्भ शास्त्रियों की खोज से सहायता लेनी है, भाषा शास्त्रियों की खोज से भी लाभ उठाना है। वाङ्मय सम्पूर्णानंद जी का मत पुष्ट करता है, भूगर्भ शास्त्र उसके विरुद्ध शंकायें उपस्थित करता है, और भाषा शास्त्र वैदिक, ईरानी, और यूनानी भाषाओं को एक ही स्रोत से निकला बताता है, इसके आगे ईरानी और यूनानी भाषाओं को वैदिक भाषा से निकला नहीं बताता। परन्तु इन शंकाओं से सम्पूर्णानंद जी की खोज का महत्व कम नहीं होता। आर्य और अनार्य जातियों का संघर्ष भारत में ही नहीं हुआ। ईरानी और यूनानी आर्यों का संघर्ष सेमेटिक अनार्यों से—कदाचित सिंधुवर्ती पणिक अनार्य भी सेमेटिक अनार्यों के भाई-बंधु थे—सैकड़ों वर्ष होता रहा। उस संघर्ष के साथ-साथ सांस्कृतिक समन्वय भी चलता रहा। इस समन्वय का आवरण आर्य संस्कृति के अनुकूल रहा क्योंकि आर्य ही विजयी रहे, परंतु उसके गर्भ में अनार्य संस्कृति का ही प्राधान्य रहा। यों भारतीय और योरोपीय संस्कृति का बीज वपन हुआ। सम्पूर्णानंद जी की इस कृति से समन्वय धारा के स्रोत की खोज होती है। सम्पूर्णानंद जी से सहमत न होकर भी हम इस ग्रंथ के अध्ययन से समन्वय के स्रोत तक अवश्य पहुँच सकते हैं।

गणेश

समन्वय का दृष्टांत देने के लिए हमारे सामने सम्पूर्णानंद जी की तीसरी कृति आती है। नाम है—"गणेश"। गणेश पूजा हिंदू समाज के भीतर सर्वमान्य है ही, भारत के बाहर जहाँ कहीं हिंदू संस्कृति पहुँची है, गणेश जी उसके प्रतीक बनकर वहां पहुँचे हैं। हिंद एशिया के द्वीपों तक वह पहुँचे और बालिद्वीप में उनकी

पूजा अब भी हो रही है। चीन पहुंचे, वहां से जापान भी गये। यहां* देवताओं की पूजा में वह सबके आगे रहते हैं। चीन और जापान में वे बौद्ध देवमण्डली में सम्मिलित होकर पुजते हैं। श्री चिम्मनलाल ने इधर "हिन्दू अमेरिका" शीर्षक एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि किसी काल में हिंदू संस्कृति प्रशांत महासागर पार करके नई दुनियाँ भी पहुँची। यदि हिंदू संस्कृति वहां पहुँची तो गणेश जी क्यों न पहुँचते। अपनी सूंड़ समेत वह वहां भी पुजे। मयसभ्यता की केंद्रीय भूमि मेक्सिको में वह चित्रों और स्तर मूर्तियों में विराजमान हैं।

परंतु यह देवता कैसे 'हिन्दू देवमंडली में' पहुंचे? ऋग्वैदिक देवताओं के साथ तो इनकी सृष्टि हुई नहीं, यद्यपि एक वेदमंत्र के साथ उनका आवाहन किया जाता है, जो अपने शब्दालंकार के ही कारण गणेश जी को प्रिय है। यदि यह देवता ऋग्वैदिक काल के नहीं हैं तो इंद्र, वरुण और सरस्वती के साम्राज्य काल में वह कहाँ थे? वह अनार्य जातियों के ग्राम्य देव थे। आर्य तो सौंदर्य के उपासक थे। उनके देवता कल्याणकारी होने के कारण "शिवम् सुंदरम्" पुजते थे। अनार्यों की देव सृष्टि में विघ्नकारी देवता ही थे। जैसे आजकल हम उन्हीं मानवों की पूजा करते हैं, जो हमें हानि पहुंचा सकते हैं, वैसा ही भाव अनार्यों का था। आर्यों का अनार्यों से संघर्ष हुआ, साथ साथ समन्वय भी हुआ। विघ्नकारी गणेश अनार्य मण्डली में पशु थे, उनकी प्रवृत्ति भी पाशविक थी। आर्य मण्डली में आते ही उनकी पाशविकता शिर के अतिरिक्त कहीं और न रही, विघ्नकारी से वह मंगलसूचक हो गये; विश्वकर्मा की सिद्धि और बुद्धि नाम की दो लड़कियों से उनका विवाह हो गया, जिनसे लक्ष्य और लाभ नामक उनके दो पुत्र हुए? यों वह आर्य देव परिवार में ऊँचा आसन पा गए कालांतर में आदि देवता इंद्र तो अनावृत होकर निकाल बाहर किये गये और गणेश सपरिवार उनके आसन पर आ विराजे। अठारह पुराणोंमें एक पुराण भी उनके नाम से प्रतिष्ठित हुआ। योगियोंमें, तांत्रिकोंमें, भारतकेबाहर बौद्धों में भी, वह विभिन्न नामों से आदृत हुए। आर्य अनार्य संघर्ष में आर्य विजयी हुए परन्तु संघर्ष और समन्वय काल गति में साथ साथ चलते रहते हैं। अपने तईं आर्य वंशज घोषित करके भी न हमें आर्य रूप रंग प्राप्त है न आर्य समाज की व्यवस्था। गणेश के ऐतिहासिक विकास से हमें एक यह सन्तोषजनक पाठ मिलता है कि यदि प्रत्यक्ष रूप में सामाजिक संघर्ष हमें पीस रहा है तो परोक्ष रूप में मानवीय संस्कृति का एकता और शान्ति की ओर समन्वय भी हो रहा है। जिस प्रकार गणेश जी का ध्यान मनोरंजक है और मंगलमय भी है, उसी प्रकार सम्पूर्णानन्द जी के "गणेश" ग्रन्थ का अध्ययन मनोरंजक है और वर्त्तमान विश्व के वातावरण से उद्विग्न विचारशील पाठक के लिए आशाजनक है, मंगलमय भी है। यदि समय के फेर से विघ्ननायक विनायक मंगलमय गणेश में परिवर्तित हो सकते हैं तो स्वार्थी संघर्ष से साम्य और शांति का जन्म भी हो रहा है।

चेत सिंह और काशी-विद्रोह

इन पुस्तकों के अतिरिक्त चेतसिंह और काशी विद्रोह-चीन की राज्यक्रांति, सम्राट अशोक, सम्राट् हर्षवर्द्धन, मिश्र की स्वाधीनता और महाराज छत्रशाल ऐतिहासिक श्रेणी में आतेहैं। पहली पुस्तक के विषय का कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है। चेतसिंह का वारन हेस्टिंग्ज की जबर्दस्ती का मुकाबला करना, चेतसिंह और वारन हेस्टिंग्ज की जीवन कथा में तो अवश्य महत्व रखता है, परन्तु भारतीय इतिहास में अंगरेजों के क्रमशः पूरे भारत पर अधिकार करने की करुण कथा में इस "विद्रोह" का महत्व बहुत कम है। इस लेख का उद्देश्य सम्पूर्णानंद जी की कृतियों की आलोचना करना है और पुस्तक लेखक के वृद्ध प्रपितामह सदानंद जी राजा चेतसिंह के दीवान थे। यों इस घटनापर सम्पूर्णानंद जी का पुस्तक लिखना आवश्यक था और आलोचक के लिए उनकी यह रचना विशेष महत्व रखती है।

राजा मनसाराम आधुनिक काशी राज्य के संस्थापक थे। वह मुगल बादशाह मुहम्मद शाह के समकालीन थे और उन्हीं से उन्होंने राजा की उपाधि पाई। राजा चेतसिंह उनके पौत्र थे। सम्वत् १८३० (सन् १७७३) में उनकी वारन हेस्टिंग्ज तथा शुजाउद्दौला से सन्धि हुई जिसमें कम्पनी की ओर से उन्हें यह वचन दिया गया कि वार्षिक कर की जो रकम उनके राज्य पर नियत की गई है वह बढ़ाई न जायगी। सन १७७५ में बनारस का इलाका अवध नवाब के अधिकार से निकल कर कम्पनी के अधिकार में आ गया। परंतु वार्षिक कर नहीं बढ़ाया गया। सन १७७६ में उनसे संधि हुई और वह बराबर के स्वतंत्र राजा मान लिए गये।

इसके बाद मराठों तथा हैदरअली से लड़ाई छिड़ जाने के कारण वारन हेस्टिंग्ज को रुपये की जरूरत पड़ी और उन्होंने इसके लिए चेतसिंह को दुहना निश्चित किया। प्रति वर्ष वार्षिक कर की रकम वह चेतसिंह पर बढ़ाते रहे और जब चेतसिंह विवश हो गये तो बनारस आकर हेस्टिंग्ज के आदमियों ने उनके साथ इतना कटु व्यवहार किया कि चेतसिंह के अनुयायी बिगड़ गये। चेतसिंह ने सदानन्द बख्शी के परामर्श के विरुद्ध, विद्रोहियों का साथ दिया, परंतु वह सफल न हो सके। सदानंद बख्शी ने अपनी राजभक्ति पूर्णरूप से निवाही और चेतसिंह के साथ काशी से निर्वासित हुए। लोकोक्ति है कि जिस शिवालय घाट से चेतसिंह की दुर्भाग्य लीला प्रारम्भ हुई, उसके बनवाने के सिलसिले में किनीराय नामक एक अघोर पंथी महात्मा का निरादर करने पर चेतसिंह को विनाश का अभिशाप मिला और कुछ ही समय पश्चात् इन्हीं महात्मा ने सदानंद बख्शी को आशीर्वाद दिया कि जब तक तुम्हारे वंशजों के नाम के आगे आनंद रहेगा तब तक वे चेतसिंह के अभिशाप से मुक्त रहेंगे और फूले फलेंगे-इसी कारण सम्पूर्णानंद जी के पिता स्वर्गीय विजयानंद जी उनके अनुज अन्नपूर्णानंद जी और परिपूर्णानंद जी तथा उनके पुत्र चि० सर्वदानंद सभी आनन्द से विभोर हैं। कालांतर में चेतसिंह के अत्याचारी भारत से विलीन हो गये हैं। उनका काशी राज्य उत्तर प्रदेश में विलीन हो गया है और उनके दीवान के वंशज उत्तर प्रदेश के दीवान हैं। अघोरी किनीराय का अभिशाप और आशीर्वाद दोनों साथ साथ चल रहे हैं।

जो पुस्तक मेरे सामने है उसके प्रकाशन की तिथि कहीं छपी नहीं है। सम्भवतः सम्वत् १९८२ के लगभग यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उस समय तक सम्पूर्णानन्द जी कई पुस्तकें लिख चुके थे। उनकी ऐतिहासिक विवेचना तो विकसित होने लगी थी परंतु अभी उनका दार्शनिक अध्ययन पूरा नहीं हो पाया था।

चीन की राज्य क्रान्ति

योरपीय साम्राज्यवाद से क्लात देश भक्त भारतीय को अपने देश की स्वाधीनता की ही फिक्र न थी। उसके लिए पड़ोसी एशियाई देशों में स्वाधीनता और उन्नति पर विचार करना भी स्वाभाविक था। यों जागरूक सम्पूर्णानंद जी की लेखनी से १९७६ से १९७९ तक दो पुस्तकें निकलती हैं—चीन की राज्यक्रांति और मिश्र की स्वाधीनता।

"चीन की राज्य क्रांति" शीर्षक पुस्तक की भूमिका का वर्ष सम्वत् १९७६ है। यों यह पुस्तक आपने असहयोग क्षेत्र में उतरने के पहले गैर सरकारी शिक्षालय के अध्यापक की हैसियत से लिखी। हिन्दी साहित्य में पुस्तक के विषय पर किसी अन्य पुस्तक का पता मुझे नहीं है। इसलिए प्रकाशन तिथि के विचार से प्रतिपादित विषय पुराना अवश्य हो गया है। लेखक और उनके साथ भारतीयों तथा अन्य एशियावासियों की तत्कालीन आशाओं पर चीन के आगे आने वाले इतिहास ने पानी अवश्य फेर दिया। मंचुओं से स्वतंत्र होकर चीन को शांति नहीं मिली। एक ओर योरपीय जातियां और जापान उसे नोचते रहे। दूसरी ओर देश के भीतर भी

क्रांति के नेता न एकता स्थापित कर सके, न प्रजा की आर्थिक दशा सुधार सके। च्यांग काई शेक देश को एक सूत्र में बाँधने में सफल हुआ। परंतु वह सफलता स्थायी न रह सकी। न वह चीन साम्राज्यवादी गृद्धों से बचा सका, न वह शासक दल का चरित्र उन्नत कर सका। परिणाम में च्यांग की कहानी समाप्त हो रही है। देखना है कि जो क्रांति अब हुई है उससे चीन के दिन फिरते हैं या नहीं। परंतु पुस्तक के विषय का महत्व अब तक घट जाने पर भी लेखक की जिस विचारधारा का परिचय हमें उनके राजनैतिक क्षेत्र में उतरने के पहले मिलता है उससे हमें यह पता चलता है कि उनकी मनोवृत्ति का बीज वपन असहयोग आंदोलन में सम्मिलित होने के पहले हो हो चुका था। चीनी राज्यक्रांति के विवरण में उनकी देशभक्ति, उनकी प्रजातंत्र में आस्था साफ झलकती है। डा० सुनयात सेन जो गांधी जी की भांति चीनी क्रांति के नैतिक नेता थे महत्वाकांक्षी युआन के मार्ग से हट गये। क्रमशः युआन का रंग खुला। वह स्वेच्छाचारी होना चाहता था, प्रजा ने उसका विरोध किया, संताप से उसका देहांत हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् चीनी राज्यक्रांति को सफल बनाने का नेतृत्व च्यांग के हाथ में आया। सुन स्वर्गवासी हुए। उनकी स्मृति की पूजा होती रही। परंतु परिस्थिति बिगड़ती गई। चीन के सौभाग्य से सुन की विधवा जीवित हैं। कदाचित इस दूसरी क्रांति के परिणाम में वह अपने स्वर्गीय पति का मनोरथ प्राप्त कर सकें। अंतिम परिच्छेद को छोड़कर बाकी सब आज भी सत्य हैं। सम्पूर्णानंद जी की यह पुस्तक ऐसी है जिसका नवीन संस्करण होना चाहिए।

मिश्र की स्वाधीनता

भारत पर अंगरेजों का प्रभुत्व ब्रिटेन और भारत के मार्ग में मिश्र की स्वाधीनता अपहरण का कारण रहा। इस लिए सम्पूर्णानंद जी "मिश्र की स्वाधीनता" शीर्षक पुस्तक द्वारा हिंदी पाठकों को मिश्र के इतिहास, उसका स्वतंत्रता अपहरण और स्वतंत्रता आंदोलन का परिचय कराते हैं। पुस्तक सम्वत् १९७९ की लिखी हुई है। उस समय मिश्र को सीमित स्वतंत्रता मिल चुकी थी। इसका विवरण अंतिम अध्याय में है। मिश्रियों के आंदोलन का तो महत्व दिखाया गया है और यह मान्य भी है परंतु जिस प्रकार भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति में अप्रकट रूप से संयुक्त राज्य और शक्तिशाली रूस का प्रभाव रहा है उसी प्रकार मिश्र की स्वाधीनता प्राप्ति में फ्रांस का परोक्षरूप से सहयोग रहा है। पहले फ्रांस का ही दाँत मिश्र पर था, फ्रांस के शिकार पर ब्रिटेन ने हाथ मार दिया। इस लिए स्वभावतः फ्रांसीसी भी चाहते रहे कि मिश्र पर से ब्रिटेन का अधिकार उठ जाय।

१९२२ से अब तक मिश्र का स्वाधीनता आन्दोलन सफल रहा है। जो सन् १९२२ की स्वाधीनता में प्रतिबन्ध लगे हुए थे, वे भी अब शीघ्र हटने को हैं।

मिश्र के आधुनिक इतिहास पर कोई और हिन्दी पुस्तक मेरी जानकारी में नहीं है। पुरानी होते हुए यह अब भी पठनीय है।

जीवन-चरित्र

इन ऐतिहासिक पुस्तकों के बाद प्रसिद्ध भारतीय नरेशों की जीवनियाँ आती हैं।

"सम्राट अशोक" की रचना सं० १९८१ में सम्पूर्णानन्द जी ने समाप्त की। लेखक ने भूमिका में यह बात मानी है कि नई खोजों के परिणाम में उनकी लिखी पुस्तक के महत्व का समाप्त होना सम्भव है। परन्तु जितनी ब्योरेवार जगह इस पुस्तक में तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक दशा के विवरण में दी गई है, उससे इस पुस्तक का महत्व जिज्ञासु पाठकों के लिए अब भी है।

"सम्राट हर्षवर्धन" की बात दूसरी है। भारतीय विद्वानों ने अँग्रेजी में तो हर्षवर्धन पर लिखा है, दो पुस्तकों का पता मुझे ही है। परन्तु हिन्दी में इस पुस्तक के अतिरिक्त मुझे किसी और का पता नहीं है। इस पुस्तक की भूमिका का वर्ष सं० १६७६ है। उस समय सम्पूर्णानन्द जी बीकानेर में प्रधान अध्यापक थे। पुस्तक छोटी है। कुल ५७ पृष्ठ हैं। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए नहीं तो जनसाधारण के लिए उपादेय है ही।

प्राचीन भारत के नरेशों के जीवन चरित्र के बाद मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय नरेशों की जीवनियाँ आती हैं। इनमें सम्पूर्णानन्द जी ने दो व्यक्तियों को चुना है—छत्रसाल को इसलिए कि उन्होंने स्वतन्त्रता के लिये औरंगजेब से लोहा लिया और महादजी सिंधिया को इसलिए कि उसने पानीपत की मराठा पराजय के बाद फिर मराठा शक्ति पुनर्जीवित की और मुगल सम्राट को अपने संरक्षण में लिया।

"महाराज छत्रसाल" उनकी सं० १६७३ की रचना है और महादजी की जीवनी उन्होंने सं० १६७५ में लिखी; इन दोनों नरेशों पर भी अभी तक कोई अन्य हिन्दी पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई। रचना काल के बाद जो कुछ ऐतिहासिक खोज हुई है, उससे ये दोनों पुस्तकें पुरानी नहीं हो जातीं।

क्या कहें! बात खेद की है या मजे की, सम्पूर्णानन्द जी ने विज्ञान और गणित की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षक रहकर विज्ञान के अतिरिक्त इतिहास पर यथेष्ट साहित्य सृजन किया और उनकी प्रथम ऐतिहासिक पुस्तक उस समय की है जब वह अध्यापन का कार्य कर रहे थे। परंतु उनके शासन में हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी इने गिने शिक्षक ही साहित्य रचना करते हैं। बाकी सब यदि कुछ लिख सकते हैं तो गोंद और कैंची का काम ही करते हैं, पाठ्य पुस्तकें लिखते हैं पैसा पैदा करते हैं।

ऐतिहासिक श्रेणी की पुस्तकों के पश्चात् आधुनिक नेताओं के जीवन चरित्र आते हैं। इस श्रेणी में दो पुस्तकें आती हैं—"धर्मवीर गाँधी" और "देशबन्धु चितरंजनदास"। पहली पुस्तक मेरे सामने नहीं है और गाँधीजी विषयक जितना साहित्य हिंदी में है, उसके देखते हुए कदाचित् "धर्मवीर गाँधी" का सामयिक महत्व बहुत कम रह गया हो, परन्तु चितरंजनदास के पश्चात् बंगाल अपने और भारत के लिए किसी सर्वमान्य नेता को जन्म नहीं दे सका। पुस्तक का निर्माण चितरंजनदास के जीवनकाल में ही हुआ। उनके देहांत के पश्चात् हिन्दी में उनकी जीवनी मैंने कहीं पुस्तकाकार नहीं देखी। यों यह पुस्तक सं० १६७८ में लिखी जाने पर भी आज अपना महत्व रखती है। इस जीवन चरित्र में चितरंजन विषयक सं० १६७८ तक की ही घटनाओं का जिक्र है। और उसी सम्वत् में सम्पूर्णानन्द जी ने नौकरी छोड़कर कांग्रेस के गांधी मार्ग में पदार्पण किया था। कुछ समय पश्चात् गाँधी जी से चित्तरंजन का मतभेद हो गया और मोतीलाल जी नेहरू के साथ वह गांधी जी के विरुद्ध स्वराज्य पार्टी के नेता हुए। इस जीवनी में चित्तरंजन जी दिव्य रूप में ही दर्शन देते हैं, उनमें छाया का हमें लेशमात्र नहीं दिखाई देता। आलोचक और पाठक यह मानसिक सट्टा कर सकते हैं कि यदि सम्पूर्णानन्द जी को आज इस पुस्तक का दूसरा संस्करण निकालने का अवसर मिले तो खिलाफत को स्वराज्य से मिलाने, चित्तरंजनके गाँधी से मतभेद होने, और स्वराज्य पार्टी की असफलता के पश्चात् नेताओं के फिर गांधी मार्ग में आ जाने—इन विषयों को लेकर चित्तरंजन की जीवनी वह किस प्रकार संशोधित और परिवर्धित करते। राजनीति में अवसरवाद की गांधी जी ने निन्दा की है। परन्तु सन् १६२१ में भी ऐसे लोग थे जिन्होंने स्वतंत्रता के आंदोलन के साथ खिलाफत मिलाना अवसरवाद माना। यह ठीक है कि कालांतर में स्वराज्य का खिलाफत से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और अंतिम परिणाम में देश विभाजित होकर ही स्वतंत्र हुआ।

राजनीति विषयक रचनाएँ

आधुनिक नेताओं की जीवनियों के पश्चात् सम्पूर्णानन्द जी की राजनीति–विषयक रचनाएँ आती हैं। सम्पूर्णानन्द जी की रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट स्थान उनके दार्शनिक ग्रन्थों को मिलना चाहिये। यद्यपि उनकी सब रचनाएँ दार्शनिकता से ओत प्रोत हैं, क्योंकि वह बहुत पुराने दार्शनिक हैं, परंतु उनकी राजनीति विषयक रचनाएँ आगे चलकर निर्मित दार्शनिक ग्रंथों से अधिक सुबोध है, अधिक लोकप्रिय है, उनपर उनके राजनैतिक जीवन के अनुभव की छाप है। सं० १९७८ में राजनैतिक क्षेत्र में उतर कर भी सम्पूर्णानन्द जी शिक्षण कार्य से निवृत्ति नहीं लेते। वह काशी विद्यापीठ के शिक्षण कार्य में लग जाते हैं और अपना अध्यापन क्रम बनाये रखते हैं, विद्यार्थियों को राजनीति और दर्शन पढ़ाते हैं परंतु इतने से वह इति कर्तव्य नहीं हो जाते। वह वयस्क नागरिकों तक भी अपने राजनैतिक विचार पहुंचाना चाहते हैं, अतएव वह पुस्तक रचना करते हैं। इस उद्देश्य से लिखी पुस्तकें सुबोध होनी चाहिये और यही उनका प्रधान गुण है।

सम्पूर्णानन्द जी की कृतियों में जो इस श्रेणी में आती हैं वे हैं—हिंदी में—भारत के देशी राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय विधान, व्यक्ति और राज, समाजवाद; और अँगरेजी में—व्यक्ति और राज का अँगरेजी संस्करण The Individual and the state तथा when we are in Power.

भारत के देशी राज्य

इस श्रेणी में "भारत के देशी राष्ट्र" रचनाक्रम में पहले आती है। रचना का संवत् है १९७४। इस समय सम्पूर्णानन्द जी इंदौर के डेली कालेज में अध्यापक थे। प्रथम अध्याय में राजा के दायित्व का निरूपण है। सत्ता जनता की ही है, राजा की राजसत्ता ईश्वरदत्त नहीं है, यह सिद्ध किया गया है। फिर किस प्रकार देशी राष्ट्र अँगरेजी सरकार के संरक्षण में आये, इसका विवरण है, इसके पश्चात् देशी राज्यों के अधिकारों और कर्तव्यों पर सम्पूर्णानन्द जी की व्यवस्था है। पुस्तक उस समय की लिखी हुई है जब भारतीय जनता को शासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। उस समय देशी राज्यों की व्यवस्था से ही देशभक्त प्रसन्न थे। राजा स्वेच्छाचारी सही, परंतु अपने ही हैं; उनसे भारतीय नेताओं की सहानुभूति थी। कहीं कहीं देशभक्तों को इन राज्यों में आश्रय मिलता था, जनसेवा करने के अवसर भी मिलते थे। इस भावना की झलक प्रस्तुत पुस्तक में भी मिलती है। यह एक मनोरंजन की बात है कि जिस अनुपात से देश के भीतर स्वतंत्रता आंदोलन का जोर बढ़ता रहा और शासन में भारतीय नेताओं के अधिकार बढ़ते रहे, उसी अनुपात से देशी राज्यों के प्रति हमारे नेताओं की सहानुभूति घटती रही। संघर्ष के तीव्र होने पर ब्रिटिश सत्ता ने देशी नरेशों का सहारा लिया, उनकी श्रेणी द्रोहियों में हुई और देश के स्वतंत्र होने पर उनकी सत्ता भी समाप्त हो गई। देशी राज्यों के इतिहास का यह उत्तरार्द्ध भी उतना ही मनोरंजक होना चाहिए, यदि इस अप्राप्य पुस्तक के द्वितीय संस्करण की नौबत आवे।

तत्कालीन महत्व की दूसरी पुस्तिका When we are in Power मेरे सामने है। पुस्तिका का दाम है—दो आने। छोटी सी है, उस समय की लिखी हुई है जब गणेशशंकर जी विद्यार्थी जीवित थे। प्रान्तीय शासन के कुछ विभागों पर उदार दल के नेताओं को दिखावटी अधिकार मिला हुआ था। परन्तु कांग्रेस का इस दिखावट से विरोध और असहयोग था। कांग्रेसी नेताओं को उस समय आशा न थी कि उन्हें अपने जीवन काल में शासन पर अधिकार प्राप्त करने का सुवर्ण अवसर मिलेगा। यह अवसर अल्पकाल के लिए उन्हें १९३८ में मिला और पक्के रूप में ८ वर्ष बाद। यों इस पुस्तिका के अध्ययन से पाठक को विशेष मनोरंजन होना चाहिए।

कांग्रेसी कार्यकर्ता की हैसियत से सम्पूर्णानन्द जी ने सुधार क्रम के जिस आदर्श की रूप रेखा इस पुस्तिका में चित्रित की है, उसके कुछ अंशों में तो कांग्रेस को सफलता मिल चुकी है। जमींदारी समाप्त हो रही है, यद्यपि चकबन्दी का काम अभी हाथ में नहीं लिया गया है। मजदूरों की रक्षा करने का बहुत कुछ प्रबन्ध किया गया है, यद्यपि उनकी कार्य परायणता में उन्नति नहीं हो सकी है। मद्य निषेध का सूत्रमात्र हो चुका है। व्यवसायों को हाथ में लेने का काम भी राष्ट्रीय सरकार ने प्रारम्भ किया है, परन्तु इसमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली है। दूसरे भाग में भावी स्वतन्त्र भारत के शासन विधान पर भी लेखक ने अपने विचार प्रकट किए हैं। जो शासन विधान तैयार हुआ है, वह सम्पूर्णानन्द जी के आदर्श से कहाँ तक अलग है यह विचारणीय है, यद्यपि देशी राज्यों के सम्बन्ध में हम उनके आदर्श के आगे बढ़ गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान

इन पुस्तकों के अतिरिक्त राजनीति पर स्थायी महत्व की कृतियाँ हैं— "अन्तर्राष्ट्रीय विधान", "समाजवाद" और "व्यक्ति और राज्य"

सम्पूर्णानन्द जी ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रथम संस्करण की भूमिका सं० १९८१ में लिखी। उस समय भारत स्वतन्त्रता के प्रथम चरण तक भी नहीं पहुँचा था और गांधी जी के नेतृत्व में लेखक स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन में सम्मिलित थे। इस परिस्थिति में उनकी पुस्तक पाठशालाओं में पढ़ने की ही चीज़ थी, यद्यपि इसकी पढ़ाई मना थी। भारत के स्वतन्त्र होने पर अन्तर्राष्ट्रीय विधान का महत्व सक्रिय हो जाता है। अतएव मेरे सामने सम्वत् २००४ का संशोधित संस्करण ही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान पर यह पुस्तक अपना मौलिक महत्व रखती है। अंगरेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में बहुत सी पुस्तकें हैं, प्रामाणिक भी हैं, परन्तु द्वितीय महासमर के परिणाम में अन्तर्राष्ट्रीय विधान बहुत कुछ परिवर्तित हुआ है। लीग आव नेशंस के जगह पर संयुक्त राष्ट्र संघ है और राष्ट्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय अनुशासन न होने के कारण जो जन-धन हानि हुई है, उसके परिणाम में जन मत अब बहुत कुछ इस अनुशासन के पक्ष में हो गया है। यह सब और जो कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में दो वर्ष पहले तक परिवर्तन हुए हैं, उन सबका इस ग्रन्थ में समावेश है। इस ग्रन्थ का अध्ययन ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों को तो करना ही चाहिए, वयस्क नागरिकों को भी इससे परिचित होना चाहिए। हमारा स्वतन्त्र राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय अनुशासन का समर्थक है। पाकिस्तान और भारत के मध्य कई उलझनें हैं। इन सबको ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही हल होना है। भारत और दक्षिण अफ्रीका के मध्य भी ऐसी ही उलझन है, इन उलझनों को हमारे शासक जिस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसे समझने के लिए, उस पर जन मत प्रकट करने के लिए, यह आवश्यक है कि जनता को अन्तर्राष्ट्रीय विधान की जानकारी हो, प्रस्तुत पुस्तक जन साधारण की इस आवश्यकता की पूर्ति करती है, बहुत बड़ी नहीं है, ४०० से कम पृष्ठ हैं, सुबोध है, भारतीय गांधीवादी है, अतएव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की प्रस्तुत पुस्तक में इसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से परीक्षा होती है।

समाजवाद

अंतर्राष्ट्रीय विधान के पश्चात् और सामयिक महत्व की दृष्टि से उससे कुछ नीचे उनकी "समाजवाद" शीर्षक पुस्तक है। पहले संस्करण की भूमिका सं० १९९३ में लिखी गई। सम्पूर्णानन्द जी बाजार के लिए नहीं लिखते। अतएव बिक्री की दृष्टि से आपके सभी ग्रंथ कमजोर हैं। परंतु इन सबमें समाजवाद का सबसे अधिक

प्रचार हुआ है। मेरे सामने चौथा संस्करण है। समाजवाद पुस्तक में, व्याख्यान में जनप्रिय अवश्य है, परंतु सक्रिय रूप में क्या वह उतना ही जनप्रिय हो सकता है, यह संदिग्ध है। सम्पूर्णानन्द जी ने राज्य और पूंजीके विकास की जो व्याख्या की है उसमें मतभेद हो सकता है। अभी तक राज्याधिकार शोषक वर्ग को ही प्राप्त हुआ है। संसार में आदिकाल से अब तक, पढ़ाई लिखाई के होते हुये भी, मूर्खों की संख्या चतुरों से अधिक रही है। जिस प्रकार मानव ने पशुवर्ग, जंतुवर्ग से संख्या में कम होकर भी इन पर शासन किया, इनका शोषण किया। उसी प्रकार मानव समाज के भीतर भी चतुरों की संख्या मूर्खों से कम होते हुए भी, चतुरों ने ही मूर्खों पर शासन किया, उनका शोषण किया। जब तक पशु पालन आय का प्रधान साधन रहा, तब तक चतुर वर्ग ने पशुओं पर अधिकार किया, धेनु और धन पर्यायवाची शब्द हो गये, गोष्ठ में ही गोष्ठी होती रही। जब मानव ने खेती सीखी, तो पृथ्वी प्यारी हो गई। और उस पर अधिकार चतुर भूसुर और भूपति ने बाँट लिया। मूर्ख वर्ग वैश्य और शूद्र में बँट गया। योरप में, भारत में यों ही हिस्सा बाँट हुआ। भेद यही रहा कि पूंजी और राज्य में लक्ष्मी और शक्ति का निवास है। दोनों चंचला हैं, एक घर में नहीं रहती, परंतु भारत में उन्हें एक घर में रखने का प्रयत्न किया गया और जाति-व्यवस्था को जन्म दिया गया। तो भी लक्ष्मी और शक्ति सदा स्मृतिकारों के बंधन से मुक्त रहीं। भूसुरो और भूपतियों में जो मूर्ख हुए वे पानी भरने लगे, चौकी-दारी करने लगे; वैश्यों और शूद्रों में जो चतुर हुए, उनके हाथ में पूंजी और शक्ति दोनों आई, वर्ण वर्ग में भी वे उठाये गये।

ब्रिटेन में व्यावसायिक क्रांति हुई, क्रमशः वह पूरे संसार में व्याप्त हुई। अब पृथ्वी पूंजी और शक्ति का प्रधान साधन न रही। दोनों व्यवसाय और व्यापार के पास पहुँचीं। व्यवसायी और व्यापारी वर्ग ने "जनमत" की सहायता से सामन्तों को, भूपतियों को पदच्युत किया, पूंजीपति हुए राज्यशक्ति भी परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में उनके हाथ आई। मशीन युग में शोषित श्रमिक अशिक्षित रह कर अच्छा काम नहीं कर सकते थे; अतएव शिक्षा का प्रचार हुआ। शोषित वर्ग को अपनी कष्ट-कथा कहने का अवसर मिला। अपने रोग के चिकित्सक बदलने का अवसर मिला। चतुर शोषकों में दो वर्ग हुए। बारी बारी से वे शासन करते रहे और मूर्ख शोषितों को चकमे देते रहे, कई मेल की घूँस भी देते रहे। व्यापार और साम्राज्य की लूट में उनका भाग बढ़ाते रहे, उन्हें अपना मत प्रकट करने, अपने संघ बनाने के अधिकार भी देते रहे। शोषित श्रमिकों और शक्ति प्राप्त पूंजीपतियों के बीच मध्यवर्ग सदा से चला आ रहा था। जहां कहीं यह मध्यवर्ग पुष्ट रहा वहां मूर्ख शोषितों और चतुर शोषकों का संघर्ष क्रान्ति का रूप धारण नहीं कर सका, क्योंकि मध्यवर्ग दोनों का रक्षक था। जहां यह वर्ग नहीं के बराबर था, वहां क्रान्ति हो गई, शोषितों के हाथ में पूंजी और शक्ति दोनों आ गये यों समाजवाद को रूस में सक्रिय होने का अवसर मिला।

परन्तु रूस हो या जापान—चतुरों और मूर्खों का अनुपात तो वही रहा। जब शोषित वर्ग के हाथ में पूंजी और शक्ति आ गई, तब भी बुद्धि और चातुर्य की आवश्यकता रही। जिनके पास बुद्धि थी, उन्हीं को राज्य की पूँजी से उत्पादन करने और उसकी शक्ति से समाज में व्यवस्था स्थापित करने का अवसर मिला। इस व्यवस्था में दलबन्दी की कोई ज़रूरत न थी। मूर्ख वर्ग को श्रम करने और शासन में सहयोग देने का कर्तव्य मिला: चतुर वर्ग, अर्थात् वेतन भोगी शासकदल, को शासन उत्पादन और वितरण का अधिकार मिला। यह कैफ़ियत इस समय रूस की है। क्रांति के पश्चात् समाजवादी रूस ने जितनी आर्थिक उन्नति की है शोषित किसानों और मजदूरों को जितना कुछ ऐहिक सुख की प्राप्ति हुई है, उनका नैतिक बल भी जितना कुछ भी पुष्ट हुआ है—और यह उनके जर्मन बैरी को परास्त करने से प्रत्यक्ष हो जाता है—इस सबके परिणाम

में हमारी समाजवादी व्यवस्था के प्रति श्रद्धा हो जाती है। परन्तु इस परिणाम के लिये रूसी श्रमिकों और किसानों को—कल के शोषितों को—जितना घोर नियन्त्रण सहना पड़ा है, प्रकट रूप में जितना अत्याचार सहना पड़ा है, उसका अनुमान करना भारतवर्ष के समाजवादी दल के नेताओं और अनुयायियों के लिए कठिन है। कहा जाता है कि रूसी तन्त्र का लौह शासन उसके चारों ओर से साम्राज्यवादी पूँजीवादी देशों से घिरे रहने के कारण है। सम्पूर्णानन्द जी ने जिस समाजवादी स्वर्लोक की समाजवाद में कल्पना की है, उसमें अशोषित नागरिक व्यक्ति इतना कर्तव्यशील हो जाता है कि राज्य के अनुशासन की आवश्यकता नहीं रहती, वह स्वयं ही अपना अनुशासक होता है। राज्य शून्य हो जाता है। रूसो से लेकर आज तक आदर्शवादी राजनीतिज्ञ राज्य को शून्य करने की कल्पना करते आ रहे हैं। परन्तु मानव की जितनी पाशविकता दो सौ वर्ष पहले थी, उसमें कोई विशेष कमी नहीं हुई है। वैज्ञानिक अन्वेषणों के साथ मशीन शक्ति पर उसका उत्तरोत्तर अधिकार बढ़ने से सामाजिक जीवन की जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं और राज्य का क्षेत्र संकुचित होने के बदले विस्तृत होता जा रहा है, व्यक्ति स्वतन्त्र होकर अपने व्यक्तित्व की महत्ता अधिकाधिक परिणाम में राज्य को समर्पित करता जा रहा है।

जब आदर्शवादी राजनीतिज्ञ राज्य की शून्यता की कल्पना करते हैं तो वे मानव-सृष्टि के मौलिक तत्व को भूल जाते हैं। मानव सृष्टि के विज्ञान को अंग्रेज़ी में Eugenis कहते हैं। अभी तक इस विज्ञान को इस बात का पता नहीं लगा है कि नैतिक, मानसिक और शारीरिक निर्बलों की उत्पत्ति किस प्रकार घटाई जाय, उनकी जगह सबलों की सृष्टि किस प्रकार हो। निर्बलों का अनुपात वही है जो पौष्टिक ओषधियों के आविष्कार के पहले था। एक गांधी सैकड़ों वर्ष पश्चात् भारत में अवतरित हुए। करोड़ों न कभी हुए हैं, न होंगे।

जब वयस्कों को वोट देने का अधिकार मिल जाता है तो शासन को मूर्खों के आधिपत्य से बचाने की नितान्त आवश्यकता रहती है। मूर्ख तो अधिकार पाने से रहे, दुष्ट उनको बहका कर शासन की बागडोर अपने हाथ में ले सकते हैं। शोषित वर्ग को स्वतन्त्र करने पर उसे दुष्टों से बचाने की आवश्यकता पड़ती है। अतएव यह वर्ग अपना दल संगठित करता है। श्रेष्ठतम व्यक्तियों के हाथ नेतृत्व सुपुर्द करता है। और उनका अनुशासन स्वीकार करता है। यों अफलातून की Republic की सृष्टि करने का प्रयत्न किया जाता है।

भारतीय व्यक्ति पर जितना अनुशासन अंग्रेजी शासन पर था, उससे अधिक देश के स्वतन्त्र होने पर है, उससे अधिक देश में समाजवाद या समष्टिवाद Communism के सफल होने पर होगा। जो समाजवादी प्रजातन्त्र के नाम पर नागरिक के स्वत्वों की रक्षा की दुहाई देते हैं, वे या तो उसे बहकाते हैं, या स्वयं नासमझ हैं। सम्पूर्णानन्द जी ने अन्तिम अध्याय में शुद्ध समाजवाद को बतला करके पेय बनाने का प्रयत्न किया है, और परोक्ष रूप में जिस प्रकार कांग्रेस समाजवादी मार्ग की ओर जारही है, उसकी हिमायत की है। यों पाठक को समाजवादी स्वर्लोक से उतर कर जीवित यद्यपि क्लेशपूर्ण मृत्युलोक पर पैर रखने का अवसर मिलता है। [इस समय पूँजीवादी देश और पूँजीपति समाजवाद की बाढ़ से त्रस्त हैं। वे उसे रोकने में प्रयत्नशील भी हैं, परन्तु काल की प्रगति उसी ओर है। दार्शनिक सम्पूर्णानन्द जी ने "समाजवाद" में भावी सामाजिक व्यवस्था का निरूपण करके हिन्दी भाषी जनता की अनन्य सेवा की है।]

व्यक्ति और राज्य

समाजवाद की संगिनी पुस्तक है, "व्यक्ति और राज" इस पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण The Individual and the State एक बार पढ़ने में आया है और हिंदी संस्करण मेरे सामने है। आज नागरिक अपने

अधिकारों के लिए धूम मचा रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि उसे समाज तथा उसके प्रतिनिधि राज्य के प्रति क्या कर्तव्य करने हैं इसकी फिक्र नहीं, जितनी राज्य से, समाज से, अधिकार प्राप्त करने की। इस सम्बंध में सम्पूर्णानन्द जी ने अधिकार की जो व्याख्या की है, वह मनन करने योग्य है। आप कहते हैं कि नागरिक के अधिकार केवल उसके वे साधन हैं, जिनके प्रयोग से वह अपने कर्तव्य का पालन कर सकता है। यों उसे अधिकार केवल अर्थ या शक्ति प्राप्त करने के लिए नहीं मिलते, यदि अर्थ और शक्ति प्राप्त भी होते हैं तो इसलिए कि उनकी सहायता से वह अपने कर्तव्य का निर्वाह कर सके। शिक्षालय से विद्या लाभ करना नवयुवक का अधिकार है, परंतु यह अधिकार उसे इसलिए ही मिलता है कि आगे चलकर वह समाज सेवा कर सके, होनहार संतानों का सृजन और पालन कर सके। इस व्याख्या से नागरिक जीवन में कर्तव्य का महत्व बढ़ता है। सम्पूर्णानन्द जी की यह पुस्तक देश के स्वतंत्र होने के पहले की लिखी हुई है। जब तक देश स्वतंत्र नहीं हुआ था, तब तक व्यक्ति के अधिकार की रक्षा करना बहुत आवश्यक था। विदेशी शासन में यदि नागरिक का व्यक्तित्व मिट जाय तो उस शासन की जड़ें पाताल तक पहुँच जायें। परन्तु देश के स्वतंत्र होने पर व्यक्ति को इतने ही अनुपात से स्वतंत्रता मिलनी चाहिये, उसके व्यक्तित्व की उतनी ही रक्षा हो, जिससे उसकी अन्तरात्मा उस पर अनुशासन करने में सफल हो। ऐसे व्यक्तियों की संख्या चिरकाल से स्वतंत्र देशों में भी कम होती है। ऐसे देश में वह और भी कम हो जाती है जहां विदेशी शासन की छाया में व्यक्ति का यथेष्ट नैतिक पतन हो चुका है, शिक्षा से नैतिक उन्नति हो सकती है, परंतु शिक्षा के नाम पर पढ़ाई ही होती है, जिससे उसकी मानसिक शक्ति तो अवश्य विकसित होती है, परन्तु उसके साथ नैतिक शक्ति का विकास नहीं होता, देश में पढ़ाई का भी अभाव है। इस कारण अधिकांश व्यक्ति दुष्टों के बहकावे में आ सकते हैं। नैतिक मूर्ख तो हैं ही, मानसिक मूर्ख भी हैं। ऐसे देश में अधिकार की जो व्याख्या सम्पूर्णानन्द जी ने की है, उसका प्रचार होना चाहिये। कर्तव्य को आगे आना चाहिए, यह कल युग है और कलियुग भी है। पृथ्वी पर मानव का भार बढ़ता जारहा है। इस प्रगति में ब्रिटेन और संयुक्तराज्य जैसे देशों में जहां व्यक्ति ने यथेष्ट अधिकार पा लिये थे, व्यक्ति पर राज्य का अनुशासन बढ़ रहा है, इस देश में जहां राज्य को स्वतंत्र हुए दो वर्ष ही बीते हैं और व्यक्ति के व्यक्तित्व पर विदेशी शासन के वातावरण की यथेष्ट छाया अभी तक बनी है, व्यक्ति पर राज्य का अनुशासन नितांत आवश्यक है। जिस अनुपात में अनुशासन विफल होता है उसमें ही व्यक्ति और राज्य की हानि होती है, उसकी स्वतन्त्रता के अपहरण होने की आशंका बढ़ती है।

विज्ञान विषयक पुस्तकें

राजनीति के पश्चात् विज्ञान विषयक पुस्तकें आती हैं, इस श्रेणी में दो पुस्तकें हैं—"भौतिक विज्ञान" और "ज्योतिर्विनोद"।

भौतिक विज्ञान और ज्योतिर्विनोद में सम्पूर्णानन्द जी की कालेजी शिक्षा सफल होती है। आप सं० १९६८ में विज्ञान और गणित लेकर बी० एस-सी० की डिग्री लेते हैं। फिर कुछ वर्ष अध्यापन करने के पश्चात् सं० १९७२ में इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज से एल० टी० होते हैं। उस समय श्यामसुन्दर दास जी उस संस्था के प्रधानाध्यापक थे, जिसका उत्तराधिकार मुझे उनसे सं० १९७८ में मिला। श्यामसुन्दर दास जी ने आपकी योग्यता ताड़ ली और अपनी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित मनोरंजन पुस्तकमाला की १० वीं और २३ वीं पुस्तकें आपसे लिखवाईं। "भौतिक विज्ञान" दसवीं है और "ज्योतिर्विनोद" २३ वीं। "भौतिक-विज्ञान" के सम्बन्ध में यही कहना है कि उस समय हिंदी शिक्षा का माध्यम नहीं थी। विज्ञान अंग्रेजी में ही

पढ़ाया जाता था। हिंदी में विज्ञान पर कोई पुस्तक नहीं थी। विज्ञान की पढ़ाई भी बहुत कम थी। पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई थी। परन्तु कठिनाइयों ने सम्पूर्णानन्द जी को हतोत्साह नहीं किया। प्रस्तुत पुस्तक का स्तर उस समय की हाई स्कूल परीक्षा के योग्य अवश्य था।

भौतिक विज्ञान की भूमिका में तिथि नहीं दीगई है। प्रकाशन सन् १९१६ दिया हुआ है। ज्योतिर्विनोद का प्रकाशन सन् १९१७ में हुआ। भूमिका में तिथि दी हुई है—फाल्गुन कृष्ण ४ सम्वत् १९७३। उस समय सम्पूर्णानन्द जी इन्दौर में अध्यापक थे। मैं दस वर्ष से अधिक Education नामक मासिक पत्रिका का अवैतनिक सम्पादक रहा हूं। उत्तरप्रदेश में कितने अध्यापक ढेरों छुट्टियाँ पाते हुए भी कितना कम लिखते हैं, कितना अच्छा लिखते हैं, इसका मुझे कटु अनुभव है। सम्पूर्णानन्द जी अब उनके नेता हैं; और कुछ न सही, उनसे स्वाध्याय और साहित्य सेवा का पाठ तो पढ़ ही सकते हैं।

ज्योतिविनोद का नामकरण सार्थक है। ज्योतिष सम्पूर्णानन्द जी के विनोद की वस्तु रही है। अखिल विश्व की जो झलक आपको स्वच्छ अमावस्या की रात्रि में मिलती है, वह आपके आत्मचिंतन में सहायक होती है। तारे किस प्रकार आकाश में अपना स्थान बदलते रहते हैं, इससे आप अपना मनोरंजन करते हैं, अपनी सीमित मित्र मण्डली को भी आप इस मनोरंजन का कुछ भाग दे देते हैं।

सम्वत् १९७३ तक ज्योतिष में जो कुछ खोज हुई थी उसके आगे बहुत कुछ खोज अब तक हो चुकी है। ज्योतिष के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों ने प्राचीन काल में जो खोज की, वह संसार को हमारी वैज्ञानिक देन रही। परंतु आधुनिक भारतीय ज्योतिषी फलित ज्योतिष के ही पीछे पड़े रहते हैं, यद्यपि उसमें वैज्ञानिक तथ्य के प्रमाणित करने में विशेष रूप से सफल नहीं हुए हैं। गणित ज्योतिष पर सम्पूर्णानन्द जी के अतिरिक्त हिंदी के दो ही विद्वानों की खोज का मुझे पता है—डा० गोरखप्रसाद और स्वर्गीय महावीरप्रसाद श्रीवास्तव। डा० गोरखप्रसाद की कृति तो प्रकाशित है। श्रीवास्तव जी ने सौर जगत का विशेष अध्ययन किया था। यथेष्ट परिमाण में सामग्री भी इकट्ठी कर ली थी। मालूम नहीं उनकी कृति का प्रकाशन हुआ कि नहीं। गणित ज्योतिष जन प्रिय नहीं है, अतएव इस विषय पर प्रकाशन होने पर न लेखक को कुछ प्राप्ति हो सकती है, न प्रकाशक को। प्राचीन काल में इस विषय को राज्याश्रय प्राप्त होता था। साधारण जनता को ज्योतिष की जितनी जानकारी आवश्यक है, उसके लिये यह ढाई सौ पृष्ठों की छोटी पुस्तक यथेष्ट है। परंतु स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र अतीत के विचार से ज्योतिष में इसे अग्रगामी नहीं तो, उन्नतिशील देशों का सहगामी अवश्य होना चाहिये।

दार्शनिक ग्रंथ

कहने को तो मैं सम्पूर्णानन्द जी की पुस्तकों का परीक्षक हूं, वास्तव में पुस्तकें ही मेरी परीक्षा ले रही हैं। परीक्षार्थियों का स्वभाव है कठिन प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न उत्तर पुस्तक के अन्त में करना। यही मैं कर रहा हूं। अन्य विषयों पर लिखी पुस्तकें तो मेरी समझ में थोड़ी बहुत आ गईं, परंतु दार्शनिक ग्रंथ सम्पूर्णानन्द जी के आजीवन स्वाध्याय की प्रौढ़ देन हैं। मैंने इनके पढ़ने में जितना समय लगाया उतना और किन्हीं ग्रंथों में नहीं। परंतु इतना करने पर भी ये ग्रंथ बहुत कम समझ में आये। दार्शनिक श्रेणी में पाँच ग्रंथ आते हैं वे हैं—दर्शन और जीवन, Cosmagony in Indian thought भारतीय सृष्टिक्रम विचार, चिद्विलास तथा उसका संस्कृत संस्करण और ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त की श्रुतिप्रभा टीका।

दर्शन और जीवन को सम्पूर्णानन्द जी के दार्शनिक विचारों की भूमिका समझिए, यह यों प्रत्यक्ष हो जाता है कि बाकी पुस्तकों की भूमिका तिथियाँ इस पुस्तक के बाद की हैं, दर्शन और जीवन की जन्म तिथि है

सेन्ट्रल प्रिज़न फतेहगढ़, ४ चैत्र (सौर) १९९७, भारतीय सृष्टिक्रम विचार की तिथि है जालिपादेवी, काशी १५ चैत्र (सौर) १९९८; योरपीय विद्वानों के लिए भारतीय सृष्टिक्रम विचार की जानकारी आवश्यक थी· अतएव उसी विषय को लेकर अँगरेजी में Cosmagony in Indian thought की रचना हुई। जन्मतिथि है, जालिपा देवी बनारस, २७ चैत्र, १९९८। दार्शनिक ग्रन्थों में चिद्विलास सम्पूर्णानन्द जी की चौथी रचना है। उसकी तिथि है, सेन्ट्रल प्रिज़न, बरेली २३ वृश्चिक, २०००। इसके पश्चात् पुरुष सूक्त की श्रुति प्रभा टीका श्रय तक सम्पूर्णानन्द जी की अन्तिम पुस्तक रही है। भूमिका तिथि है, बरेली सेन्ट्रल प्रिज़न १६ आषाढ़ (सौर) २००० वि०, यद्यपि प्रकाशन चार वर्ष बाद सं० २००४ में हुआ है।

दर्शन और जीवन

दर्शन और जीवन में सम्पूर्णानन्द जी ने दर्शन की व्यावहारिकता की व्याख्या की है। दर्शन वहाँ प्रारम्भ होता है, जहाँ विज्ञान, सदाचार और कला एक दूसरे से मिलकर जिज्ञासु की अन्तरात्मा को उस स्रोत से निकलते अनुभूत होते हैं जो अनादि और अनन्त हैं। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं, जो सत्य है वही कल्याण है, वही सुन्दर है। विज्ञान के अध्ययन से सत्य की खोज होती है, सदाचार की अन्तिम विवेचना करने पर हम उसी तथ्य पर पहुँचते हैं जो वैज्ञानिक खोज से हमें प्राप्त होता है। फिर सौन्दर्य की विवेचना करने पर हम उसे वहां पाते हैं जहाँ हमें सत्य और शिव की भं फलक मिले। यों पुस्तक को तीन खण्डों में विभक्त करके प्रथम खण्ड सत्यम् के भीतर भौतिक विज्ञान, गणित, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, न्याय और योग की व्याख्या करते हुए हम अद्वैतवादी दर्शन तक पहुँचते हैं। फिर दूसरे खण्ड में शिवम् के भीतर सदाचार विभिन्न कसौटियों पर कसा गया है। वह धर्मांशा पर आश्रित है, लोकमत पर है या प्रेम ही उसकी कसौटी है। फिर आचार का दायित्व किस पर है; यदि प्रारब्ध पर तो क्या मानव पुरुषार्थहीन है, क्या निश्चय में स्वतंत्र नहीं है—इस विषय की टीका करते हुए सम्पूर्णानन्द जी ईश्वर को हमारे कर्मों से युक्त करते हैं। व्यक्ति के सदाचार पर राज्य का नियंत्रण है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में भी राज्य सदाचार के दायित्व से मुक्त नहीं है—यह सम्पूर्णानन्द जी सिद्ध करते हैं।

सदाचार का स्वरूप निश्चित करने में अंतरात्मा को इतनी स्वाधीनता नहीं है, जितनी समझी जाती है। कभी कभी कर्तव्यों में पारस्परिक संघर्ष होता है और मानव धर्म-संकट में पड़ जाता है। ऐसे धर्म संकट में कौन निर्देश उसके सहायक हो सकते हैं, इसकी व्याख्या लेखक करते हैं। यदि आत्मानंद ही सदाचार का लक्ष्य है तो इस आनन्द की व्याख्या करने में भी कठिनाई पड़ती है। इसी प्रकार विवेक बुद्धि के सहारे की परख की जाती है; नैष्काम्य भाव की भी इस प्रकार की परख होती है। अन्त में सम्पूर्णानन्द जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "सदाचार" का यही लक्षण है अच्छे काम का इसी में अच्छापन है कि वह अद्वैतभावना से ओत प्रोत रहता है, जगत के सत्य स्वरूप का दर्पण होता है। जिस समय मनुष्य अपने पृथक पन को जितना ही भूल जाता है उस समय उसके काम में उतना ही अच्छापन होता है। यों सत्यम् से शिवम् का सम्बन्ध स्थापित होता है।

अन्त में तृतीय खण्ड में सुन्दरम् के भीतर कला की परख की गई है अनुभूति के सत्यम् और शिवम् का वह अंश जो भावना पर अंकित होता है और इसलिए अवर्णनीय है, सौन्दर्य है, चित्त की रेखाएँ यदि किसी कल्पित मानव या दृश्य का चित्रण करते हुए प्रकट रूप से असत्य कही जायँ—और कला के आवरण में असत्य का प्राधान्य रहता है—तो भी वे रेखाएँ जिस आंतरिक भाव को जाग्रत करती हैं यदि उसकी सत्यता ध्रुव है, तो यह चित्र सुन्दर है, जाग्रत भाव की अनुभूति में मानव कल्याण भी है।

इधर एक दिन एक कला प्रदर्शिनी के उद्घाटन के अवसर पर सम्पूर्णानन्द जी ने कला के इस रूप की ही व्याख्या की। यह व्याख्या एक कलाकार ने नापसन्द की। कला कला के लिए ही है, सत्यम् और शिवम् सुन्दरम् के आवश्यक अंग नहीं हैं, यह उन कलाकार का विचार है। ऐसी ही धारणा बहुत से अन्य कलाकारों की भी है, परंतु इस धारणा के कारण कला द्वारा अनाचार का बहुत कुछ पोषण हुआ है, यह भी मानना पड़ेगा। सत्यम् और शिवम् ही सुन्दरम् की कसौटी है, यही ध्रुव सत्य है, इसी कसौटी पर सम्पूर्णानन्द जी काव्य, संगीत, चित्रकारी और शिल्प जैसी कलाओं को कसते हैं और अपना मत सिद्ध करते हैं।

मानव की मानसिक क्रिया तीन धाराओं में बहती है; बुद्धि से सत्य की खोज होती है; विवेक से आचार निश्चय होता है और शिवम् की प्राप्ति होती है; भावना से सौंदर्य की अनुभूति होती है। तीनों अंतरात्मा में जो व्यापक चेतन का अंशमात्र है, एक हो जाते हैं। अतएव सम्पूर्णानन्द जी के अद्वैतभाव में मानसिक क्रिया के ये तीनों अंग एक हो जाते हैं और यही ध्रुव सत्य है।

भारतीय सृष्टि क्रम विचार

सम्पूर्णानन्द जी अद्वैतवादी दार्शनिक हैं। इस अद्वैतवाद की विस्तृत व्याख्या भारतीय दर्शनों में है, परंतु उसका मूल ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है। यह दशवें मण्डल का एक सौ उंतीसवाँ सूक्त है। इस सूक्त की विस्तृत टीका सम्पूर्णानन्द जी "भारतीय सृष्टि क्रम विचार" में करते हैं, फिर दर्शनों में जिस प्रकार सृष्टिक्रम पर विचार किया गया है, उसकी व्याख्या पुस्तक के दूसरे भाग में करते हैं। हिंदी में इस सूक्त की टीका करना विचार करना, सम्पूर्णानन्द जी के लिए बहुत कठिन न था, क्योंकि हिंदी में वैदिक भाषा और साहित्य आंशिक रूप में वर्त्तमान है। आदम योरपीय साहित्य का आदि पुरुष है, परंतु वह बिलकुल काल्पनिक है। उसका वचन योरपीय साहित्य में नहीं है। ऋग्वेद विश्व साहित्य का आदि ग्रंथ है। उसमें हमारे आदि पुरुषों के सूक्त संग्रहीत हैं। योरपीय विद्वानों को यह परिचय कराना आवश्यक था कि भारत के आदि पुरुष के—और इसलिए विश्व के आदि पुरुष अथवा योरपियों के कल्पित आदम के—सृष्टि क्रम के विषय में क्या विचार थे और फिर उनके अनुसरण पर भारतीय दार्शनिकों ने इस विषय पर किस प्रकार व्याख्या की। योरपीय विद्वानों ने वेद और भारतीय दर्शन का अध्ययन किया है। उन्होंने इस विषय पर महत्वपूर्ण साहित्य की सृष्टि की है। परंतु वे भारतीय दार्शनिक के दृष्टिकोण से परिचित न थे। इस कमी की पूर्ति सम्पूर्णानन्द जी भारतीय सृष्टिक्रम विचार के साथ अंग्रेजी में Cosmagony in Indian thought की रचना करके करते हैं। यह "भारतीय सृष्टि क्रम विचार" का अनुवाद नहीं है—होना भी नहीं चाहिए था—परंतु विषय दोनों का एक है।

सम्पूर्णानन्द जी भारतीय दर्शन सागर मे गोते लगा चुके हैं, उसकी तह तक पहुँच चुके हैं; वर्षों के अभ्यासी हैं, मैं किनारे ही खड़ा हूं। अतएव प्रतिपादित विषय पर स्वतंत्र टीका करना मेरे लिए असम्भव है। मैं तो जो कुछ इन पुस्तकों में लिखा है, उन्हें टूटे-फूटे और थोड़े शब्दों में व्यक्त करने ही का प्रयत्न कर सकता हूं।

नासदीय सूक्त इस प्रकार है:—त्रिष्टुप् छंद है, ऋषि परमेष्ठी प्रजापति है परमात्मा देवता है:—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम् ।
तुच्छ् येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिमा जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीत्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो वितती रश्मिरेषामधः स्विदासी दुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान् आसन्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
को श्रद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद्यत् आवभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत् आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

यहाँ यह सूक्त समाप्त हो जाता है। इस सूक्त को लेकर या स्वतन्त्र रूप से भी भारतीय दार्शनिकों ने सृष्टि का रहस्य जानने के लिए जो साहित्य रचना की, वह भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। सम्पूर्णानन्द जी ने भारतीय दार्शनिकों के सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में जो विचार इन दोनों कृतियों में पाठक के सामने रक्खे हैं, उन्हें सूत्र रूप में रखना मेरे लिये असम्भव है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को तत्वों तक तो खबर थी। परन्तु उन्हें यह पता न था कि तत्व के परमाणु भी विभाजित हो सकते हैं। इस विभाजन के परिणाम में एक तत्व दूसरे तत्व में परिवर्तित हो सकता है। भारतीय दार्शनिक पंच महाभूत—आकाश, तेज, वायु, अप और क्षिति—के आधार पर सृष्टि का क्रम मानते हैं। उन्हें तौली नापी जाने वाली matter वस्तु की परिभाषा नहीं मालूम है। परमाणु सम्बन्धित नई खोज भारतीय दार्शनिकों के मत की पुष्टि करती है। हमारी ज्ञानेन्द्रियां को मैटर की अनुभूति तो होती है, आकार के तीन पहलुओं का अनुभव तो हमें हो जाता है—लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई या ऊँचाई। परन्तु एक चौथा पहलू भी है जिससे प्रत्यक्ष आकार बदला करता है। यह है काल। यह हमारी ज्ञानेन्द्रियों को दिखाई नहीं देता, क्योंकि रेलगाड़ी पर बैठे हुए मुसाफिर की भांति काल के साथ हम चल रहे हैं। परन्तु योगाभ्यास से मनुष्य थोड़े समय के लिए काल की रेल से अलग हो सकता है। उस समय उसे तीन पहलुओं के अतिरिक्त काल का चौथा पहलू भी दिखाई देने लगता है, वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। जिस अर्थ में हम पंच महाभूतों के शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे गलत हैं। समाधिस्थ योगी थोड़े समय के लिए मैटर के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है, उस समय उसे पंच महाभूतों के सच्चे स्वरूप की भी अनुभूति होती है।

योग ऐसे प्रयोग की वस्तु नहीं है जिसे हम अपनी कर्मेन्द्रियों से करते हैं और ज्ञानेन्द्रियों से जिसकी अनुभूति हमें प्राप्त होती है। इन ऐन्द्रिक अनुभूतियों के लिए हमारी भाषा में शब्द मिलते हैं। परंतु योगी की अनुभूति का वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता तो भी यदि योगी झूठ नहीं बोलता तो मानवीय अनुभूति से भी भारतीय सृष्टिक्रम का विचार पुष्ट होता है।

चिद्विलास

अब मुझे सम्पूर्णानन्द जी की चौथी दार्शनिक पुस्तक "चिद्विलास" के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना है। सब पुस्तकों में मेरा सबसे अधिक समय इस पुस्तक ने लिया, फिर भी समझ में बहुत कम आयी। यह पुस्तक का दोष नहीं, गुण है। चिद्विलास में सम्पूर्णानन्द जी के वयस्क जीवन का दार्शनिक मनन और चिन्तन सन्निहित है। यदि मेरे जैसे साधारण पाठक की दृष्टि में इस पुस्तक में कोई दोष है तो यह कि छोटी सीमा के भीतर—पुस्तक में ३०० से कम पृष्ठ हैं—बहुत कुछ कहा गया है, गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण पुस्तक का विषय शीघ्र समझ में नहीं आता, बार बार पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है।

जब परीक्षार्थी को कोई प्रश्न समझ में नहीं आता, तो वह इधर उधर ताकता है, सहारे के लिए, नकल के लिए। यही गति मेरी भी होती है। मित्रवर रामेश्वर सहाय सिंह पुराने वेदान्ती हैं, उन्होंने हाल में नागरी प्रचारिणी सभा के अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए "चिद्विलास" की आलोचना लिखी है। मैंने उसी का सहारा लेने का प्रयत्न किया है।

"दर्शन और जीवन" की भांति "चिद्विलास" तीन खण्डों में विभाजित है। जिस उद्देश्य से पुस्तक लिखी गई है वह अन्तिम खण्ड में है। धर्म का आधार ज्ञान है। परन्तु ज्ञान का भी आधार होना चाहिए। प्रथम खण्ड में इस आधार की खोज है। अतएव इस खण्ड का नाम ही आधार खण्ड है।

"मैं" ही विश्व का ज्ञाता या द्रष्टा है। "तुम" दृश्य है। दोनों के भोग से ज्ञान की उत्पत्ति है। "मैं" और "तुम" के स्वरूप और दोनों के सम्बन्ध पर विचार करने से विश्व का बोध होता है और यही दर्शन का विषय है। सत्य मार्ग से ही ज्ञान की प्राप्ति है। फिर इस पर भी विचार करना है कि जिस सत्य की अनुभूति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होती है वही वास्तविक सत्य है या वह उसके परे है। ज्ञानेन्द्रिय के परे प्रमाण और तर्क से भी सत्य और ज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु इस प्रकार जो कुछ "सत्य" मिलता है वह "मैं" और "तुम" के भेदभाव से रंगा रहता है, उस पर दिक् और काल का भी प्रभाव पड़ता रहता है। शुद्ध सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास आवश्यक है। इस अभ्यास से थोड़ी देर के लिए अभ्यासी "मैं" और "तुम" के भेदभाव से मुक्त हो जाता है। काल की गति से भी वह अलग हो जाता है। इस दशा में उसे चेतन विश्व के सच्चे स्वरूप के दर्शन होते हैं, वह "त्रिकालदर्शी" योगी हो जाता है।

ज्ञान खण्ड में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय द्वारा हम विकल्प जाल से निकलते हैं। फिर दूसरे अध्याय में मन से उत्पन्न "ईश्वर" और दिक्-काल भेद की व्याख्या है। तीसरे अध्याय में आत्मा के स्वरूप पर विचार है और उसका चेतन जगत से सान्निध्य प्रमाणित किया गया है। चित्त वृत्ति से नानात्व का सूत्रपात और प्रसार होता है। इसको दूसरे शब्दों में मायाजाल कहते हैं। चौथे और पांचवें अध्याय में नानात्व के सूत्रपात और प्रसार की व्याख्या की गई है और छठे अध्याय में यह बताया गया है कि किस प्रकार नानात्व भाव संकुचित किया जा सकता है। जितना ही वह संकुचित हो सके उतना ही अभ्यासी धर्म के सच्चे स्वरूप को जानने में सफल होता है, वह सच्चा पथ प्रदर्शक हो सकता है।

अन्तिम खण्ड में लेखक के उद्देश्य की पूर्ति होती है। धर्म का निरूपण होता है और समाज में धर्म का किस प्रकार निर्वाह हो रहा है और होना चाहिए, इस पर विचार किया जाता है। समाज में इने गिने ही सर्वद्रष्टा योगी हो सकते हैं। परन्तु उचित शिक्षा के द्वारा समाज का धर्म-निर्वाह के पक्ष में संगठन हो सकता है। इसलिए पहले अध्याय में धर्म का निरूपण है। दूसरे में समाज में धर्म के निर्वाह पर विचार है। यह

समाज राज्य से सीमित नहीं है। मानव मात्र, प्राणि संसार भी, उसके दायरे के भीतर हैं। अतएव धर्म की गति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी है। मानव को "आत्मवत् सर्वभूतेषु" समझना है, उसके अनुसार ही कर्म करने का प्रयत्न करना है। यह सब शिक्षा से सम्भव है। अतएव तीसरे अध्याय में शिक्षा के स्वरूप की संक्षिप्त परीक्षा है। यों धार्मिक शिक्षा ही शिक्षा सिद्ध होती है।

मेरे लिए इस पुस्तक की परीक्षा करना सम्भव नहीं है। यह दीर्घकालीन स्वाध्याय, मनन और चिन्तन की वस्तु है। उपसंहार में सम्पूर्णानन्द जी ने प्रतिपादित विषय का सारांश पाठक के सामने रख दिया है। वही नीचे उद्धृत है:—

"ब्रह्म ही सत्य है, वह एक, अद्वय, अपरिणामी चिद्घन है। आत्मा और जगत ब्रह्म से अभिन्न हैं, सुतरां, एक दूसरे से अभिन्न हैं। ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है।

"जगत का प्रतीयमान रूप मायाजनित है, इसलिए असत्य है; जगत का वास्तविक रूप ब्रह्म है, इसलिए सत्य है।

"आत्म साक्षात्कार का एक मात्र उपाय योग है। निर्विकल्प समाधि में अविद्या का क्षय हो जाता है।

"वैराग्य, स्वाध्याय, तप, उपासना और धर्मानुष्ठान से मनुष्य में योगाभ्यास की पात्रता आती है।

"जो कर्म निष्काम होकर यज्ञभावना से किया जाय, जिस कर्म से जीव जीव में अभेद की वृद्धि हो, वह धर्म है। धर्म से अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है।

"पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीड़न का निरन्तर विरोध करना और सौहार्द, सहयोग, विश्वसंस्कृति तथा ऐक्यमूलक सच्छिक्षा के लिए उद्योग करना धर्म का अंग है।

"जो तपस्वी और त्यागी है, जिसने समाधि द्वारा आत्म साक्षात्कार प्राप्त किया है, वही धर्म का प्रवक्ता हो सकता है। समाज को ऐसे व्यक्तियों के आदेश पर चलना चाहिए। इसमें उसका कल्याण होगा।

"बारम्बार जन्म और मरण, कर्मों की वर्द्धमान् संस्कार राशि दुःख और अनुताप से, सदैव डरना चाहिए। इस अज्ञान वृक्ष का मूलोच्छेद मनुष्य देह में ही हो सकता है। इस अमूल्य देह रत्न का उपयोग न करना अपने पांव में आप कुल्हाड़ी मारना है। मनुष्य शरीर की शोभा विषय भोग नहीं है; वह सम्पदा तप, ज्ञान और धर्म के लिए मिली है। मनुष्य का परम् पुरुषार्थ मोक्ष है।

"समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ॥"

पुरुष सूक्त

ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त की श्रुति प्रभा टीका भी बरेली के कारागार में लिखी गई। यह ऋग्वेद के दशम् मण्डल का ९० वां सूक्त है और इसका महत्व इस बात से प्रत्यक्ष है कि किसी न किसी रूप में यह यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी उद्धरित हुआ है। ऋग्वेदीय सूक्त में सोलह मन्त्र हैं, यजुर्वेदीय में बाइस और अथर्ववेदीय में चौदह हैं।

इस सूक्त का विषय वही है जो नासदीय सूक्त का है। नासदीय सूक्त में ईश्वर से हिरण्यगर्भ और विराट की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु देवगण तक सूक्त का सृष्टि क्रम नहीं पहुँचता। इस सूक्त में देव सृष्टि मानी जा चुकी है और स्थूल जगत बन रहा है। जीव को अपने कर्मानुसार संसार में प्रवृत्त होना है। इसलिए सूक्त में देवगण द्वारा मानस यज्ञ का रूपक बाँधा गया है। इस यज्ञ में प्रिय व्यक्तित्व "मैं" की बलि होती है। इस बलि से शक्ति प्राप्त होने पर सूक्त के बारहवें मन्त्र में चतुर्वर्णसमाज की सृष्टि होती है।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥"

इस मन्त्र के अनर्थ से जो सामाजिक अनर्थ हुआ है, उसके कारण सम्पूर्णानन्द जी ने इसकी श्रुतिप्रभा टीका में, उसका वह सचा अर्थ दिया है जो हिन्दू वर्ण व्यवस्था तक सीमित नहीं है, जो मानव समाज मात्र के लिए आप्त है।

पुरुष सूक्त की इस श्रुतिप्रभा टीका द्वारा सम्पूर्णानन्द जी के दार्शनिक विचार पुष्ट होते हैं। ये विचार अव्यावहारिक नहीं हैं। ये वर्त्तमान मानव समाज की विकृत दशा को सुव्यवस्थित करने में पाठक का पथ प्रदर्शन करते हैं। पुरुष सूक्त के दो मन्त्रों से पाठक परिचित होंगे, क्योंकि पूजा में पंडित, बहुधा इनका उच्चारण किया करते हैं:—

"सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत् ॥१३॥"

पूरा पुरुष सूक्त श्रुतिप्रभा टीका सहित पठनीय है, मननीय है और चिन्तनीय भी है।

* * * *

शासनासीन नेताओं में सम्पूर्णानन्द जी का बहुत ऊँचा स्थान है। यदि वह शासनासीन न होते तो भी हिन्दी साहित्यिकों में उनका बहुत ऊँचा आसन होता। उत्तर प्रदेश के शिक्षा सचिव न होकर भी वह साहित्यिक सम्मान के अधिकारी होते। जिस परिस्थिति में उन्होंने इतनी साहित्य सेवा की, वह सेवा के प्रतिकूल ही थी, उनका गार्हस्थ्य जीवन सुखी नहीं रहा। पत्नी वियोग का दुःख उठाना पड़ा, सन्तान शोक भी सहना पड़ा, सार्वजनिक सेवा का मार्ग कंटकाकीर्ण रहा। सम्वत् १९७८ से २००३ तक २५ वर्ष राजनैतिक संघर्ष के ही रहे, परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियां उन्हें साहित्य सेवा के मार्ग से विचलित नहीं कर सकीं। जवाहरलाल जी की भांति कारागार के अवकाश का उन्होंने साहित्य सेवा में उपयोग किया। चिद्विलास जैसी गहरी पुस्तक कारागार के अवकाश में ही लिखी जा सकती थी। यों जेल में हम उनकी दार्शनिक कमाई से लाभान्वित हुए हैं और इस नाते उनके भारत भार से मुक्त जेलरों को धन्यवाद दे सकते हैं।

खेद है कि ऐसे साहित्यिक महारथी के शासनासीन होते हुए भी उस शिक्षक समुदाय से हिंदी साहित्य की बहुत कम सेवा हो सकी है जिसके वह नेता हैं। बहुत कुछ व्यय के परिणाम में एक हिंदी-अंगरेजी त्रैमासिक पत्रिका अवश्य निकल रही है। परन्तु इसके पश्चात् स्कूली पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के अतिरिक्त यथेष्ट अवकाश पाकर भी शिक्षक समुदाय द्वारा नहीं के बराबर साहित्यिक निर्माण हो रहा है। हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर हमारा दायित्व और भी बढ़ जाता है। मैंने कई बार, कई ढंग से, हिंदी साहित्य के सर्वाङ्गीण निर्माण का प्रश्न हिंदी संसार के सामने रक्खा, शिक्षक वर्ग को उनके दायित्व की याद भी दिलाई। परंतु अभी तक इस ओर

बहुत कम कार्य हुआ है, यद्यपि सम्मेलन जैसी संस्थाएँ चुनाव के सम्बन्ध में विशेष रूप से जाग्रत हो गई हैं। सम्पूर्णानन्द जी शासनासन से इस ओर क्या कर सकते हैं, यह उन्हीं के निर्णय की बात है।

हम दोनों इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज के स्नातक हैं। सम्पूर्णानन्द जी आगे और मैं उनसे एक पग पीछे अब मुझसे वह बहुत दूर हो गए हैं, परंतु मैं अपने तईं उनसे एक पग पीछे ही समझता रहता हूं। ब्रिटेन के पब्लिक स्कूलों में एक पग पीछे जूनियर विद्यार्थी अपने आगे के सीनियर विद्यार्थी की मुफ्त सेवा-स्वान्तः सुखाय, अपने विनोद के लिये करता है। इसे फैगिंग कहते हैं। कक्षा में एक वर्ष की छुटाई के कारण सम्पूर्णानन्द जी की फैगिंग करना मेरा विनोदमय कर्तव्य हो जाता है। इतने वर्ष बाद यह फैगिंग—सम्पूर्णानन्द जी के नहीं, उनकी भक्तमंडली के आदेश से—करके मैं कर्तव्य-मुक्त होता हू। जय-भारत।

श्री सम्पूर्णानन्द जी

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

कोई ३५ वर्ष पहले की बात है। इन्दौर के राजकुमार कालेज में एक नवीन अध्यापक आने वाले थे। उनका नाम कुछ अटपटा सा था और किसी अध्यापक को उनके विषय में कुछ भी ज्ञात न था, एक ने कहा "ये महाशय शायद मदरासी होंगे" दूसरे ने कहा "नाम तो कुछ संन्यासियों जैसा है!" प्रत्येक अध्यापक ने अपना अपना अन्दाज़ भिड़ाया। जब मेरा नम्बर आया तो मैंने कहा "श्री लक्ष्मण नारायण जी गर्दे द्वारा सम्पादित 'नवनीत' नामक पत्र में मैंने इसी नाम के एक सज्जन की कविता देखी थी, जो मेरी चिट्ठी के पास छपी थी। हो न हो ये सम्पूर्णानन्द जी वही सज्जन हैं।" किसी भी विद्यालय में एक नवीन सहयोगी का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना होती है, इसलिये हम सब की उत्सुकता सर्वथा स्वाभाविक थी। तलाश करके 'नवनीत' फाल्गुन सम्वत् १६७१ का अङ्क लाया गया। उसमें सम्पूर्णानन्द जी के नाम से दो कवितायें निकलीं।

देशभक्त का देहावसान!

हा विधि! क्या सुनायी आज!
देश भारत परम आरत, दुखी दीन समाज।
गोखले की मृत्यु से गइ डूब राष्ट्र जहाज॥
स्वार्थ त्यागि अनन्य कीन्हों जाति के हित काज।
ईश संग सम्पूर्ण आनन्द पाइ करहिं स्वराज॥

सम्पूर्णानन्द बी० एससी०
ता० १६ फ़रवरी १६१५ ई०

भक्त की विनय

श्रीयुक्त महाशय सम्पूर्णानन्द बी० एससी०

प्रभु तुम दीनन के हितकारी!
अशरण शरण अबल बल अविचल, आर्त्त दुःख संहारी॥
तव प्रसाद लहि रङ्क राव गति, पावत वेद पुकारी।
कृपा कटाक्ष करिय भारत पर, निज स्वभाव अनुसारी॥
निज प्राचीन लहहि पद पुनि यह, होहि धर्मपथ चारी।
सम्पूर्णानन्द गति यहि दीजे, एती विनय हमारी॥

इन पर्चों से इतना पता तो लग ही गया था कि आगन्तुक महाशय कोई हिन्दी प्रेमी देशभक्त सज्जन हैं। चूंकि मैं उस विद्यालय में हिन्दी शिक्षक था इसलिये मेरे लिये यह और भी हर्ष की बात थी। राजकुमार कालेज के कामन रूम में एक खानेदार अलमारी थी, जिसमें एक एक खाना प्रत्येक अध्यापक ने ले रक्खा या और उस पर अपने नाम का पर्चा लगा दिया था। मैंने एक होशियारी की। सम्पूर्णानन्द जी का नाम अपने हाथ से लिखकर एक खाना उनके लिये रिज़र्व कर दिया! जब वे महाशय पहले ही दिन वहाँ पधारे तो अपना नाम लिखा हुआ देख कर उन्हें कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ। जब परिचय हुआ तो मैंने उनसे कहा "आपकी कीर्त्ति आपके आगमन के पूर्व ही यहाँ पहुंच चुकी है!"

उन्होंने जो उत्तर दिया उसे हमारे कई साथी समझ ही नहीं सके! एक अध्यापक ने हमसे बाद को पूछा "ये हिन्दी बोल रहे थे या अँग्रेज़ी?" बात यह थी कि सम्पूर्णानन्द जी इतनी जल्दी जल्दी बोलते थे कि उनके शब्दों को विधिवत् समझना कठिन हो जाता था।

ढाई वर्ष का साथ

डेली कालेज [यही उस विद्यालय का नाम था] में सम्पूर्णानन्द जी के साथ जो ढाई वर्ष व्यतीत हुए उन दिनों की अनेक मधुर स्मृतियाँ हैं। हम दोनों ही साहित्य प्रेमी थे और कभी कभी तो बातें करते हुए रात के बारह भी बज जाते थे! उन दिनों भी वे बड़े अध्ययनशील थे और कालेज में ही नहीं, इन्दौर की पढ़ी लिखी जनता में भी उनकी धाक जम गई थी। भौतिक विज्ञान तथा गणित लेकर उन्होंने बी० एस-सी० परीक्षा पास की थी। शिक्षक का व्यवसाय करने के लिये एल० टी० हुए थे। हमारे विद्यालय में प्रकृति पाठ यानी नेचर स्टडी पढ़ाते थे। देशी राज्यों के प्रश्नों का आपने अच्छा खासा अध्ययन कर लिया था। और उर्दू तथा संस्कृत दोनों में भी आप की अच्छी गति थी। काम को जल्दी निपटाना और दीर्घसूत्रता को फटकने न देना, ये गुण आप में उन दिनों में भी अच्छी मात्रा में विद्यमान थे। जब इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन महात्मा गान्धी जी के सभापतित्व में होने वाला था सम्पूर्णानन्द जी साहित्य विभाग के सभापति बने और मैं था उनका मन्त्री। इस प्रकार उनके शासन में ६।१० महीने काम करना पड़ा। उन दिनों सम्मेलन के अवसर पर लेख माला प्रकाशित करने की एक अच्छी प्रथा थी। लेख मैंने मँगा लिये थे, पर उनका सम्पादन करना था और यह काम मेरे जैसे प्रमादी व्यक्ति के लिये आसान न था। जब सभापति महोदय ने मुझसे जवाब तलब किया तो मैंने सब लेख उन्हीं के सामने पटक दिये और कहा "मेरे पास इतना अवकाश कहाँ है जो यह काम करूँ! मुझे दो तीन घंटे के लिये रोज़ तुकोगंज मध्यभारत साहित्य समिति में जाना पड़ता है और आप घर पर बैठे रहते हैं! आप ही सम्पादन कीजिये।" सम्पूर्णानन्द जी ने ५।७ दिन में ही लेखों का सम्पादन कर दिया और इस प्रकार मेरी जान बची। मुझसे वह काम बीस पचीस दिनमें भी न होता।

राजनीति के कीटाणु

[एक दिन कोई कबाड़िया पुरानी किताबों का गट्ठा लेकर आ गया और अपने स्वभावानुसार सम्पूर्णानन्द जी ने उससे कई किताबें खरीद लीं। उनमें एक थी Military Tactics फौजी चालों पर, और यह उन्हें ६ पैसे में ही मिल गई थी। मुझे इस बात से अवश्य ही आश्चर्य हुआ और उसी दिन मैंने समझ लिया कि ये महानुभाव शुद्ध साहित्यिक नहीं रह सकेंगे! लार्ड मेकाले ने एक जगह लिखा था कि यदि किसी के सम्मुख दोनों मार्ग खुले हैं—राजनीति का और साहित्य का और वह साहित्य के मार्ग को छोड़कर राजनैतिक

डेली कॉलिज इन्दौर में श्री सम्पूर्णानन्द जी

इस चित्र में श्री सम्पूर्णानन्द जी खड़ी पंक्ति में बायें हाथ से तीसरे स्थान पर तथा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी बैठे में बाईं ओर से प्रथम हैं ।

को। कुश्ती लड़ने में ये कुशल हैं। अपनी बड़ी उम्र की लड़कियों की सगाई ये बदले से करते हैं। आर्य्य धर्म के महान द्वेषी इन चतुर्वेदियों की वही गति होगी जो तितर बितर हो जाने वाले बादलों की होती है।"

—भविष्य पुराण

इस कविता से भी बड़ी दिल्लगी रही! अध्यापक मंडली ने इसे खूब पसन्द किया! उन दिनों मैं 'विद्यार्थी' नामक पत्र के लिये कभी कभी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख दिया करता था। एक दिन मुसलमान अध्यापक बन्धु ने पूछा "यह क्या कर रहे हो?" मैंने कहा "टिप्पणी लिख रहा हूँ"। उसने अन्य अध्यापकों से पूछा "ये टिप्पणी क्या बला है?" सम्पूर्णानन्द जी ने कहा "ये खुद ही टिप्पणी हैं"। बस उस दिन से हमारा नाम ही टिप्पणी पड़ गया! और सम्पूर्णानन्द जी बहुत वर्षों तक अपने पत्रों में इसी शब्द का प्रयोग करते रहे!

श्री सम्पूर्णानन्द जी का एक पत्रः—

जब मैंने डेली कालेज से इस्तेफा दिया, सम्पूर्णानन्द जी उस समय बीकानेर में डूंगर कालेज के प्रिंसिपल थे। उन्होंने उस समय जो पत्र लिखा था वह अब भी मेरे पास सुरक्षित है और वह उनकी तत्कालीन मनोवृत्ति का सूचक है।

"हरि ॐ

बीकानेर
कार्त्तिक कृ० ६, ७७

"प्रियवर टिप्पणी जी,

The inevitable has happened. मैं जानता था कि आप एक दिन ऐसा किये बिना न मानेंगे। अनुमान ठीक निकला। यह देश का सौभाग्य है। आगे चलकर Journalism आप को कोटिपति बनादे, आप सर्वोच्च पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करलें, पर इस समय तो आप की प्रत्यक्ष हानि है। इसी का नाम त्याग है और देश को त्यागियों की ही आवश्यकता है। हम टुकड़ों के गुलाम एकाध लेख या पुस्तक लिखकर, वह भी डर के मारे चिकनी चुपड़ी बातों से मिश्रित, अपने को कृतकृत्य मानते हैं पर आप अब स्वतंत्र हैं। बधाई है। भगवान आपका कल्याण करें और आप को अपने सभी सदुद्देश्यों में आशातीत सफलता प्राप्त हो।

आपके घर के लोग कहाँ हैं? आपने Journalism द्वारा निर्वाह की Practical सूरत क्या सोची है? क्षमा करियेगा मेरे प्रश्न स्पष्ट हैं, पर मुझे विश्वास है कि आप मुझसे रुष्ट न होंगे। इस समय काम कैसे चल रहा है? आप धोलपुर में क्या कर रहे हैं? इत्यादि बड़े रोचक प्रश्न हैं। किसी प्रकार समय निकालकर उत्तर दीजिये। 'शाहाँ चे अजब गर बे नवाज़न्द गदा रा'। कभी २ इस गुलामों को भी याद किया कीजिये।

इस Non-Cooperation movement विशेषतः Withdrawl of students के विषय में आपकी क्या सम्मति है? और जो कोई रोचक बात हो सो लिखियेगा। मेरी समझ में जो लोग आपके Sex के विषय में भूल करते हैं उनकी भूल न्याय्य है। 'हृदय' का ज़ोर स्त्रियों में ही अधिक होता है। यदि आप एक भारतीय मस्तिष्क होते तो और बात थी। अस्तु, दुर्गा, काली, कालिका, चण्डी, चामुण्डा, शीतला आदि सब स्त्रियां ही थीं।

आपका
"आनन्द"

और पत्र के ऊपर लिखा था 'श्रीमती भारतीय हृदय' और यही अँग्रेज़ी में भी।

बात यह थी कि उन दिनों 'एक भारतीय हृदय' उपनाम से मैं लिखा करता था। एक बात और। श्री सम्पूर्णानन्द जी ने उपर्युक्त पत्र में 'त्याग' का जो इलज़ाम मुझ पर लगाया था वह सर्वथा निराधार था। स्वयं वे उन दिनों अपनी तत्कालीन परिस्थिति से कितने असन्तुष्ट थे यह बात उक्त पत्र से अवश्य प्रकट होती है। इसके थोड़े दिनों बाद उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे ही दिया।

उत्कट साधना

सन् १६२१ से सम्पूर्णानन्द जी की साधना का युग प्रारम्भ हुआ और वह अभी तक चल रहा है। सम्पूर्णानन्द जी अपने बारे में लिखना या बोलना नापसन्द करते हैं, इसलिये सर्वसाधारण को उनकी कठिनाइयों का पता ही नहीं लग पाता। उनके राजनैतिक विरोधी तो उनकी मानसिक परिस्थिति का अनुमान कर ही क्या सकते हैं, स्वयं उनके घनिष्ठ मित्र भी उन संकटों का अन्दाज़ नहीं लगा सकते जिनमें से सम्पूर्णानन्द जी को गुज़रना पड़ा है। इस बीच में कितने ही बार उनके साथ रहने का अवसर मुझे मिला है, पर अपनी परिस्थति के विषय में एक शब्द भी उन्होंने कभी नहीं कहा। "दुःखेषु अनुद्विग्न मनाः" शब्द उन पर लागू होता है।

दो दिन

सम्पूर्णानन्द जी के साथ बिताये हुए दो दिन मुझे खास तौर से याद हैं। जालिपादेवी मुहल्ले में उन्हीं के घर पर ठहरा हुआ था। सवेरे पांच बजे सोकर उठा ही था कि बैठक के किवाड़ खोलते ही एक सज्जन घुस आये और बोले "आप मुझे पहचानते हैं? मैं आपका पुराना Class fellow हूं— I am an old classfellow" ये महाशय दोनों भाषाएँ साथ साथ बोलते जाते थे। मैंने कहा "मैंने तो आपको नहीं पहचाना। इस वक्त अँधेरे में चेहरा भी आपका ठीक तरह नहीं दीखता। आप किसको चाहते हैं?" उन्होंने कहा "मिस्टर सम्पूर्णानन्द को।" मैंने कहा "वे अभी आते होंगे"। इसके बाद उन महाशय ने अपना जीवन चरित्र मुझे सुनाया। सी० आई० डी० की पुलिस में कलकत्ते में नौकर थे। वेतन १७) रुपये और २५) के बीच में था, पर कोकेन वालों से और वेश्यालयों से ८-६) रोज़ मिल जाते थे। कई हज़ार रुपये इकट्ठे किये, फिर रेल में गार्ड हुए और भत्ता मिलाकर १५०) मासिक तक पहुँचे। आजकल ज़मींदारी के लिये मुकद्दमेबाज़ी कर रहे हैं और सम्पूर्णानन्द जी से वकील के लिये चिट्ठी लिखाने आये थे। सवेरे चार बजे से ही दरवाज़े पर बैठे हुए थे, किवाड़ खुलते ही भीतर आये। उन्होंने पता लगा लिया था कि प्रातःकाल में ही सम्पूर्णानन्द जी विद्यापीठ चले जाते हैं। इसलिये सवेरे चार बजे से ही उन्हें घेरने का इरादा कर लिया था। इसके बाद आप बोले:— The one thing I value in life is Satsang and fortunately I got a good deal of it. अर्थात् "जीवन में यदि कोई मूल्यवान वस्तु है तो सत्सङ्ग और सौभाग्य से वह मुझे खूब प्राप्त हुआ है।"

सम्पूर्णानन्द जी का दैनिक कार्यक्रम अपने इन सुसंस्कृत सत्संगी पुराने क्लासफ़ैलो से प्रारम्भ हुआ। शायद आध घण्टे से अधिक उन्होंने बर्बाद कर दिया। रात के दस बजे तक यही क्रम रहा। शाम को उन्हें बुख़ार आ गया। एक महाशय मिलने के लिये आये। मैंने कहा "उन्हें बुखार आ गया है, आप अपनी बात कह दीजिये, मैं उन तक पहुँचा दूँगा।" वे भला क्यों मानने वाले थे। अड़गये। सम्पूर्णानन्द जी को आना पड़ा और पूरे डेढ़ घण्टे दिमाग़ पची करना पड़ा। वे बाहर पधारे ही थे कि महाशय चौधरी भरोस डोम M.L.C.

आडटे। और उन्होंने सिंहासन बत्तीसी के ऐसे तर्क सुनाये कि मेरे लिये हँसी रोकना असम्भव हो गया। सम्पूर्णानन्द जी पौन घण्टे तक उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहे। उनके इस असाधारण संयम को देखकर हमें आश्चर्य हुआ। प्रातःकाल में श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय तथा डाक्टर हार्डिकर पधारे और व्याख्यान के प्रबन्ध के लिये अनुरोध किया। कमिश्नरी के स्वयं सेवक संघ का अधिवेशन काशी में ही हो रहा था और उसके लिये कमसरियट का प्रबन्ध भी करना पड़ा! यह भी खबर आई हुई थी—पं० जवाहरलाल जी द्वारा प्रयाग से, कि अगले दिन वहाँ पहुँचना है। बावजूद बुखार के सारा कार्यक्रम उन्हें पूरा करना पड़ा।

जब सम्पूर्णानन्द जी म्युनिसिपल बोर्ड के मेम्बर थे और क्रमशः स्वास्थ्य, चुङ्गी तथा शिक्षा विभाग आपके अधीन थे, उन दिनों मामूली इक्के वालों ने भी अपनी अर्ज़ी उन्हीं से लिखाने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी। कितनी ही बार ऐसा हुआ कि परस्पर विरोधी व्यक्ति हिन्दू और मुसलमान अपनी अपनी अर्ज़ियाँ उन्हीं से लिखा ले गये! एक बार इतने बीमार हो गये कि किसी से भी बोलने चालने की सख्त मनाई कर दी गई। छत पर धीमे धीमे टहल रहे थे कि दूसरी छत पर से आवाज़ आई "क्यों साहब! आप तो भले चंगे टहल रहे हैं, और हमारी अर्ज़ी लिखने से इन्कार कर दिया!"

एक बार आप तीन हज़ार रुपये लेकर ज़ेवर बर्तन इत्यादि खरीदने बाजार गये हुए थे। छोटे भाई परिपूर्णानन्द की शादी थी। एक परिचित महानुभाव ने पान खिला दिया। बेहोश होगये और वे महाशय तीन हज़ार रुपये के नोट लेकर चम्पत हुए। पुलिस में शिकायत भी न की। अत्यधिक परिश्रम से मस्तिष्क तो वैसे ही जवाब दे रहा था, इस दुर्घटना से उन्माद जैसी स्थिति आ पहुँची। बेहोशी के दौरे होने लगे। दौरे में जो कोई मिल जाता उसे कभी विज्ञान के ऊँचे सिद्धान्त बतलाते तो कभी योग की बातें! और ऐसे ऐसे जिज्ञासु इधर उधर रहते थे कि बिना इस बात का खयाल किये कि इन भलेमानस की क्या मानसिक स्थिति है, उन बातों को सुनने पहुँच जाते थे! उस समय सोने से ही उनके मस्तिष्क को शाँति मिलती थी। तब उन्हें डाँट फटकार कर सुलाया जाता था *

इन शारीरिक कष्टों को तो उनका प्रबल मस्तिष्क सहन कर ही गया पर जो गार्हस्थिक दुर्घटनाएँ उनके जीवन में आई हैं उनको सहन कर लेना किसी महान तपस्वी का ही काम था। इतने बार सम्पूर्णानन्द जी से मुलाक़ात हुई है, घण्टों बातचीत हुई है पर अपनी इन दुर्घटनाओं के विषय में एक शब्द उनसे सुनने को नहीं मिला!

बहुत वर्ष पहले की बात है—शायद १९१६–१७ की। मैं उनके पास ठहरा हुआ था। गंगा स्नान में मुझे कोई विशेष श्रद्धा नहीं थी पर सम्पूर्णानन्द जी अपने ब्राह्मण अतिथि को इस पुण्य से वंचित नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र से कहा "जाओ चौबे जी को स्नान करा लाओ"। वह लड़का उन दिनों नवें दर्जे में पढ़ता था और बहुत ही होशियार था। मार्ग में बातचीत करने पर उसकी असाधारण बुद्धि का पता लगा। कुछ महीनों बाद खबर मिली कि उसका देहान्त होगया! मातम पुर्सी के लिये आने वालों को वे उल्टा समझाते थे, और सुना है कि उन्होंने अपने उस दिन के सार्वजनिक कार्य में कोई बाधा न आने दी थी।

---

* श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में जितने भी लेख हमने पढ़े हैं उनमें सर्वोत्तम श्री सर्वदानन्द जी का लिखा हुआ है। "बाबूजी—एक घरेलू अध्ययन।"

युवक दामाद, युवती कन्या, चार बहनें, युवा पुत्र, स्त्री आदि कितने ही आत्मीयों के देहावसान के दिनों में उन्होंने कभी भी धैर्य नहीं खोया।

जो लोग सम्पूर्णानन्द जी को निकट से जानते हैं वे कह सकते हैं कि वे उस उच्च मानसिक तथा आध्यात्मिक धरातल पर रहने वाले व्यक्ति हैं, जहाँ क्षुद्र स्वार्थ और भोगविलास पहुँच ही नहीं सकते। उन्होंने कभी कोई सम्पत्ति इकट्ठी नहीं की। उनका घर बहुत ही मामूली सा रहा है। अब तो उसमें कुछ सुधार भी हो गया है, पर पहले जब उनके यहां अनेक बार ठहरने का मौका मिला तो मैंने एक मज़ाक बना लिया था। मैं कहता था "बस स्वराज्य होजाने पर मुझे एक ही काम करना है। सम्पूर्णानन्द जी का घर गिरवा देना है—इसका Sanitary प्रबन्ध बहुत ही खराब है!" दैव दुर्विपाक से बिहार के भूकम्प के दिनों में सम्पूर्णानन्द जी के मकान का भी एक हिस्सा गिर गया! उस समय भाई अन्नपूर्णानन्दजी ने लिखा था "आपका आशीर्वाद फल गया!"

सम्पूर्णानन्द जी घोरतम आर्थिक कठिनाइयों में से गुज़र चुके हैं। उनका एक पत्र (बिना उनकी अनुमति के ही!) यहां उद्धृत किया जाता है।

"जालिपा देवी
बनारस सिटी
१७-८-३३.

प्रिय चौबे जी, नमस्कार!

जेल से आने पर आपको आज पहिले पहल पत्र लिख रहा हूं। सरस्वती, जागरण, और विशाल भारत में आपके Interview का तमाशा पढ़ा। इधर जेल में मैंने फ्रेंच भाषा सीखी। एक फ्रेंच पुस्तक का अनुवाद किया। यह Macedonia के ५० वर्षों के १९२९ तक के स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास है। हम लोगों की वर्तमान दशा में बहुत ही रोचक, शिक्षाप्रद और उत्साहवर्द्धक है। लगभग १५० पृष्ठों की होगी। मैं आजकल प्रकाशन जगत से Out of touch हूं। क्या आप इस मामले में मेरी मदद करेंगे? मैं चाहता हूं पुस्तक छप जाय और तीन बातें हों—१-शीघ्र छपे-पता नहीं शायद मैं फिर जेल भाग जाऊं। २-प्रभाव अच्छा हो। ३-इधर सन् १९३० से तबाह हो रहा हूं, चाहता हूं कुछ रुपया मुझे भी मिल जाय और वह भी जल्दी।

मैं समझता हूं आप इस सम्बन्ध में प्रबन्ध कर सकते हैं। जल्द उत्तर दीजियेगा। आशा है आप कुशलपूर्वक होंगे।

आपका
सम्पूर्णानन्द"

एक बार फिर सम्पूर्णानन्द जी की सेवा में दो दिन बिताने पड़े और उन दिनों की याद कभी नहीं भूलेगी। खास तौर पर उनकी घड़ी ने और उनके इक्के के घोड़े ने इतना तंग किया कि मैं प्राण बचाकर वहां से भाग निकला! उन दिनों श्री सम्पूर्णानन्द जी को Punctuality वक्त पर हर काम करने की बीमारी बेतरह लगी हुई थी। एक दिन शाम के वक्त मैं बाहर जाने वाला हुआ तो आपने कहा "देखिये ठीक आठ बजे ब्यालू के वक्त आ जाना"। मैं पहुँचा जैन विद्यालय में और वहां यजमानों ने १० बजा दिये! लौटकर आया तो सम्पूर्णानन्द जी से खासी मधुर डांट सुननी पड़ी। कहने की ज़रूरत नहीं कि स्वयं सम्पूर्णानन्द जी ने भी भोजन नहीं किया था! खाना ठंडा हो चुका था। उस समय मुझे एक किस्सा याद आ गया! आचार्य

क्षितिमोहन सेन भी इसी प्रकार लेट होकर घर पहुँचे तो उनकी पत्नी बहुत रुष्ट हुईं। आचार्य जी ने परसी हुई थाली उनके सिर पर रख दी। वे बोलीं "यह क्या करते हो?" आचार्य जी ने कहा "कुछ नहीं, भोजन ठंडा हो गया है और तुम्हारा माथा गरम है, सो उसे गरम कर रहा हूँ" सम्पूर्णानन्द जी के साथ ऐसी गुस्ताखी करने की हिम्मत मेरी नहीं पड़ी पर मैंने इतना तो कह ही दिया, "आपने भोजन क्यों नहीं कर लिया? यह धर्म क्यों निबाहा?"

जब सम्पूर्णानन्द जी नाराज़ होते हैं तो छोटे छोटे वाक्य बोलने लगते हैं। "अजीब दिल्लगी करते हैं आप!" इत्यादि इत्यादि। उस दिन मुझे सम्पूर्णानन्द जी का हुक्म मानकर ज़रूरत से ज्यादा मिठाई खानी पड़ी!

भीगी बिल्ली की तरह बैठा हुआ मैं रसगुल्ले खा रहा था और घड़ी के आविष्कारक को कोस रहा था। दूसरे दिन जब मैं पत्रकारों से मिलने जाने लगा तो आपने घड़ी दिखलाई "जनाब को ढाई बजे यहाँ पहुँचना है। किराये का इक्का है। वह इंतज़ार नहीं कर सकता। अपनी बगीची पर ले चलूंगा। समझे आप?"

डर के मारे पत्रकारों की सारी मनोरंजक बातों को छोड़कर ठीक ढाई बजे हाज़िर हो गया। मैं समझे हुए था कि कोई मामूली इक्का होगा पर वह तो था "गहरे बाज़" इक्का! काशी में इक्कों की दौड़ की एक बर्बर प्रथा अब भी चली आ रही है! सारनाथ की सड़क पर न जाने सम्पूर्णानन्द जी ने इक्के वाले को क्या इशारा कर दिया कि वह लेकर सरपट दौड़ा! सम्पूर्णानन्द जी की छोटी सी भतीजी इन्दु भी साथ में थी। मेरी दम खुश्क थी। इन्दु हँस रही थी और सम्पूर्णानन्द जी मुसकरा रहे थे! मेरा हार्ट फेल होते होते बचा। पहिये की रबर उखड़ गई और दो चार चपेटे मेरे पाँव में लगे। मैंने कहा "क्या आप मेरे प्राण लेना चाहते हैं?" इक्का बड़ी मुश्किल से रुका। जब दम में दम आई तो मैंने कहा "आपने तो एकमात्र ग़रीब अराजकवादी की हत्या का पूरा प्रबन्ध कर लिया था! वह तो मैं बच गया!"

बगीची क्या थी खेत था। हाँ एक छोटा सा कमरा उसमें ज़रूर बना हुआ था। वहां जाकर विश्राम किया। सम्पूर्णानंद जी ने चाय बनाई जिसमें उनके 'शऊर' का बहुत अच्छा प्रदर्शन नहीं हुआ।

दूसरे दिन अपनी जान बचाने के लिये मैं बिना कहे सुने वहां से भाग निकला। उसके बाद आपका कार्ड आया—

"इलाहाबाद

२८-१०-४४

टिप्पणी जी महाराज

यह चोरों की भांति चुपके से निकल भागना आपने कहां से सीखा है? भले आदमियों का दस्तूर है कि मालिक मकान से विदाई लेकर घर पर छोड़ते हैं। अभी मैंने सामान मिलाया नहीं है, यदि कमरे में से तख्त या मेज़ या कुर्सी जैसी कोई चीज़ गायब पायी गयी तो उसका दायित्व आप पर होगा।

सस्नेह

सम्पूर्णानन्द"

इसके बाद सम्पूर्णानंद जी का निमंत्रण कई बार आ चुका है पर उनके इस राजनैतिक षड्यंत्र में मैं नहीं फँसा। "न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्।"

स्वाभाविक माधुर्य्य

राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वालों को बीसियों समझौते करने पड़ते हैं और जिन्हें शासक बनने का दुर्भाग्य प्राप्त होता है उनके विषय में तो बीसियों ग़लतफ़हमियों होती रहती हैं। सम्पूर्णानन्द जी भी इस नियम के अपवाद नहीं। एक दिन रात के १२–१२½ बजे आप रेडियो सुन रहे थे। दिन भर के हारे थके थे। लखनऊ में आपके बँगले के आस पास चक्कर काटने वाले कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने समझा कि सम्पूर्णानन्द जी की कोठी पर नाच-गाना हो रहा है! ये महाशय अपने हाईस्कूल के लिये डेपूटेशन लेकर गये थे और इसके लिये रात का ही वक़्त उन्होंने मुनासिब समझा था! जब सम्पूर्णानन्द जी से वे मिले तो अपनी आशंकायें प्रकट की। "हम तो आध घन्टे से चक्कर लगा रहे थे, पर यह समझ कर कि आपके यहाँ गाना हो रहा है, नहीं आये!"

और लोकापवादों का क्या कहना! जिस देश में महात्मा जी के विषय में भी यह अफ़वाह फैलाने वाले मौजूद हों कि उन्होंने अहमदाबाद में अपने लड़कों के लिये मिल खुलवा दी थी, उस देश में सम्पूर्णानन्द जी जैसे व्यक्तियों को कौन बख्श सकता है? उन फ़ालतू आक्षेपों की चर्चा न करके हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि सम्पूर्णानन्द जी की ईमानदारी तथा निस्स्वार्थ भावना पर शङ्का करने वाले व्यक्ति घोर भ्रम में हैं। हमें आश्चर्य इस बात का है कि इन ग़लतफ़हमियों के बावजूद वे अपने स्वभाव के माधुर्य्य की रक्षा कैसे कर सके हैं!

एक बार मैंने उन्हें लिखा कि शासकों को मद हो जाता है। उनका जवाब सुन लीजिये:—

"मद शासन में भले ही हो पर क़लम चलाने में भी है। मद का अर्थ क़लम भी हो सकता है। सो कैसे? देखिये—

मनीम् ददादीति मद:। मनीति धनम्। को धनं ददाति इति चेत्—न तत्र शंका स्थलं विद्यते। कलमो धनं ददातीति सुनिश्चितम्—

कलम गोयद कि मन शाहे जहानम्
कलम क शरा बदौलत मी रसानम्

इति श्रवणात्। तस्माद् लेखनी एव मद:। आत्मावै जायते पुत्र इति न्यायात् लेखनमपि मद:। पारसीक वाक्यस्यायमर्थ: कलमो ब्रूते ऽहम् जगतो राजा यतो लेखकं धन समीप मानयामि।

सस्नेह–सम्पूर्णानन्द"

उर्दू के पक्षपाती होते हुए भी उर्दू हम नाममात्र को ही जानते हैं। बन्धुवर सुदर्शन जी ने 'नेयाज़मन्द' शब्द हमें सिखला दिया था, सो एक बार हमने उसका प्रयोग सम्पूर्णानन्द जी को लिखे एक पत्र में कर दिया! उनका उत्तर आया।

"लखनऊ
१८ अक्तूबर १९४८

जनाब पंडत साहब कोर्निश अर्ज़ है

आपका नवाज़िशनामा मौसूल हुआ। इस करम के लिये ममनून हूँ। उस ख़त में आपने जिस तजवीज़ का इशारतन ज़िक्र किया है वह बज़ातेख़ुद निहायत सांएब है। मगर मैं इस सिलसिले में क्या

खिदमत कर सकता हूं, यह अभी तक नहीं समझ पाया। बहरहाल आचार्या निरेंदर देव साहब की खिदमत में इस खयाल को पेश कर दूँगा और वह जो कुछ फ़रमायेंगे उसकी इत्तला आँजनाब की खिदमत में इरसाल कर दूँगा। ज्यादा हद्दे अदब

नेयाज़मन्द
सम्पूर्णानन्द"

क्या ही अच्छा होता यदि सम्पूर्णानन्द जी के इस स्वाभाविक माधुर्य्य को जनता जान पाती!

देश की पराधीनता का सबसे भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ था कि हमारे सैकड़ों सहस्रों नवयुवकों का घरेलू जीवन नष्ट हो गया। घर वालों के लिये भी वे बाहिर के हो गये और साधारण जनता के सम्मुख उनका सार्वजनिक रूप ही बार बार आता रहा। वह इस बात को भूल गई कि हमारे नेता भी हाड़ माँस के पुतले हैं और उनमें हृदय नाम की कोई चीज़ भी है।

एक बात और

सम्पूर्णानन्द जी की राजनीति से और उनके शासक रूप से हमारा परिचय नहीं। उनके दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों को समझने की योग्यता भी हममें नहीं और साहित्य क्षेत्र में भी हमारा उनसे मतभेद रहा है। वे शासक हैं और हम शासनमात्र के विरोधी (जीवन में नहीं, कोरमकोर विचारों में ही)!! वे हिन्दी वाले हैं और हम हिन्दुस्तानी वाले! हमारे जनपदीय तथा प्रान्त निर्माण आन्दोलनों को वे निरर्थक समझते रहे हैं। और इधर उनके कई कार्य हमारी समझ में नहीं आये। मसलन्, ग्रामीण अध्यापकों की हड़ताल के विषय में उनका रुख हमें अनुचित ही जँचा। एक मुदर्रिस पिता के पुत्र होने के कारण हमारी स्वाभाविक सहानुभूति अध्यापकों के साथ रही है। सम्पूर्णानन्द जी जैसे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक व्यक्ति के मंत्रिमंडल में होते हुए भी उत्तर प्रदेशीय सरकार उस क्षेत्र में कोई ठोस काम नहीं कर सकी, स्वयं पत्रकार होते हुए भी वे इस विस्तृत प्रान्त में एक पत्रकार विद्यालय भी क़ायम नहीं कर सके, इसका हमें खेद है। पर इस प्रकार के मतभेदों ने हमारे पैंतीस वर्ष व्यापी सम्बन्धों में किसी भी प्रकार की कटुता उत्पन्न नहीं की।

सम्पूर्णानन्द जी जिस उच्च बौद्धिक धरातल पर रहते हैं, वहां पहुंचना आसान नहीं और उनके जीवन की दार्शनिकता तो अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। एक प्रश्न हमारे मन में बार बार उठता है। इतने घोर संघर्षों और गार्हस्थिक दुर्घटनाओं के बावजूद वे अपने मस्तिष्क का सन्तुलन कैसे बनाये रख सके हैं? राजनीति के विषाक्त वायुमण्डल में अपना स्वाभाविक माधुर्य कैसे क़ायम रख सके हैं? क्या उसके मूल में उनका योगाभ्यास है? कुछ भी क्यों न हो, उन जैसे साधक तपस्वी के सम्मुख हम नतमस्तक हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द जी

शिक्षा, श्रम एवं अर्थ मंत्री उत्तर प्रदेश

बाबू जी, मेरे

श्री सर्वदानन्द वर्मा

उन्नीस सौ तीस में मैं केवल पन्द्रह वर्षों का था। कविता किसे कहते हैं, अब भी नहीं जानता, तब तो समझ भी नहीं पाता था। कवि बनने की साध मन में ज़रूर थी। पूरी होती थी, दूसरों की कविता अपनी कह कर सुनाने में। उस समय ही बाबू जी का उदार, उज्ज्वल, निष्कलंक चरित्र मुझे श्रद्धा की शृङ्खलाओं में बांधने लगा, अनायास ही मेरी वाणी स्वत: मुखरा हो उठी। उस कविता में साहित्य नहीं, रस नहीं, माधुर्य नहीं। केवल है हृदय का अर्घ्यदान। चाहे कोई इसे मूर्ति पूजा कहे, मैं स्वीकार कर लूंगा। पर मेरे लिए पुजारी के अतिरिक्त और किसी रूप में उनके सामने आना दु:साहस होगा। मेरी पंक्तियां निम्नलिखित हैं:—

तुम अमर शांति के रूप अहो, शत शत स्वर्गों के मुक्त द्वार,
युग युग की सतत साधना के, पुंजीकृत धन मेरे उदार,
तुम एक चिरंतन सत्य और शिव, सुन्दर के साकार रूप,
जीवन देकर बलि होने की, यह गूंज उठी कैसी पुकार,

* * *

वैभव को ठुकराया तुमने, इस भिखमंगी के बानों पर,
अपने को बरबस लुटा दिया, मर मिटने के अरमानों पर,
सोने की लंका जली किन्तु, मुख पर न एक रेखा आई,
तुम नाच उठे, हो, सन्त अरे, जननी के गीले गानों पर,

* * *

यह भी इतना है ज्ञात कि तुम, दिखला न सके निज प्यार यहां,
पर पा लूं मैं कुछ भी तुमसे, इतना मुझको अधिकार कहां,
मैं एक क्षुद्र कण, तुम महान्, मैं सीमित, तुम सीमा विहीन,
फिर एक साथ कैसे खेलें, दो अलग अलग संसार यहां,

* * *

मेरी लघुता को भी सीमित करलो, अपने ओ महान्,
फैलादो अपना वरद हस्त, छाया में खेलूं मैं अजान,
मेरे उर के घन तिमिर लोक में, भरदो निज स्वर्गिक प्रकाश,
आंसू की रोती अमा चले, अंतस में जागे नव विहान,

* * *

मैं समझ न पाऊँ कभी, तुम्हारे जीवन की गति मतवाली,
तुम एक पहेली बने रहो, मेरे उर में उलझन वाली,

मैं बार बार आगे आऊँ, उन चरणों की लाली रखने,
पर चकित स्तब्ध सा मौन रहूं, कर में ले पूजा की थाली,

*　　*　　*

तुम जलद सदृश गम्भीर, सरल बालोचित चंचलता धारी,
सींचो नित नव नव नेह वारि से, मेरी केसर की क्यारी,
मैं रेणु बनूं तुम रहो जलद, मैं उन चरणों की धूल बनूं,
तुम महाज्वाल के पुंज अहो, मैं भी उसकी कुछ चिनगारी,

*　　*　　*

जब तक तुम हो मैं रहूं अभय, मेरे सपनों का हो न अंत,
उन मंगल चरणों की पूजा में, पल भर का सुख हो अनन्त,
कुछ झुकी आँख, कुछ खुले अधर से, नित दिन मदहोश रहूं,
इतना ही सुख क्या कम है, क्यों चाहूं मधुवाला मधु बसन्त,

*　　*　　*

"सोने की लंका जली किन्तु मुख पर न एक रेखा आई" इस पंक्ति में बाबू जी का सम्पूर्ण पाया जा सकता है, अनेक गार्हस्थिक दुर्घटनाओं और आर्थिक संकटों के आने पर भी उनकी कर्तव्यनिष्ठा में व्याघात नहीं आया। एक बार जो महत्वपूर्ण और लाभप्रद नौकरी पर लात मार देश के दीवाने बन उन्होंने भिखमंगी का बाना पहना, तबसे वह कमली अभी तक नहीं उतरी। आज उनके पास बैंक में धन राशि होती, अपना बँगला, मोटर होते, जीवन मौज में, आनन्द में व्यतीत होता। परिवार के जीवन की चिंता न होती। सम्भव है कुछ जी हुजूर और मुसाहिब भी होते। किन्तु आज है क्या अपना कहने को ? दस पाँच मोटी खादी के कपड़े, दो चार मूंज और रस्सी से बनी चारपाइयां। बनारस में एक बेढंगा दरबा सा घर और दो संतानें; एक मैं, और एक मेरी बहिन शीलबाला, जो उनके संतोष का साधन होने के स्थान पर, अपने व्यवहारों, अपनी चिंताओं और अपने स्वास्थ्य के कारण उनके लिए एक अतिरिक्त सिर दर्द का कारण है।

मेरे बड़े भाई, बड़ी बहिन, मेरे कई छोटे भाई, तीन माताएँ, एक छोटी बहिन, एक छोटा पौत्र सभी तो बाबू जी के देखते देखते संसार के उस पार चले गए। किन्तु क्या उनके जीवन क्रम में तनिक भी बाधा पड़ी ? नहीं, परिवार में प्रत्येक मृत्यु ने जैसे उन्हें जनसेवा का और बल दिया है। अपनी छाती के व्रणों को सी सी कर उन्होंने भारतमाता के पावन चरणों में अपने को नत रखा है। स्वातंत्र्य की देवी का आवाहन किया है।

युवा पुत्र का अन्तिम संस्कार करके श्मशान से लौटने के बाद ही यह विरागी मीटिंग में गया है। मृत्युपथगामिनी पत्नी की शय्या के निकट बैठ कर निर्लिप्त भाव से मन्त्रिपद से सम्बन्धित सचिवालय की फाइलें देखी हैं। गम्भीर रुग्णा पुत्री की शय्या के पास रह कर पुस्तकें लिखी हैं। मानता हूं। जनता के सामने किसी रूप में आने वाला व्यक्ति वह राजनीतिक नेता हो, धर्म प्रचारक हो, समाज सुधारक हो, कवि चित्रकार हो, उपन्यासकार हो, ऐसा उदासीन और निरपेक्ष न रहे तो वह कुछ कर नहीं सकता, उसका जीवन जिसका पल पल, दूसरों का, दूसरों के लिए है घर की चहार दीवारी बंध से कर रहने के लिये नहीं है। कहा जा सकता है कि यदि बाबू जी ही स्वभावतः था। ऐसे हैं तो कौन बड़ी बात। सही है, किन्तु ऐसा व्यक्ति कोई भी हो हमारे लिए वन्द्य है, पूजनीय है, प्रातः स्मरणीय है और रहेगा, आज तो कार्यवशात् उनसे दूर ही

रह पाता हूँ किन्तु मुझे अपने वह दिन स्मरण हैं जब मैं बनारस में साथ ही रहता था। छोटा था। किसी के स्नेहपूर्ण व्यवहारों की तथा देख-रेख की अपेक्षा रखता था। तब भी उन्हें मेरी खोज-खबर रखने की आवश्यकता न पड़ी। याद नहीं आता कि कभी उनकी गोद में खेला होऊँ, शैल है गुमसुम अपने दुखों को, कष्टों को अपने ही पी जाने वाली गऊ, बाबू जी का इतना ही स्नेह प्रदर्शन के रूप में पा जाती है, कि सप्ताह में तीन चार दिन उनके पास बैठकर ही खाना खा ले और चूंकि इस वय में वही बाबू जी की साथिन मित्र और पुत्री सभी कुछ है, उनका नैकट्य अधिक पाजाती है। जलद सदृशय गम्भीर सरल बालोचित चंचलताधारी मैंने लिखा है। झूठ नहीं लिखा है। यह विरोधाभास उनमें है। गम्भीर विद्वान लगभग सभी उपयोगी विषयों में निष्णात् कई भाषाओं के पण्डित वेदादि ग्रन्थों के प्रमाणिक जानकार, अ० भा० राजनीतिज्ञ नेता, वक्ता, लेखक, कवि, समाज सुधारक, तार्किक और दार्शनिक। बाबू जी को दूसरी ओर मैंने बच्चों से भी बढ़कर विनोदी स्वभाव का पाया है। जीवन के आनन्दमय पक्ष को पाने और अनुभव करने का उनके पास अवकाश नहीं, साधन नहीं। इस ओर अभाग्यदेव की उन पर पर्याप्त कृपा हुई है। किन्तु चौबीस घन्टे उनके पास रह आने का सुयोग जिन भाग्यवानों को मिला होगा, वह मानेंगे कि बाबू जी के जीवन दर्शन का एक प्रधान सूत्र है। आँसू से गीली घड़ियों से छीनकर हंसने का एक क्षण पा लेना। उसे अधिकार में कर लेना मनुष्यता का दावा है। दुखो जीवन का चरम सत्य नहीं है। स्वयं वे खुलकर हंस नहीं सकते किंतु मुक्त हास का मूल्य आंक सकते हैं। बहुत गम्भीर बने रहकर छोटे से नपे तुले वाक्य में ऐसी बात कह जायेंगे, कि सुनने वाले मुस्करा देंगे।

और हृदय की कोमलता एक ओर परिवार के सदस्यों की मृत्यु जिसे विचलित नहीं कर पाती, मरघट पर चिता-ज्वाल की लपटों के सामने भी जो निर्विकार और चट्टान जैसा दृढ़ बना रह सकता है, उसे कितनी ही बार युवक-युवतियों के प्रेम की असफलता और निराशा होने पर आत्महत्या की बात पर आँखों में आँसू भर आते देखा है। एक ऐसी ही घड़ी मुझे स्मरण है। बनारस में जब उनके अंतस के मानव का जीवन की मूल भूत प्रेरक एक शक्ति के सुकृति का परिचय उनके अनजान में ही प्रत्यक्ष हो पड़ा था। सन्ध्या हो गई थी। वह चारपाई पर बैठे, अखबार 'आज' पढ़ रहे थे। माँ नीचे बैठी कुछ कर रही थीं। और मैं पास ही खड़ा था। सम्भवतः अखबार के मुख्य पृष्ठ पर गंगा पुल के ऊपर से एक युग्म युवक युवती के कूद कर प्राण देने का कहीं समाचार छपा था। युवती विवाहिता थी और युवक भी विवाहित था, किंतु दोनों ही अपने अपने समाजानुमोदित सहचरों से भयंकर असन्तुष्ट एक दूसरे से वास्तविक प्रेम करते थे। लोग बुरा भला कहते थे, आदत के अनुसार कलंक लगाते थे। और अवकाश ही अवकाश होने के कारण यही चर्चा दिन रात करते रहते थे। दोनों सुनतेसुनते ऊब गए और एक दूसरे के गले में हाथ डाले पुल पर से नीचे कूद पड़े। मैंने देखा बाबू जी ने समाचार पढ़कर चश्मा उतार दिया। ("उन दिनों बराबर चश्मा लगाते थे") और शून्य की ओर देखते रह गए। फिर बोले इसमें आत्महत्या की क्या बात थी। यदि प्रेम था तो जीवित रह कर लोगों का सामना करते, बहादुरी इसमें थी, यों प्राण देना कायरता है। सत्य की अप्रतिष्ठा है, उपदेश के तौर पर सुकरात और मीरा का उदाहरण दे गये, किंतु आँखें डबडबा आई, समाज की वेदी पर दो उगते प्राणों की बलि देखकर। उलझन और व्यस्त। ऐसी ही एक घटना हाल की है: जो अप्रत्याशित रूप से उनके सामने आई और वह एक ऐसा काम करने के लिये सहमत और प्रस्तुत हो गये जो कि कम से कम मेरे परिवार के अन्य "बड़ों" के लिये अकल्पनीय था। किंतु उसे जाने दें। जीवन की यह छोटी घटनायें, उन्हें याद भी नहीं होंगी। किंतु परखने वालों के लिए इनमें बहुत कुछ है।

समूची काशी के पंडितों का विरोध सहकर भी पहिले पहल बाबू जी ने एक विधवा का विवाह स्वयं कराया। अनाथालय से बालिका लेकर पाल पोस कर बड़ा किया और उसका प्रेम विवाह कराया। सभी परिचित और सगे सम्बन्धी हंसते रहे। पर मेरे अभिनव प्रेम को उस समय प्रोत्साहित किया, जिस समय भले घरों के लड़के और लड़कियां, स्टेज पर आने की बात पर "आवारा" समझे जाते थे। परदे की बला परिवार से उन्होंने ही हटाई। दादी जी अपने अंतिम क्षण तक घर में ठाकुर जी की पूजा करती गईं। किंतु बाबू जी ने उसके स्थान पर आर्यों की ईश्वर कल्पना तथा योग को महत्व दिया। यह सब होते हुए भी, सभी जानते और मानते हैं कि उनके विशुद्ध सनातनधर्मी होने और महान् निष्ठावान् होने में दो रायें हो ही नहीं सकतीं। चरित्र की उनकी परिभाषा मोम की बनी हुई नहीं है, जो स्पृश्यास्पृश्य, स्त्री, पुरुष या धर्म भेद से ही पतन की सूचिका हो जाय, नारी के पातिव्रत को वह बहुत ऊँचा आसन देते हैं, उसी तरह जैसे नर के पत्नी व्रत को। किंतु उनका विचारक यह मानने को कदापि प्रस्तुत नहीं होगा कि स्त्री के पुरुष मित्र नहीं हो सकते, पुरुष की स्त्री मित्र नहीं हो सकती। वह दोनो केवल अग्नि और तृण हैं। जो पास आते ही सुलग उठें, उनके एक लेख का यह वाक्य है। मैं जानता हूं कि एक असन्तुष्ट पति पत्नी का साथ रहना, यह जानते हुए निरंतर साथ रहना कि यह साथ जीवन भर नहीं छूटने वाला है, पागल कर देने वाली बात है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है, विवाहेतर सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तानों के विषय में लिखा है— "माँ बाप अपराधी हो सकते हैं किंतु बच्चे निर्दोष हैं, माँ बाप के अपराध के लिये संतान प्रायश्चिती नहीं बनाई जा सकती है।"

जीवन के अनेक वर्ष अब तक जेल की काली दीवारों के पीछे बीत चुके हैं, जेल-प्रवास में ही कितनी जन्म मरण की मीमांसाएँ परिवार में हो गईं। किंतु यह उदासी, तपसी वहां दर्शन, विज्ञान और धर्म पर पुस्तकें लिखता रहा, मेरे एकमात्र पुत्र कुमार जी का नामकरण 'निखिलेश्वरानन्द' भी जेल में ही किया, फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल से छूटते ही कानपुर उसे देखने आए, मुझे दफ्तर से बुलवाया, तब तक कुमार जी को गोद में ले चुके थे, मुझे देखते ही बोले, माफ कीजिये मैं आपको देखने नहीं आया हूं, इसे देखने आया हूं।

और उदारता और हृदय की महानता। एक दो उदाहरण दूंगा। शंकर सा विषपान किया है किंतु विष देने वाले को क्षमा कर दिया है, जीवन में एक बार मानहानि का मुकदमा चलाया किंतु जीत जाने पर क्षमा कर दिया, लखनऊ में माँ को भयंकर बीमारी के समय, जो उनकी मृत्यु का कारण हुई, घर के महाराज ने सबको व्यस्त देख, जो कुछ पाया गठरी में बाँधकर भाग जाना चाहा, पता लगा और अर्दलियों ने खम्बे से बांधकर पीटना शुरू किया, आपने सुना और एक दार्शनिक मुसकान बिखेरकर क्षमा कर दिया। देश के लिए वैभव पर लात मार कर भिखमंगी का बाना धारण करने के बाद हाथ में पैसे कभी रहे नहीं, जब रहा तो जिसने माँगा दे दिया। पिछली कांग्रेस सरकार में इसलिए पहले पदग्रहण नहीं किया कि एक तो समाजवादी दूसरे यह कि लोग कहेंगे कि रुपये और पद के लोभ ने इन पर विजय पा ली, पद स्वीकार करते समय पत्रों में जो वक्तव्य दिया, उसमें यही कहा कि मैं गरीब आदमी हूं और इसीलिए मुझे यह पद स्वीकार करने में संकोच होता है।

प्रांत के इतने ऊँचे पद पर आज आसीन हैं। बंगला है, मोटर है, सुख के सभी साधन हैं, हजारों व्यक्ति अधीन हैं, संकेतमात्र से या कलम की एक पंक्ति से कितनों को बना बिगाड़ सकते हैं, किंतु आज भी आप उन्हें फटा कुर्ता या लुङ्गी पहिने देख सकते हैं, सौ पैबन्द लगी। चप्पल पहिने हुए, अक्सर इत्मीनान से,

सरकारी मोटर पर बड़ी से बड़ी सभा या सचिवालय चले जायेंगे, गुसलखाने में बैठकर अपने हाथ से, नौकरों के रहते, मैंने इन्हें बनियान या लुङ्गी में साबुन लगाते देखा है। बड़ी रात को घर आए, सब लोग सो रहे हैं, चुपके से एक बगल में फ़ायलों का गट्ठर दबाया दूसरी बगल में चटाई और हाथ में टेबुल लैम्प लेकर छत पर चले गए, चटाई बिछा दी और लेट कर फ़ाइल देखी जाने लगीं। ऐसे समय चलने-फिरने में भी सावधानी से सदा की साथी खड़ाऊ भी उतार देंगे, नौकर तक भी कहीं आहट पाकर जाग न जाय। किसी पर भी अपना व्यक्तित्व नहीं लाद सकेंगे, छोटों से भी कोई बात कहनी होगी तो ऐसे कहेंगे कि वह उसे आदेश तो मान ही न सके, बिना किए रह भी न सकेगा। स्वयं कभी केश या टोपी ठीक नहीं रहेगी किंतु यदि सम्पर्क में आने वाला, और यदि वह किसी प्रकार इन्हें अनुभव करा सका कि वह इन्हें पूज्य मानता है, वे ठीक ठिकाने, अस्त व्यस्त रहे तो इन्हें पसंद नहीं आएगा, और यदि कोई पूछ बैठे कि आप ? तो उत्तर होगा। मेरी उम्र बीत गई। तुम लोगों की खेलने खाने की उम्र है। इन्हें अपने मातहतों को मैंने अक्सर फैशन पर प्रवचन देते सुना है। यह चीज ऐसे नहीं, ऐसे पहनो।

निरभिमानता तो स्वभाव में भरी है। विद्वता, पदमर्यादा, किसी वस्तु का अभिमान नहीं, पिछली सरकार में जब मिनिस्टर थे एक पंडित जी लखनऊ के बंगले पर अपने स्वार्थवश मिलने आए, किसी स्कूल के हेड मास्टर या कालेज के प्रिंसपल थे। उन्होंने आते ही हुजूर ! सरकार ! की झड़ी बाँध दी। आप सुनते रहे, फिर एकदम उबल पड़े। आप अपने को ब्राह्मण समझते हैं न, आप एक शिक्षण संस्था के प्रधान हैं, विद्वान हैं, हजारों विद्यार्थियों के चरित्र को बनाने बिगाड़ने के आप उत्तरदायी हैं, मैं आपसे वर्ष मे छोटा, विद्वता में छोटा, केवल इस कुर्सी पर बैठ जाने से आप मुझे हुजूर सरकार कहने लगे, इस कुर्सी पर न जाने कितने बैठ चुके और न जाने कितने बैठेंगे। आप काम पड़ने पर सभी पर इन बेहूदा विशेषणों की बौछार करेंगे, क्योंकि गुलामी नस-नस में बिंधी है। आपका चरित्र जब स्वयं ऐसा है तो विद्यार्थियों को क्या अपने आदर्श से ऊँचा उठायेंगे, आप अपने पद के अयोग्य हैं। कोई सहानुभूति मुझे आपसे नहीं है।

नैनीताल में एक दिन-घूमते-घूमते देवी के मंदिर पर पहुंच गए। पुजारी जी देवी की स्तुति कुछ समय के लिए छोड़ उपस्थित देव की स्तुति गाने लगे। आप बिगड़ उठे क्या तमाशा है। मेरी स्तुति गाने की आवश्यकता नहीं है। आपको पुजारी किसने बनाया।

मोटर पर कहीं लम्बी यात्रा पर चलेंगे। थोड़ी थोड़ी दूर पर मोटर रुकवा कर दूर जाकर खड़े होंगे, और ऐसा प्रदर्शन करेंगे जैसा प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन कर रहे हों। किंतु बराबर ऐसा करने पर एक बार मेरे एक सम्बंधी ने उनसे कारण पूछा। बोले बात यह है कि मैं इस उपाय से ड्राइवर और अर्दलियों को हँसने बोलने और सिगरेट बीड़ी पीने का अवसर देता हूं। वह भी आदमी हैं। मेरी उपस्थिति में यह सब नहीं कर सकते। इसीलिए मैं मोटर रुकवा कर थोड़ी दूर चला जाता हूं।

हिंदी का पक्ष लेकर गांधी जी से इनका तर्क छिड़ गया था। मंत्रि पद से त्यागपत्र देने के लिए यह प्रस्तुत हो गए थे। यह सब समाचार पत्रों में आ चुका है। कलाकार उन्हें प्रिय है। वह चित्रकार हों, शिल्पी हों, संगीतिज्ञ हों, कवि हों, कुछ हों, किंतु स्वपुष पर-मंडराने वाली कला इन्हें रुचिकर नहीं, जीवन से सम्बद्ध वह कला को देखना चाहते हैं। कला, कला के लिए कला सिद्धांत बाबू जी को केवल मानव विलास लगता है।

परिवार इन्हें अपने में कभी बाँध नहीं सका। बाबू जी से एक शिकायत मुझे है। मुझे ही क्या परिवार के सभी लोगों को है। माया ममता से यह ऊपर हैं। पहले ही कह चुका हूं, मेरी कविता की एक पंक्ति है।

"यह भी है इतना शात कि तुम दिखला न सके निज प्यार यहां" जहां समस्त कविता में चरण पखारने की बात है, भक्ति और श्रद्धा के फूल हैं, वहां एक इस पंक्ति में अभियोग भी है, और लोगों की बात छोड़ भी दें, संतान का हृदय पिता से प्रदर्शन वाला स्नेह ही चाहता है। आपके मन में किसी के लिए प्रेम का सागर लहरें लेता हो, किन्तु उसकी एक बूंद भी उस व्यक्ति को नहीं मिल पाती, तो वह आपके स्नेह को जाने मानेगा क्या। बाबू जी की यही आदत है कि वह कुछ भी करदें। भीतर ही भीतर स्नेहात् रेख से पागल हो जाय, किन्तु ऊपर एक छींटा भी न आने देंगे। मन में रो लेंगे पर ऊपर से हँसते रहेंगे। मैं मानता हूं कि यह अपने को ही धोखा देना है। मैं देख चुका हूं कि वह भीतर का रोना कैसा, क्या होता है, मैं जानता हूं। आँखों में आँसू और अधरों की हँसी दोनों में होड़ जब लगती है, तब हँसी को विजय कितनी मँहगी पड़ती है। पर साथ ही यह भी मेरी मान्यता है कि महान् व्यक्तियों के जीवन की यह कमजोरी ही उनका बल भी है। इसे उनकी परिवार के प्रति अनुत्तरदायिता लोक समझे। क्योंकि संसार में हम आप जैसे साधारण मानव ही अधिक हैं, किन्तु इन मानवोत्तर प्रतिभाओं को भी क्या प्रचलित धारणाओं के मापदण्ड से तौला जा सकेगा। वास्तविकता तो यह है कि इस महाप्राण का मूल्य हमारे परिवार ने कभी न जाना, शायद जानेगा भी नहीं।

किंतु यह सब बातें कही जा सकती हैं, सभी गण्यमान्य व्यक्तियों के जीवन की महानता का परिचय देती हैं। यह यदि इनमें है तो विशेषता क्या है। वह मेरे पिता हैं; सम्भव है मैं अतिशयोक्ति करता हूं, पर मैं विश्वास दिला दूं केवल पिता होने के नाते ही मैं उनकी श्रद्धा नहीं करता, पिता तो सभी पुत्रों के होते हैं। मैं सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से पिता कहा जा सकता हूं, किंतु मेरी श्रद्धाजलि एक भक्त की है, पुत्र की नहीं। बाबू जी में कुछ ऐसा है जो बरबस मेरा ही नहीं, मेरे जैसे सेकड़ों, हजारों लोगों का मस्तक श्रद्धा से विनत कर देता है। वह मेरे हैं, मेरे रहेंगे, परिवार के हैं, रहेंगे, पर साथ ही वह हमसे आगे बढ़ कर समाज के, देश के संसार के हैं, हम उनकी पूजा कर सकते हैं, उन्हें छू नहीं सकते। बौना होकर चांद छूने का प्रयास जैसा ही यह होगा, चरण पखारने योग्य भी तो हम नहीं हैं। बस यही कह सकते हैं, उन मंगल चरणों की पूजा में "पल भर का सुख हो अनंत।"

श्री सम्पूर्णानन्द जी

श्रीमती राजरानी

संयुक्त प्रान्त के शिक्षा तथा श्रममन्त्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी के जीवन के किस पहलू पर अधिक प्रकाश डाला जाय, यह सोचना कठिन सा है। भारत में ऐसी विभूति कम ही होंगी, जिनका जीवन इतना सर्वाङ्गी हो और जिनकी रुचियों में इतना वैचित्र्य हो। उन्होंने अपना जीवन एक साधारण व्यक्ति के रूप में प्रारम्भ किया था और शिक्षक से प्रोफेसर, प्रोफेसर से प्रिंसपल और तत्पश्चात् शिक्षामंत्री हो गए। शिक्षा के सम्बन्ध में इनका ज्ञान इतना प्रगाढ़ है कि इस समय भारतवर्ष में बड़े बड़े शिक्षा विशेषज्ञों में उनकी गणना हो सकती है। उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग का मंत्रित्व उन्होंने मार्च १९३८ में सम्हाला था। १९३९ के नवम्बर तक, यानी जब तक काँग्रेस ने पद त्याग नहीं किया, वे शिक्षा मंत्री रहे। थोड़े से ही कार्यकाल में उन्होंने शिक्षा प्रचार योजना का संचालन ऐसी योग्यता से किया कि हमारे सूबे में शिक्षितों का औसत ७॥ प्रतिशत से बढ़कर ९ प्रतिशत हो गया। अप्रैल सन् १९४६ से आपने पुनः वही पद ग्रहण किया और २॥ साल के भीतर केवल हाईस्कूल और इण्टरमीडियेट की परीक्षा में बैठने वालों की संख्या लगभग २५,००० से बढ़कर ८०,००० हो गई है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १५ वर्ष में उत्तर प्रदेश में निरक्षरता का प्रायः विनाश हो जायगा। केन्द्रीय सरकार तथा अनेक प्रांतीय सरकारों ने उत्तर प्रदेश की शिक्षा योजना को आदर्श माना है।

उसे दूर करने के उपाय भी कर रहे हैं, तथापि वे अध्यापकों को विवादग्रस्त राजनीति के चक्र से बचाना चाहते हैं। वे मज़दूर की हर एक माँग पूरी करना चाहते हैं, पर उन्हें यह सहन नहीं है कि देश की वर्तमान परिस्थिति में मज़दूर निरुद्यमी या आलसी होकर "कम पैदा करो" की नीति अपनायें। वे समाज की सेवा के लिए सेवकों की टोली तैयार करना चाहते हैं, इसीलिए उन्होंने फैजाबाद में समाज सेवा की पढ़ाई शुरू करा दी है और काशी विद्यापीठ में मज़दूरों की सेवा के लिए शिक्षा का प्रबन्ध भी कराया है।

अस्तु, यह वृत्तांत शासक सम्पूर्णानन्द का है। पत्रकार, साहित्यिक तथा दार्शनिक सम्पूर्णानन्द का वर्णन भी बड़ा विशद है। भारत के प्रधान विद्वानों में इनकी गणना होती है। साहित्य तथा कविता के प्रति उनकी प्रबल रुचि रही है। विज्ञान के विद्यार्थी थे, पर दर्शन शास्त्र में इनके जैसी गति कम की होगी। भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दर्शनों में आपका समान अधिकार है। संस्कृत तथा फारसी भी जानते हैं; गुजराती, मराठी, बँगला का अच्छा ज्ञान है। दर्शन शास्त्र के साथ, धर्मशास्त्र का व्यापक अध्ययन है। आप सनातनधर्मी हैं किन्तु रूढ़िवादी नहीं।

आपका "दर्शन और जीवन" नामक ग्रन्थ पठनीय है। धर्म पर इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ "चिद्विलास" है। पर इस जटिल पुस्तक को विद्वान ही समझ सकते हैं। इसका संस्कृत संस्करण भी प्रकाशित हो रहा है। अंगरेजी संस्करण की तैयारी हो रही है। इस ग्रन्थ पर इनको मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला है। उनके दर्शन ज्ञान का इसी से पता चल सकता है कि आप काशी विद्यापीठ में दर्शन शास्त्र के अध्यापक थे।

श्री सम्पूर्णानन्द जी को "समाजवाद" ग्रन्थ पर भी मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है। हिन्दी में ये प्रथम लेखक हैं जिनको दो बार मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है। इनके लिखे ग्रन्थों की तालिका लम्बी है, कुछ का नाम नीचे दिया है—

१. कर्मवीर गान्धी २. सम्राट अशोक ३. महाराज छत्रसाल ४. सम्राट हर्षवर्द्धन ५. चेतसिंह और काशी का विद्रोह ६. देशबन्धु चितरंजनदास ७. भौतिक विज्ञान ८. ज्योतिर्विनोद ६. भारत के देशी राज्य १०. चीन की राज्यक्रांति ११. मिस्र की स्वाधीनता १२. अन्तर्राष्ट्रीय विधान, १३. समाजवाद १४. व्यक्ति और राज्य १५. चिद्विलास १६. दर्शन और जीवन १७. गणेश १८. आर्यों का आदिदेश १६. ब्राह्मण सावधान २०. पुरुष सूक्त।

"आर्यों का आदि देश" ऐतिहासिक ग्रन्थ है, इसके द्वारा आर्यों का आदि स्थान सिद्ध किया गया है। "भौतिक विज्ञान" वैज्ञानिक ग्रन्थ है। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि सम्पूर्णानन्द जी ने विज्ञान, साहित्य, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि अनेक विषयों पर लिखा है। इनके "समाजवाद" ग्रंथ में समाजवादी सिद्धांत का दार्शनिक प्रतिपादन है। इस ग्रंथ की महात्मा गांधी ने भी प्रशंसा की थी। यहां पर यह लिख देना उचित होगा कि श्री सम्पूर्णानन्द जी अनेक यौगिक क्रियाओं से परिचित हैं। इनके नाना श्री रामेश्वरदयाल जी महाराजा बनारस के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। उन्होंने नौकरी छोड़ कर वैराग्य धारण किया और गुरु रामदयाल जी के शिष्य हो गये। सम्पूर्णानन्द जी श्री रामेश्वरदयाल जी के शिष्य हैं।

पत्रकार सम्पूर्णानन्द ने सन् १६१०-११ से हिंदी में लिखना प्रारम्भ किया। सन् १६१४ में पण्डित लक्ष्मणनारायण जी गर्दे का "नवनीत" नामक प्रसिद्ध मासिक पत्र निकला। उसमें आप बराबर लिखा करते थे। इसके बाद ये स्वर्गीय श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी की "प्रभा" नामक मासिक पत्रिका में नियमित रूप से लिखते रहे। सन १६२२ में आप मर्यादा नामक मासिक पत्रिका के सम्पादक थे। दो वर्ष तक काशी से प्रकाशित होने वाले अंगरेजी दैनिक "टु डे" के भी सम्पादक थे।

१। वर्ष की आयु में परिवार के पुराने नौकर शीतल बाबा की गोद में सम्पूर्णानन्द जी
बाईं ओर—स्व० मुंशी विजयानन्द जी
दाईं ओर—मु० अम्बिकाप्रसाद जी (सम्पूर्णानन्द जी के मामा)

श्री सम्पूर्णानन्द जी १६१३ में
बाईं ओर से (१) श्री सम्पूर्णानन्द जी
(२) मामा मुंशी अम्बिकाप्रसाद जी
(३) दूसरे मामा मुंशी शीतलप्रसाद जी,
बी०ए०, एल एल० बी०, एडवोकेट, प्रतापगढ़

संक्षिप्त जीवनी

पौष शुक्ल ११ सम्वत् १९४६ तदनुसार १ जनवरी सन् १८९० में आपका जन्म हुआ। अपने पिता श्री विजयानन्द के जीवन की सादगी तथा सच्चरित्रता का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। दस बारह की उम्र से ही आपको बाहरी पुस्तकों के पढ़ने का शौक हुआ, जो अब तक जारी है। १४ वर्ष की उम्र में ही आप मैट्रिक में पहुँच गये, पर उन दिनों सोलह वर्ष की उम्र हुए बिना कोई मैट्रिक की परीक्षा में नहीं बैठ सकता था, अतएव इनको दो साल तक घर बैठना पड़ा। इस अवधि में इन्होंने काशी के पुस्तकालयों के अनेक ग्रन्थ पढ़ डाले। जब इनकी उम्र दस वर्ष की ही थी, इन्हें कलकत्ते से अंग्रेजी में सोलह भागों में प्रकाशित धर्म ग्रन्थ पढ़ने का अवसर मिला। प्रत्येक भाग पचास साठ पृष्ठों का था। धार्मिक पिता की सन्तान होने के कारण इनकी रुचि इस ग्रन्थ की ओर हो गई और उसी पुस्तक ने इनके मन में धर्म के प्रति जिज्ञासा की भावना कूट कूट कर भर दी। इस ग्रन्थ में सभी धर्मों पर प्रकाश डाला गया था।

तेरह चौदह वर्ष की उम्र में इन्होंने सत्यार्थप्रकाश पढ़ा, उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि कट्टर आर्य समाजी हो गये, इस आर्य समाज की प्रतिक्रिया वृन्दावन में हुई। सन् १९१३ में राजा महेन्द्रप्रताप आग्रह करके इनको प्रेम महाविद्यालय में गणित एवं विज्ञान के अध्यापक बना कर ले गये। बीस वर्ष की उम्र में बी० एससी० पास करने के बाद श्री सम्पूर्णानन्द जी लन्दन मिशन हाई स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए, इसके बाद जब प्रेम महा विद्यालय में काम करने लगे तो वहां के आचार्य कुंवर हुक्मसिंह के कट्टर आर्यसमाजीपन ने इनके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी और वहीं इन्होंने मस्तक पर तिलक लगाना शुरू किया जो आज तक जारी है। वृन्दावन से सम्पूर्णानन्द जी काशी आये और हरिश्चन्द्र हाई स्कूल में अध्यापन का कार्य करने लगे अब उनके मन में सनातन धर्म के प्रति अनुराग जाग्रत हुआ। अपने साथी श्री बृजपाल दास तथा स्व० मदन मोहन शास्त्री के साथ इन्होंने सनातन धर्म स्कूल की स्थापना की तथा सार्वजनिक सभाओं में सनातन धर्म पर व्याख्यान देने लगे। उन दिनों काशी में दयानन्द ऍंग्लो वैदिक स्कूल खुला था, उसी के जवाब में सनातन धर्म स्कूल खोला गया था।

उन दिनों शिक्षा विभाग में इनके कालेज जीवन के अध्यापक श्री मेकेञ्जी प्रमुख स्थान पर थे। प्रान्तीय सरकार ने इन्दौर के राजकुमार कालेज (यानी डेली कालेज) के लिए विज्ञान के प्रोफेसर पद पर नियुक्ति के लिए इनके नाम की सिफारिश की श्री सम्पूर्णानन्द जी सन् १९१५ में इंदौर चले गए, दो वर्ष बाद ही बीकानेर के डूंगर कालेज के आचार्य बन गये। सन् १९२१ में आपने यहीं से असहयोग आंदोलन में प्रवेश किया और अपने जन्म स्थान बनारस चले गये तथा जिला कांग्रेस कमेटी के मन्त्री हो गये।

१९२१ में जेल यात्रा का प्रारम्भ हुआ, तब से पाँच बार जेल जा चुके हैं और जीवन के लगभग सात वर्ष जेल में काटने पड़े हैं। इसके बाद का इतिहास सर्व साधारण को विदित ही है। सन् १९३३ में बम्बई प्रथम समाजवादी सम्मेलन के आप अध्यक्ष हुये और आप समाजवादी दल के संस्थापकों में से हैं। सन् १९४५ में पूना में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। इनकी विद्या तथा पाण्डित्य से प्रभावित होकर प्रयाग तथा लखनऊ के विश्व विद्यालयों ने आपको "साहित्य के डाक्टर" की उपाधि दी है।

श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में एक बात और। सन् १९११ में आप घर द्वार छोड़ कर साधू हो गए थे। उस समय उनका विवाह हुए पाँच वर्ष हुए थे। बड़ी कठिनाई से पिता जी इन्हें घर ले आए। तब से वे घर छोड़ कर तो न भागे, पर साधु बने रहे और सच्चे अर्थ में आज भी साधु हैं।

बापू के पत्र

श्री सम्पूर्णानन्द जी के नाम

सेगांव, वर्धा
२७-७-३७

भाई सम्पूर्णानन्द,

आपकी पुस्तक मैं तीथल ले गया था, वहीं पढ़ने का आरम्भ कर दिया था। गत शनिवार ता० २४-७-३७ को यह खतम की। थोड़े भी मिनिट मिल जाते थे, तो पढ़ लेता था। ध्यान से 'अथ' से इति तक पढ़ गया हूं। मुझ को पुस्तक अच्छी लगी भाषा भी मधुर है। जो संस्कृत बिलकुल नहीं जानते हैं उनके लिये कठिन भी मानी जाय। अन्त में हिन्दी अंग्रेजी और अंग्रेजी हिन्दी शब्द कोष दिया है। वह अभ्यासी के लिये उपयोगी है। बग़ैर किसी की निन्दा किये समाजवाद के पक्ष में जो कुछ लिखा गया है वो स्तुत्य है।

समाजवाद के जो सिद्धांतों का निरूपण पुस्तक में किया गया है, करीब करीब उन सबको स्वीकार करने में मुझ को कोई आपत्ति नहीं है, जयप्रकाश की पुस्तक भी मैं ध्यान से पढ़ गया हूं। आपके और उनके निरूपण में कुछ भेद हो सकता है क्या? हिन्दोस्तान में अन्त में क्रांति कैसे होगी। उसका स्पष्टिकरण मैंने न आपकी पुस्तक में पाया है न जयप्रकाश की में। बहुतों से भी बात करने से मुझे पता नहीं चला। परसों मेरे हाथ में मेहरअली ने मद्रास में जो एक भाषण दिया है, आया उसे मैंने पढ़ लिया। उसमें समाजवादी क्या कर रहे हैं वह ठीक तौर से बताया गया है। उसका मतलब यह है कि हर जगह में बलवा पैदा कर देना। ऐसे तो बगैर अहिंसा के हो ही नहीं सकता है। आपके पुस्तक में ऐसा कुछ नहीं पाया है। शांति अर्थात शांत कानून भंग से, शांत असहयोग से जैसा कि हम सन् १९२० से करते आये हैं। उससे हम शक्ति पैदा कर सकते हैं कि नहीं?

आपने लिखा है कि समाजवाद के सिद्धांतों का पूर्णतया अमल जबतक राज्याधिकार प्राप्त नहीं हुआ तब तक नहीं हो सकता है। माना कि कोई बड़ा जमीनदार पूर्णतथा समाजवादी हो जाता है तो वह अपने सिद्धांतों का पूर्णतया अमल कर सकता है? कहा जाय कि उसके हाथ में दंड नहीं है तो कोई हिन्दी राजा समाजवादी बन जाय तो पूरा अमल हो सकेगा? मुझे ऐसे स्मरण है कि आपने लिखा है कि जब तक सारा जगत समाजवादी न बने तब तक समाजवाद का सम्पूर्ण अमल नहीं हो सकता है, इसका यह मतलब है कि यदि हमें पूर्ण स्वाधीनता हासिल हो तब भी समाजवाद का पूर्ण या करीब करीब अमल नहीं हो सकेगा। शायद मेरा मतलब आप समझ गये हैं। इस प्रश्न पूछने का हेतु इतना ही है कि समाजवादी सिद्धांत और उसके अमल के जो साधन हैं उनको मैं कहां तक स्वीकार कर सकता हूं सो जांनु,

इस पत्र का उत्तर यथावकाश भेजियेगा, मुझे कोई जल्दी नहीं।

आपका
(हस्ताक्षर) मो० क० गांधी

भाई संपूर्णानंद,

अखबारों में कांग्रेस
पलटन २०००० की बनाने
की बात छपी है सो
क्या है? अगर हकीकत में
ऐसी पलटन की बात
है तो कांग्रेस की
अहिंसा की नीति के साथ
बैठ सकती है?

बापू के आशीर्वाद

२९-७-३८ सेगांव

सेगांव. वार्धा.

८-१-३८

भाई संपूर्णानंद.

आपने लीखा है वह सब मुझे मान्य है. हम कांग्रेसने भाषाका नाम संस्करण किया है. और कोई भेद रखा नहीं है. जो सच्चे हैं वे तो हिंदी शब्दका हिंदु या मुसलमान दोनो का व्याकरण का ही स्वीकार नहीं करेंगे. औरोंका कहा करेंगे. और आपने तो मिसाल बताई

है कि कांग्रेस का कारोबार
राष्ट्रभाषा [illegible]
विरोधी हो जायगा.

मैं इन बातों पर
आपकी राय चाहता हूँ
कि और कुछ भी करूँ कि
मैं तो इस बारे में
काफी कह चुका और
लिख चुका हूँ

८-९-३८ आपका
मो. क. गांधी

श्री सम्पूर्णानन्द जी

हस्तलिपि विशेषज्ञ द्वारा विश्लेषण

जगद्भर्ताऽपि यो भिक्षुः,
लोकवासोऽनिकेतनः ।
विश्वगोप्ताऽपि निरायुधः ।
तस्मै कस्मै नमोनमः ॥

सम्पूर्णानन्द
२०.८.६२

लेखनी लिखती है, वर्णमाला के वह अक्षर जिनके द्वारा लेखक अपने भावों को, विचारों को और इच्छाओं को व्यक्त करना चाहता है। साथ ही साथ वही लेखनी लिखते हुए स्याही की कालिमा से एक चित्र भी बनाती जाती है, इसे हम लिखावट कहते हैं। लिखावट ऐसा चित्र है जिसमें लिखने वाले की मानसिक अवस्था और उसके स्वभाव तथा व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले सम्पूर्ण लक्षणों की स्पष्ट छाप रहती है। हम सब लिखते हैं परन्तु हम सबकी लिखावटें अपना अपना निजी रूप और आकार रखती हैं। यहाँ तक कि समय समय पर हमारी अपनी लिखावट भी बदलती रहती है। और क्यों न बदले ? हमारे विचारों की चंचलता की छाया हमारे सम्पूर्ण आचरणों पर पड़ना अनिवार्य है।

ऊपर दिये हुए लिखावट के उदाहरण में गम्भीरता का साकार चित्रण है। तीव्रगति से लिखी हुई लिखावट, आवेग और आडंबर सूचक चिन्हों से रहित, सुव्यवस्थित, स्थिर और स्पष्ट है। अक्षरों का आकार आद्योपांत समान है, समान अंतर से लिखे गए हैं और गोलाकार हैं। अधोगामी रेखाएँ दृढ़ हैं। मात्राएँ, विसर्ग तथा विराम यथा स्थान हैं।

इन चिन्हों का वैज्ञानिक विश्लेषण और संयोग करने से सिद्ध होता है कि लेखक का हृदय सरल और निष्कपट है। भावुकता, सहानुभूति और मिलनसारिता लेखक की प्रकृति के स्वाभाविक लक्षण हैं। यह स्वावलंबी हैं, दृढ़ निश्चय हैं और उद्योगी हैं। राजनीति में दिन रात लगे रहते हुए, उसकी कुटिलता से दूर न्यायप्रिय प्रबंधकर्ता, निर्देशक शासन मद से रहित अनुशासक हैं। यह हैं हमारे माननीय मंत्री श्री सम्पूर्णानन्द जी। इनको शत: प्रणाम है।*

—*बालकृष्ण मिश्र*

* *श्री बालकृष्ण जी* हस्तलिपि देखकर लेखक की वृत्तियों के अध्ययन का कार्य कर रहे हैं। इन जैसे निष्ठावान और धीर प्रकृति के नवयुवकों की देश को आवश्यकता है, जो ज्ञान के नये नये भंडार खोल कर सर्वसाधारण के लिए नई नई निधियां सुलभ कर सकें। उपर्युक्त लेख में लेखक ने *श्री सम्पूर्णानन्द जी* की लिपि का विश्लेषण किया है। —सम्पादक

नमस्कार

दूर यहां की अस्पताल की शैया पर हूँ सूचीविद्ध,
पहुँचूँ कैसे, जहाँ हो रहा अभिनन्दन अभिवन्दन सिद्ध,
स्मरण वहाँ का मेरे मन में लाया है आनन्द अमल,
नम्र नमित मैं इस क्षण में हूँ पीड़ा-पुलक-प्रपूर्ण समृद्ध ।

—सियाराम शरण गुप्त

ह० न० अस्पताल, बम्बई

फाल्गुन कृष्ण १२–२००६
रात के एक बजे

हमारा हिन्दी भवन

श्रीमती रामदेवी

बुन्देलखण्ड का स्थान भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण रहा है। भगवान वेद-व्यास जी की जन्मभूमि, यमुना-तट पर स्थित कालपी नगर वैदिक काल से आज तक का महान् इतिहास अपने अन्तर में छिपाए है। कालपी के आस-पास कितने ही स्मारक बिखरे पड़े हैं, जिनके भीतर भारतीय इतिहास के कितने ही उज्ज्वल पृष्ठ छिपे हुये हैं। व्यासक्षेत्र (जिसके पुनर्निर्माण कार्य को प्रांतीय सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है), अशोक काल का भग्नप्राय विद्यालय (जो अब चौरासी गुम्बद कहलाता है, और जिसके भीतर लोदी शासक की कब्र विद्यमान है), ३०० सीढ़ियों का रम्य किला घाट, बीरबल का रंगमहल, अकबर कालीन टकसाल, ऐतिहासिक किले का भग्नावशेष व श्री दरवाजा व नगर के आस-पास बिखरे हुए अनेकानेक स्थल नगर के गत गौरव के साक्षी हैं। इनके अतिरिक्त आधुनिक कालपी की लंकामीनार व श्री पाहूलाल जी का देवालय, जहाँ प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध के नायक नाना साहब व महारानी लक्ष्मीबाई ने विश्राम किया था, दर्शनीय स्थान हैं, पर इस प्राचीन तथा अर्वाचीन गौरव से संतुष्ट न रहकर इस नगर के कुछ विद्यार्थियों ने सन् १९२६ में एक नवीन संस्था को जन्म दिया।

प्रत्येक संस्था की उत्पत्ति किसी विशेष उद्देश्य को लेकर होती है। यह बात हिन्दी भवन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किन्तु बहुत कम लोग यह अनुभव कर सकेंगे कि संस्था को स्थापित करने वाले दस बारह वर्ष के बालकों के सम्मुख कोई स्पष्ट आदर्श रहा होगा। सर्वश्री चन्द्रभान विद्यार्थी, लल्लूराम चौधरी, मोतीचन्द्र वर्मा, राधाकृष्ण गुप्त, स्व० जगदीशनारायण रूसिया, स्व० लालताप्रसाद गुप्त, आदि की अवस्था यद्यपि बारह से सोलह वर्ष के बीच में थी, तथापि उनमें एक प्रेरणा थी, निस्पृह काम करने की लगन थी, जिससे आकर्षित हुए बिना कोई रुक नहीं सकता था। निःसंदेह कालपी के प्राचीन गौरव से इन बालकों को बहुत प्रोत्साहन मिला था और यह सर्वथा स्वाभाविक भी था।

महामहिम डा० कैलाशनाथ जी काटजू कालपी के गौरवमय इतिहास से अत्यन्त प्रभावित हैं, उन्होंने १९ सितम्बर, १९४९ को अपने एक पत्र में लिखा था:—

"जैसा कि मैं इसके पूर्व भी निजी वार्तालाप एवं जन-सभाओं में कह चुका हूं, मुझे कालपी के एक नगर के रूप में फिर से बसाये जाने एवं उसकी उन्नति में अत्यधिक रुचि है। यह बहुत सुन्दर स्थान पर बसा हुआ है, और उसका इतिहास इस प्रकार का है, कि जिस पर किसी भी नगर को उचित गर्व हो सकता है। कालपी उन नगरों में से है, जिनका विगत दो हजार वर्षों में, हिन्दू और मुस्लिम शासन काल में बहुत अधिक महत्व रहा है। कालपी के आस-पास अनेक ध्वंसावशेष स्मारक बिखरे पड़े हैं, जिनका बहुत अधिक ऐतिहासिक महत्व है। किलाघाट की, किले से यमुना के सुन्दर तट तक जाने वाली सीढ़ियों की मरम्मत व रक्षा व्यवस्था की योजना से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं, मेरा यह सुझाव है कि आप एक ज़िला पुरातत्व

मिति का संगठन कर सम्पूर्ण प्रांत के सम्मुख आदर्श उपस्थित करें। यह कार्य कालपी से ही अच्छी तरह आरम्भ हो सकता है।"

निस्संदेह प्राचीन इतिहास से प्रेरणा पाकर ही हिन्दी भवन के जन्मदाता बालकों ने इस सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना की थी। इन साधनहीन बालकों की कर्मठता ने सबसे पहले सुप्रसिद्ध विद्वान स्व० श्री कृष्ण बलदेव जी वर्मा को आकर्षित किया। वर्मा जी को बुन्देलखण्ड के इतिहास से अत्यन्त प्रेम था, और उनके ही फलस्वरूप बुन्देलखण्ड के नरेशों को हिन्दी-प्रेम की प्रेरणा मिली थी। स्वर्गीय वर्मा जी ने इन होनहार बालकों की प्रतिमा को पहचाना और सही मार्ग पर प्रेरित किया। अपने विचार २०-८-२८ को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किए थे:—

"संस्था का घर यद्यपि बहुत छोटा है, तथापि बालकों ने आदर्श चित्रों तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं से उसे जिस प्रकार सजा रखा है, उससे मुझे वह एक ऋषि कुटीरवत् भासित हुआ, और साथ ही मुझे इन बालकों के उज्ज्वल भविष्य की भी एक झलक यहाँ देख पड़ी। मुझे नगर-निवासी विद्वानों व श्रीमन्तों से आशा है कि वे समय-समय पर इस संस्था को यथासम्भव सहायता देकर बालकों का उत्साह बढ़ाते रहेंगे क्योंकि किसी नगर व देश व जाति की भावी उन्नति बालकों की ही उन्नति अवलम्बित होती है।"

लोक-सेवा की निस्पृह भावना से ये बालक अपने काम में जुट गये। संस्था को शीघ्र ही विश्ववंद्य महात्मा गांधी जी का अभिनन्दन करने का अवसर २२-११-१९२९ को प्राप्त हुआ। इस घटना से हिन्दी भवन के इन कार्यकर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त और उद्देश्य स्पष्ट कर दिया। अपने अभिनन्दनपत्र में इस संस्था ने महात्मागांधी जी को सम्बोधित करते हुए लिखा कि, "हमारा बाल हृदय अपने ही को आपका मन्दिर बना तत्रस्थित आपका मानसिक पूजन करता रहा, जिसके प्रसाद स्वरूप हमने आपका आदर्श पा लिया, हम कृत-कृत्य हैं, और आपके चिर ऋणी हैं। हमारी संस्था लोकसेवा के लिए उपस्थित है।

"भगवन्! हम जीवन-यात्रा में आशावादी हैं। हमें आपके दिखलाए हुये कर्ममार्ग पर यात्रा करने से अपना भविष्य उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है। अतः भेंट स्वरूप हम बालकगण आपको विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम उस कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहेंगे।"

अभिनन्दनपत्र की अन्तिम पंक्तियाँ निम्न थीं:—

"कर्म योगिन्!

स्वागत स्वागत भली करी जो इतहिं पधारे।
तव पद—कमल विलोकि भये धन भाग्य हमारे॥

चिर दिन सों अति आश रही, तव पद पर्शन की।
धन्य विधाता आज साध पूजी नयनन की॥

कहो कहा यहि समय आज हम तुम पर वारैं।
निज तन-मन-धन-सकल, तुच्छ हम हृदय विचारैं॥

भेंट धरन के हेतु परहि कहुँ कछु न लखाई।
मिलत्यो यदपि सुमेरु समझते हम सोउ राई॥

बड़े बड़े श्रीमान - देहिं बहु मूल्य पदारथ ।
विद्वानहुं देवहिं अभिनन्दन पत्र यथारथ ॥
'आपू' पै हम आशिर्वाद बिना कछु पुंजी न राखहि ।
होवहु आयुष्मान यही सत चित सों माखहि ॥"

यद्यपि इस अभिनंदन पत्र का संपादन स्व० श्री कृष्ण बलदेव वर्मा द्वारा हुआ था, किंतु इसके शब्द इन बालकों की हार्दिक मनोवृत्ति को व्यक्त करते थे। इसके बाद तो हिंदी भवन प्रगति पथ पर शीघ्र गति से अग्रसर हुआ। मार्ग में बड़ी बाधायें आईं। बड़ी-बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ा। अनेक संकट आए, पर इसके कार्यकर्त्ताओं का धैर्य न टूटा, उनका उत्साह खंडित न हुआ। उनकी क्रिया शक्ति अनेक बाधाओं से बढ़ती ही गई। वास्तव में वह प्रेरणा, वह साहस, शक्ति, जो हिन्दी भवन के साधनहीन कार्यकर्त्ताओं को सदैव उत्साह एवं प्रेरणा प्रदान करती रही है, वह उन्हें पूज्य बापू जी से ही प्राप्त हुई थी। संस्था के पोषक स्वर्गीय श्री कृष्णबल्देव वर्मा का स्वर्गवास हुआ। संस्था के कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री जगदीश नारायण रसिया, श्री श्रीविनोद जैतली, श्री लालमणि विद्यार्थी और श्री लालता प्रसाद गुप्त असमय ही अपना जीवन होम कर गए। संस्थाको महा महिम श्री श्रीप्रकाश जी गवर्नर आसाम प्रांत, माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा सचिव संयुक्त प्रांत, श्री मूलचंद्र जी अग्रवाल। संचालक विश्वमित्र, श्री बाबा राघवदास जी और श्री ए० वी० ठकर बापा का वरद सहयोग प्राप्त हुआ। सर्व श्री पूर्णचन्द्र गुप्त, जगन्नाथ प्रसाद गुप्त, राम चरण वाश्नेय, रघुनन्दन प्रसाद गुप्त, जगदीश चंद्र मेहरोत्रा, शिवनाथ गुप्त, गौरी शंकर गुप्त, रामजीदास तिवारी, सुदामालाल गुप्त, रामरत्न गुप्त, राम गुलाम गुप्त, गुरुदेव गुप्त, चंद्र शेखर पुरवार, नरेन्द्र भूषण जैतली, फूलचंद्र प्रजापति, बृजलाल सेठ, गुलजारी लाल सर्राफ, राम सनेही गोप, भगवान दास जी अयोध्यावासी, रामचरन पुरवार, शिवशंकर मिश्र, राधामोहन पुरवार, रामरत्न मेहर, रामेश्वरदास पुरवार, गिरजाशंकर पुरवार, केदारनाथ सक्सेना, दुर्गाप्रसाद तिवारी आदि भी हिन्दी भवन के इन कर्मठ कार्यकर्त्ताओं के सहयोगी बने। श्री परिपूर्णानन्द जी वर्मा, श्री कृष्ण-चंद्र जी जैन आदि ने भी पूर्ण सहयोग दिया।

हिंदी भवन के कार्यकर्त्ता किसी दल-विशेष के सदस्य नहीं थे, जहां कुछ लिबरल और कुछ कट्टर कांग्रेस सेवक थे, वहाँ कुछ के मन में क्रांतिकारी कार्यक्रम भी दबा पड़ा था। सन् १९३५ में श्री सम्पूर्णानंद जी ने ऐसी कच्ची, कुछ बेमेल तथा कुछ अनिश्चित टोली का नेतृत्व स्वीकार कर जोखिम ही उठाया था, उस समय श्री सम्पूर्णानंद जी ने कहा था—

"मैं इस संस्था की कई दृष्टियों से कदर करता हूं। इस संस्था की सबसे बड़ी खूबी तो यह है कि इसके सदस्य विभिन्न विचारों के गांधीवादी, साम्यवादी आदि होते हुए भी संस्था का काम एक राय से करते हैं। यद्यपि यह छोटा केंद्र है, लेकिन फिर भी यह संस्था देश के लिए बहुत बड़ी मिसाल है। इसके कारण कई स्थानों को इस बात की प्रेरणा मिल रही है कि उन स्थानों में भी इस प्रकार के संगठन स्थापित हों। मैं तो हमेशा इसकी उन्नति चाहता हूं।"

हां, तो फिर हिंदी भवन उन्नति के पथ पर अग्रसर होता गया। महात्मा गांधी जी की प्रेरणा से आसाम प्रांत में हिंदी प्रचार के निमित्त अपना प्रचारक भेजा। सुप्रसिद्ध पाक्षिक पत्र 'मधुकर' की प्रेरणा से बुन्देलखण्ड साहित्य सम्मेलन की आयोजना हुई। आज हिंदी भवन का जो भव्य भवन बनकर तैयार हुआ है, वह इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि दुनिया में केवल रुपया पैसा ही सब कुछ नहीं होता, हिंदी भवन के उत्साही तरुणों की अनेक वर्षों की साधना ही उसकी मजबूत नींव है।

हिन्दी भवन की प्रवृत्तियां व्यापक और विविध हैं। उसका सुन्दर पुस्तकालय है, वाचनालय है, रेडियो गृहालय है, व्यायामशाला, राइफल क्लब है, हरिजन सेवा, मद्य निषेध प्रचार, शिक्षा प्रसार, अस्पृश्यता रण, हिंदी प्रचार, स्वास्थ्य निर्माण आदि सामाजिक सेवाओं की अनेक शाखायें हैं, दैनिक "जागरण" एवं कानपुर तथा साप्ताहिक "स्वतंत्र" भी हिन्दी भवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों का एक अंग है।

हिन्दी भवन के विभिन्न वर्षों में माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा सचिव उत्तर प्रदेश, महामहिम श्री काश जी, गवर्नर आसाम, राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन, सर सीताराम जी पाकिस्तान स्थित भारतीय कमिश्नर, श्री मूलचंद्र जी अग्रवाल, बाबा राघवदास जी, सर पद्मपत जी सिंहानियां, श्री रामरत्न जी गुप्त, नीय श्री गोविंद बल्लभ जी पंत, माननीय श्री लाल बहादुर जी शास्त्री गृह सचिव उत्तर प्रदेश तथा श्री देव बिहारी जी मिश्र आदि अध्यक्ष रह चुके हैं।

अपने अब तक के कार्यकाल में हिन्दी भवन को अनेक राष्ट्रनिर्माताओं से सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला जिसमें प्रमुख निम्न हैं:

श्री जवाहर लाल नेहरू, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित, माननीय श्री मोहनलाल सक्सेना, आचार्य युगुल शोर जी, महामहिम डा० कैलाशनाथ काटजू, माननीय श्री चंद्रभान गुप्त, माननीय श्री केशवदेव मालवीय, ननीय श्री आत्माराम गोविंद खेर, माननीय हाफिज़ मुहम्मद इब्राहीम, माननीय श्री निसारअहमद शेरवानी, ननीय श्री गिरधारी लाल जी, सर जे० पी श्रीवास्तव, सरदार रावबहादुर मा० वि० किबे, श्री ल० ० मुले, श्री चुन्नीलाल साहनी, श्री बी० डी० भडकम्कर, श्री वियोगी हरि जी, श्रीमती उमा नेहरू, श्री नारायण चतुर्वेदी, स्व० राज बहादुर लमगोड़ा, स्व० मन्नीलाल पाण्डे, श्री गोविंद सहाय जी, श्री जगनप्रसाद त, श्री उदय वीर सिंह जी, चौ० लताफत हुसेन, श्री बी० डी० भट्ट विशेषाधिकारी मद्यनिषेध विभाग, श्री विनाथ लाहरी इंस्पेक्टर-जनरल आफ पुलिस, श्री अलगूराय शास्त्री, श्री दामोदर स्वरूप सेठ, श्री र० वि० कर, श्री वि० स० दाँडेकर, श्री पी० एन० राजभोज, श्री बालकृष्ण शर्मा, श्री विश्वम्भर दयाल त्रिपाठी, मोहनलाल गौतम, श्री विचित्र नारायण शर्मा इत्यादि।

हिन्दी भवन है क्या ?

"भवन का मतलब ईंट पत्थर की इमारत नहीं, इसका अर्थ तो उच्च भावनाओं के कायम करने का केंद्र, शिक्षा प्रसार, भ्रातृभाव, प्रेम और देश सेवा के लिए बलिदान का भाव है, जैसाकि देश के सम्मानित सज्जनों के आशीर्वाद से प्रकट होता है। इस नगर को भगवान वेदव्यास जी का नगर कहते हैं उनका कथन है—

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्,
परोपकाराय पुण्याय पापाय पर पीडनम्"

"हमारा देश गरीब दुखी प्रपीड़ित तथा सताया हुआ है। इसके उत्थान के लिए दूसरों के साथ भलाई करना, तथा अत्याचार को मिटाना है। आशा है कि यह संस्था निरक्षरता मिटाने, देश को गरीबी से मुक्त करने की भावना बनाये रखते हुए काम करेगी।"

ये शब्द हैं माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी के, जो उन्होंने हिन्दी भवन का शिलान्यास सम्पन्न करते हु कहे थे, और जिन्हें हिंदी भवन ने मूलमंत्र के रूप में ग्रहण कर लिया है। भवन के कार्यकर्ता इस शु अवसर पर यही कामना करते हैं कि श्री सम्पूर्णानन्द जी शतायु हों और हमारे प्रांत की ही नहीं, सम्पूर्ण भारत की शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में उन्हें अद्वितीय सफलता और भरपूर यश प्राप्त हो।

प्रकाशक की श्रद्धा

इस अभिनन्दन ग्रन्थ की आयोजना के पीछे कोई लम्बा चौड़ा इतिहास नहीं छिपा है। हिन्दी भवन अपने कार्यकाल में समाज एवं साहित्य की जो कुछ भी सेवा कर सका है, श्री सम्पूर्णानन्द जी का उसमें बहुत बड़ा हाथ है। अतः श्री सम्पूर्णानन्द जी का ६० वां जन्म दिवस हिन्दी भवन के लिए एक नई प्रेरणा लाया और इस शुभ अवसर पर अपनी टूटी–फूटी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का हिन्दी भवन ने निश्चय किया।

हिन्दी भवन की बैठक गत २८ फरवरी, १९४९ को योजना पर विचार करने के लिए हुई। इसमें निश्चय किया गया कि माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी को ६० वें जन्म दिवस पर हिन्दी भवन की ओर से अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाये और इसके प्रबंध के लिए निम्न सदस्यों की एक उपसमिति निर्मित की गई:—

(१) चन्द्रभान विद्यार्थी, प्रधान मन्त्री
(२) श्री रामचरन वार्ष्णेय
(३) श्री लल्लूराम चौधरी
(४) ,, गुरुदेव गुप्त
(५) सेठ वृजलाल
(६) ,, चन्द्रशेखर पुरवार
(७) श्री शिवनाथ गुप्त
(८) ,, रामसनेही गोप
(९) श्री मोतीचन्द्र वर्मा, मन्त्री

ज्यों ही हिंदी भवन के निश्चय की घोषणा हुई, कई सज्जनों ने हमें प्रोत्साहन दिया और योजना की सफलता में कोई संदेह उस समय न रहा, जब सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी ने योजना का स्वागत करते हुए ग्रन्थ के सम्पादन का भार स्वीकार कर लिया। श्री चतुर्वेदी जी ने बुन्देलखण्ड सरीखे पिछड़े प्रांत को प्रकाश में लाने के लिए जो अथक परिश्रम किया है, उससे बुन्देलखण्ड के इस साहित्यिक आयोजन का दायित्व ग्रहण करने के वे सर्वथा उपयुक्त थे और हम श्री चतुर्वेदी जी के अत्यन्त आभारी हैं कि उन्होंने हिन्दी भवन के अकिंचन साधनों को जानते हुए भी हमारा विनम्र अनुरोध स्वीकार कर इस कार्य को सम्भाला।

हमारे अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना का स्वागत राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण जी गुप्त ने भी किया। उन्होंने जिस अपनत्व से हमें प्रोत्साहन देते हुए हमारा मार्ग प्रदर्शन किया, उसी का परिणाम है कि हम निराश नहीं हुए। संस्थ, के संरक्षक आदरणीय श्री श्री प्रकाश जी, बाबा राघवदास जी तथा बाबू मूलचन्द्र जी अग्रवाल ने भी हमें प्रोत्साहित किया। श्री चतुर्वेदी जी के अतिरिक्त श्रद्धेय श्री सियाराम शरण जी गुप्त, श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा, श्री गौरी शंकर द्विवेदी तथा बन्धुवर पूर्णचन्द्र गुप्त का सहयोग भी सम्पादक मंडल के रूप में प्राप्त हो गया, जिसके लिए हम इन महानुभावों के आभारी हैं।

जिन विद्वान लेखकों ने अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए अपने लेख भेज कर हमें प्रोत्साहित किया, हम उनके अनुगृहीत हैं। कई लेखकों के लेखों का हम उपयोग न कर सके किन्तु जिस भावना के साथ उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी रचनाएं भेजीं, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। हिन्दी भवन के इस आयोजन के लिए अपने लेखादि भेजकर कई लेखकों ने तो बड़े खतरे काम काम किया। हम स्वयं न समझते थे कि हिन्दी

भवन इतने उच्च कोटि के लेखकों की कृपा प्राप्त कर सकेगा। किन्तु हमें हर्ष और सन्तोष है कि हमारा आयोजन असफल नहीं है। यह साहित्यिक यज्ञ कितना सफल रहा इसका निर्णय तो साहित्य-मनीषियों के हाथ में है।

ग्रन्थ के लिए हमें किसी धनी मानी व्यक्ति विशेष का आर्थिक सहयोग नहीं प्राप्त हुआ—न हम उसकी कामना ही करते थे। "बूंद बूंद कर घट भरे"—की कहावत ही चरितार्थ की गई है। हिन्दी भवन के जिन अनेक कार्यकर्त्ताओं के हृदय में श्री सम्पूर्णानन्द जी के प्रति श्रद्धा है, और जो अपने हिन्दी भवन को सदैव सहयोग देते रहे हैं, वे इस आयोजन में आगे आये और थोड़ा-थोड़ा करके अपनी भेंट अर्पित की। उस सहयोग के फलस्वरूप हम जिस रूप में यह ग्रन्थ प्रकाशित कर सके यह सामने है। श्री कृष्णचन्द्र जी जैन तथा कालपी म्युनिसिपल बोर्ड का सहयोग उल्लेखनीय है। श्री रिजवानुल हसन के भी हम आभारी हैं।

चित्रों के संकलन में हमें श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी, श्री हामिद अली, जिला विद्यालय निरीक्षक, तथा काशी विद्यापीठ से अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ जिसके अभाव में ग्रन्थ अधूरा ही रहता। विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी जी के पत्र हमें काशी विद्यापीठ की ही अनुकम्पा से प्राप्त हो सके। अतः हम इनके आभारी हैं।

लेखों का संकलन फरवरी के दूसरे सप्ताह तक होता रहा उसके बाद छपाई आरम्भ हुई। श्री पूर्णचन्द्र गुप्त तथा श्री गुरुदेव गुप्त ने इस दिशा में जो परिश्रम किया उसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। कम समय में ग्रंथ को सुन्दर रूप देने का प्रयत्न किया गया। फिर भी जो त्रुटि रह गई हो वह क्षम्य है। जाब प्रेस के अध्यक्ष श्रीमूलचन्द्र खन्ना की कृपा के भी हम आभारी हैं। जागरण प्रेस के कार्यकर्त्ता हमारे बधाई के पात्र हैं। जिन अन्य सहयोगियों ने हमें विविध भाति सहयोग प्रदान किया उसके लिए भी हम आभारी हैं।

माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी के प्रति हम किन शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित करें! हमारे भवन का श्री सम्पूर्णानन्द जी के साथ जो सम्बन्ध है उससे उनके सम्बन्ध में अधिक लिखने में हमें संकोच है। श्री सम्पूर्णानन्द जी देश के उन इने गिने रत्नों में हैं जिन्होंने निष्काम भाव से राष्ट्र सेवा में अपने को होम दिया। राजनीति में व्यस्त रहते हुए भी सरस्वती की आराधना में भी पीछे नहीं रहे। साहित्य और संस्कृति के लिए उनकी देन अभिनंदनीय है। ऊपर से देखने में कठोर, शुष्क किंतु अन्दर से अत्यन्त कोमल, श्री सम्पूर्णानन्द जी हिन्दीभवन के कार्यकर्त्ताओं को अपना मानकर सदैव प्रोत्साहित करते रहे हैं। उनका अभिनन्दन हम किस भाति करें—और यह अभिनन्दन भी क्या—

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्प्यते।"

साहित्य सृजन की प्रेरणा तो हमें श्री सम्पूर्णानन्द जी से ही प्राप्त हुई है। माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी के प्रदर्शित मार्ग पर चल कर ही हिन्दी भवन सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकेगा ऐसा हमारा विश्वास है। श्री सम्पूर्णानन्द जी के सम्बंध में अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ में लिखा है अतः अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। हमारी प्रार्थना है कि कृपया इस अच्छी या बुरी भेंट को अपनी जान स्वीकार करें। साथ ही

"होवहु आयुष्मान् यही सत्चित्त से भाखहिं।"

हमें संकोच है कि—

"पाई तुम्हीं से वस्तु जो, कैसे तुम्हें अर्पण करूं?"

विनयावनत :—

कालपी, मोतीचन्द्र वर्मा

बैशाख शुक्ल, २००७ चन्द्रभान विद्यार्थी